श्री सेठिया जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं० १०३

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह

पंचम भाग

(बोल नं० ८२२ से ९०० तक)

संयोजक

भैरोदान सेठिया

प्रकाशक

अगरचन्द भैरोदान सेठिया

जैन पारमार्थिक संस्था

बीकानेर

विक्रम संवत् १९९९ वीर संवत् २४६९	न्योछावर २) रु० ज्ञान खाते मे लगेगा महसूल खर्च अलग	प्रथम आवृत्ति ५००

सेठिया प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर ता० १५-८-४२

卐

श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

पुस्तक प्रकाशन समिति

अध्यक्ष– श्री दानवीर सेठ भैरोदानजी सेठिया

मंत्री—— श्री जेठमलजी सेठिया।

उपमन्त्री– श्री माणकचन्दजी सेठिया, साहित्यभूषण।

लेखक मण्डल

१. श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री M. A. (Previous), शास्त्राचार्य, न्यायतीर्थ, वेदान्तवारिधि।

२. श्री रोशनलाल जैन *B. A., LL. B.*, न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, सिद्धान्ततीर्थ, विशारद।

३. श्री श्यामलाल जैन *M. A.*, न्यायतीर्थ, विशारद।

४. श्री बेचरचन्द्र बाँठिया 'वीरपुत्र' सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरणतीर्थ।

संक्षिप्त विषय सूची

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह पांचवें भाग

के

खर्च का ब्यौरा

कागज १८ × २२ तेतीस रीम २१) रुपये प्रति रीम	६९३)
छपाई ७) प्रति फार्म (आठ पेजी), कुल फार्म ६६	४६२)
जिल्द बधाई ।=) एक प्रति	१८७॥)
	१३४२॥)

ऊपर बताए हुए हिसाब के अनुसार कागज, बाइन्डिङ्ग-क्लोथ, कार्ड-बोर्ड तथा प्रेस की अन्य सब चीजों का भाव बढ़ जाने से एक पुस्तक की लागत करीब २॥=) पड़ी है। ग्रन्थ तैयार कराना, प्रेस कापी लिखाना तथा प्रूफ रीडिङ्ग आदि का खर्च एक पुस्तक पर करीब ३) रुपया आता है। ऊपर का खर्च और यह खर्च दोनों जोड़ने से एक पुस्तक की कीमत करीब ५॥=) पड़ती है। पुस्तक की कीमत लागत मूजिब न रख कर ज्ञान प्रचार की दृष्टि से केवल २) ही रखी गई है, वह भी पुनः ज्ञान प्रचार में ही लगाई जावेगी।

नोट—इस पुस्तक की पृष्ठ संख्या ४९० + ३२ कुल मिला कर ५२२ है। पुस्तक का वजन लगभग १५ छटांक है। एक पुस्तक मंगाने में खर्च अधिक पड़ता है। एक साथ पाँच पुस्तकें रेल्वे पार्सल से मंगाने में खर्च कम पड़ता है। मालगाड़ी से मंगाने पर खर्च और भी कम पड़ता है। पुस्तक वी. पी. से भेजी जाती है। कीमत पहले से ही कम रखी गई है इसलिये कमीशन नहीं दिया जाता। पुस्तक मंगाने वाले सज्जनों को अपना पूरा पता (पोस्ट आफिस, रेल्वे स्टेशन आदि) साफ साफ लिखना चाहिए।

पुस्तक मिलने का पता—

(१) पुस्तक प्रकाशन समिति
बूल प्रेस बिल्डिंग्स

(२) अगरचन्द भैरोदान सेठिया
जैन पारमार्थिक संस्था

बीकानेर (राजपूताना)

स्वर्गीय श्रीमान् सेठ अगरचन्दजी सेठिया
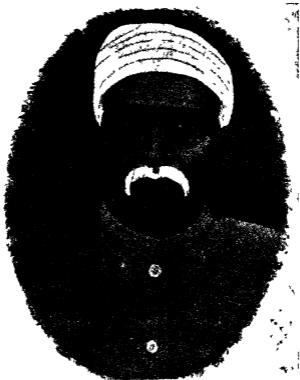
जन्म—श्रावण शुक्ला नवमी
१९१३ वि०

स्वर्गवास—चैत्र कृष्णा एकादशी
१९७८ वि०

श्रीमान् दानवीर सेठ अगरचन्दजी सेठिया
का
संक्षिप्त जीवन-परिचय

विक्रम संवत् १९१३ सावण सुदी ९ रविवार के दिन सेठ साहेब का जन्म हुआ था। आपको हिन्दी, वाणिका आदि की साधारण शिक्षा मिली थी। साधारण शिक्षा पाकर आप व्यापार में लग गये। भारत के प्रमुख नगर बम्बई और कलकत्ते में आपने व्यापार किया। व्यापार में आपको खूब सफलता मिली और आप लक्ष्मी के कृपापात्र बन गये। धन पाकर आपने उसका सदुपयोग भी किया। आप उदारता पूर्वक धर्म-कार्यों में अपनी सम्पत्ति लगाते थे और दीन एवं असमर्थ भाइयों की सहायता करते थे।

धर्म के प्रति आपकी रुचि बचपन से ही थी और वह जीवन में उत्तरोत्तर बढ़ती रही। आपका स्वभाव कोमल एवं सहानुभूतिपूर्ण था। परहित साधन में आप सदा तत्पर रहते थे। आपका जीवन सादा एवं उच्च विचारों से पूर्ण था। आपने श्रावक के व्रत अङ्गीकार किए थे और जीवन भर उनका पालन किया। आपने धर्मपत्नी के साथ शीलव्रत भी धारण किया था। आपके खंध के सिवाय और भी त्याग प्रत्याख्यान थे।

आपने अपने छोटे भाई सेठ भैरोदानजी साहेब के ज्येष्ठ पुत्र जेठमलजी साहेब को गोद लिया। उन्हें विनीत और व्यापारकुशल देख कर आपने

व्यावहारिक कार्य उन्हे सौंप दिया। इस प्रकार निवृत्त होकर आप वृद्धावस्था मे निश्चिन्त होकर शान्तिपूर्ण धार्मिक जीवन बिताने लगे।

समाज मे शिक्षा की कमी को आपने महसूस किया। अपने लघु भ्राता के साथ आपने इस सम्बन्ध मे विचार किया। फलस्वरूप दोनो भाइयो की ओर से 'श्री अगरचन्द भैरोंदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था' की स्थापना हुई। संस्था की व्यवस्था एव कार्य संचालन के लिए आपने अपने छोटे भाई साहेब को तथा चिरंजीव जेठमलजी को आज्ञा प्रदान की। तदनुसार दोनो साहेबान सुचारु रूप से संस्था का सचालन कर रहे हैं। संस्था के अन्तर्गत अभी बाल-पाठशाला कन्या-पाठशाला, विद्यालय, कालेज, लायब्रेरी, पुस्तक-प्रकाशन-समिति ये विभाग कार्य कर रहे हैं। संस्था का सन १९४१ ई० का कार्य विवरण पाठक आगे पढ़ेगे।

इस प्रकार सुखी और धार्मिक जीवन बिता कर चैत बदी ११ सम्वत् १९७८ का सेठ साहेब शुद्धभाव से आलोयणा और खमत खामणा करके इस असार देह का त्याग कर स्वर्ग पधारे।

ता० १५-८-४२
बीकानेर

मास्टर शिवलाल देवचन्द सेठिया
अध्यापक
सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था

श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

अज्ञानं तमसां पतिं विदलयन् सत्यार्थमुद्भासयन् ।
भ्रान्तान् सत्पथ दर्शनेन सुखदे मार्गे सदा स्थापयन् ॥
ज्ञानालोक विकासनेन सततं भूलोकमालोकयन् ।
श्रीमद्भैरवदानमानपदवी पीठः सदा राजताम् ॥

श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

की

संक्षिप्त वार्षिक रिपोर्ट

(तारीख १ जनवरी से ३१ दिसम्बर सन् १९४१ तक)

बाल पाठशाला

इस विभाग की ओर से बालकों को हिन्दी, अंग्रेजी, धर्म, गणित, वाणिका, इतिहास, भूगोल और स्वास्थ्य आदि की शिक्षा दी जाती है। पाठशाला में नीचे लिखी छः कक्षाएं हैं—

(१) जूनियर (ए)	(४) इन्फैन्ट
(२) जूनियर (बी)	(५) प्राइमरी
(३) सीनियर	(६) अपर प्राइमरी

इस वर्ष रतलाम बोर्ड की धार्मिक परीक्षाओं में निम्न लिखित विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए—

परीक्षा नाम	विद्यार्थी नाम
प्रवेशिका प्रथम खण्ड	भंवरलाल मथेरण
साधारण परीक्षा	मूलचन्द गोलछा
	भंवरलाल नाहटा
	झंवरलाल नाहटा

पाठशाला में छात्रों की संख्या १४५ से २०३ तक रही। औसत उपस्थिति ६९ प्रतिशत और परीक्षा परिणाम ७२ प्रतिशत रहा।

विद्यालय विभाग

इस विभाग में धर्मशास्त्र, हिन्दी संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी आदि की उच्च शिक्षा दी जाती है। इस वर्ष पंजाब युनिवर्सिटी की हिन्दी परीक्षाओं में निम्न लिखित विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए—

हिन्दी प्रभाकर	कबीरचन्द वैद
,, ,,	कृष्णवल्लभ शर्मा कौशिक
हिन्दी भूषण	मोतीचन्द खजांची
हिन्दी रत्न	जगदम्बाप्रसाद भटनागर
,, ,,	श्यामलाल शर्मा गौड़
,, ,,	काशीराम स्वामी
,, ,,	नारायणचन्द्र यति
,, ,,	लूणकरण गुप्ता

श्री कन्हैयालाल दक बंगाल संस्कृत एसोसिएशन की न्यायतीर्थ परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

श्री रत्नकुमार महता इस वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की साहित्यरत्न द्वितीय खण्ड की परीक्षा में सम्मिलित हुए।

इस वर्ष विद्यालय, विभाग की ओर से पण्डितों ने जाकर ४ सन्त और १७ सतियों को हिन्दी, संस्कृत धर्मशास्त्र, न्याय आदि का अध्ययन कराया।

नाइट कालेज

इस विभाग से आगरा, पंजाब युनिवर्सिटी तथा राजपूताना बोर्ड की मेट्रिक, एफ० ए०, बी० ए० की गतवर्ष की तरह तय्यारी कराई गई। कालेज की ओर से परीक्षा में सम्मिलित हुए विद्यार्थियों का परीक्षा परिणाम इस प्रकार है—

बी० ए० में ७ में से एक, एफ० ए० में ५ में से ४ और मेट्रिक में १४ में से ११ पास हुए।

यह उल्लेख करते हुए हमें हर्ष होता है कि इस वर्ष इस विभाग के अन्तर्गत एम० ए० (इंग्लिश) की क्लास खोली गई है।

गत वर्ष प्रारंभ की गई सङ्केतलिपि (शार्ट हैण्ड) की क्लास का सेशन अप्रेल तक चलता रहा। सेशन के अन्त में कालेज की ओर से परीक्षा ली गई। परीक्षा में निम्न लिखित विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए—

श्री माणकचन्द सेठिया

श्री मोहनलाल सेठिया

श्री विश्वेश्वर गोस्वामी
श्री बटुक प्रसाद ग स्वामी
श्री हरिकृष्ण गोस्वामी
श्री मगनमल गुलगुलिया
श्री चादरत्न ज शी

गत वर्ष श्री रोशनलालजी चपलोत बी० ए० न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, सिद्धान्तशास्त्री, विशारद को एल एल० बी० का अध्ययन करने के लिए सस्था की ओर से इन्दार भेजा गया था। वे एल एल० बी० की प्रिवियस परीक्षा मे प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हुए और उन्हे इस वर्ष एल एल० बी० फाइनल का अध्ययन करने के लिए भी वहीं भेजा गया।

कन्या पाठशाला

इस पाठशाला मे कन्याओ को हिन्दी गणित, धामिक आदि विषयों की शिक्षा दी जाती है तथा सिलाई और कशीदे का काम भी सिखाया जाता है। कन्याओ की सख्या ४६ से ६२ तक रही। औसत उपस्थिति ५९ प्रतिशत और परीक्षापरिणाम ८१ प्रतिशत रहा।

समाज सेवा

श्री श्वे० सा० जैन हितकारिणी सस्था का आफिस सम्बन्धी काम सदा क तरह इस विभाग से भुगताया गया तथा अन्य आवश्यक सामाजिक पत्र व्यवहार भ इस विभाग से होता रहा।

श्री अमरचदजी दौलतरामजी बोथरा द्वारा श्वे० स्थानकवासी श्री सघ का दिये गये मकान की मरम्मत भी इसी विभाग के द्वारा कराई गई।

उपहार विभाग

इस वर्ष भी गत वर्षों की तरह इस विभाग की ओर से १०९) के श्री जैन सिद्धान्त बाल सग्रह और २७॥=)॥ की अन्य पुस्तकें भेट दी गई।

प्रिन्टिंग प्रेस

इस वर्ष प्रेस का कार्य बहुत सुन्दर रीति से चलता रहा। अपनी संस्था की पुस्तको के अतिरिक्त बाहर की पुस्तकें आदि भी प्रकाशित होती रहीं और प्रेस के कर्मचारियो मे भी वृद्धि हुई।

शास्त्र भण्डार (लायब्रेरी)

इस वर्ष हिन्दी, अंग्रेजी, धर्मशास्त्र, संस्कृत और जर्मन साहित्य आदि भिन्न भिन्न विषयो की ७५८ उपयोगी पुस्तकें खरीदी गई। १०१ सदस्यों ने २३७५ पुस्तकों का अध्ययन करके लाभ उठाया।

वाचनालय

इस विभाग में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक कई पत्र पत्रिकाएं आती हैं।

ग्रन्थ प्रकाशन विभाग

इस वर्ष निम्न लिखित पुस्तके प्रकाशित हुईं–

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह द्वितीय भाग।

श्री जैन सिद्धान्त बोलसंग्रह तृतीय भाग।

नवीन स्तवन संग्रह।

ज्ञानोपदेश इकावनी।

आनुपूर्वी और उसके कण्ठस्थ करने की विधि।

पंच कल्याणक टोप दूसरी आवृत्ति।

ज्ञानोपदेश भजन संग्रह।

संस्थाओं के प्रबंध के लिए एक कमेटी बनी हुई है जिसमें नीचे लिखे अनुसार पदाधिकारी तथा सदस्य हैं–

सभापति— श्रीमान् दानवीर सेठ भैरोंदानजी सेठिया

मन्त्री— श्रीमान् जेठमलजी सेठिया

उपमन्त्री— श्रीमान् बाबू माणकचन्दजी सेठिया

सदस्य — १ श्रीमान् सेठ कनीरामजी बाँठिया
२ श्रीमान् महता बुधसिंहजी वैद
३ श्रीमान् सेठ खूबचन्दजा चण्डालिया (आडिटर)
४ श्रीमान् पानमलजो सेठिया
५ श्रीमान् मगनमलजो कोठारी (आडिटर)
६ श्रीमान् गोविन्दरामजो भनसाली
७ श्रीमान् जुगराजजी सेठिया (आडिटर)

श्रा सेठिया संस्थाओं का १९४१ का स्टाफ

(१) श्री मास्टर शिवलालजी सेठिया
(२) श्री शम्भूदयालजी सक्सेना साहित्यरत्न
३) श्री माणकचन्द्रजी भट्टाचार्य्य एम. ए. बो. एल.
(४) श्री शिवकाली सरकार एम. ए.
(५) श्री ज्योतिषचन्द्र घोष एम. ए.
(६) श्री श्यामलालजी एम. ए. , न्यायतीर्थ, विशारद
(७) श्री बालकृष्णजी एम. ए.
(८) श्री इन्द्रचन्द्रजी शास्त्रो, बी. ए. वेदान्तवारिधि, शास्त्राचार्य्य, न्यायतीर्थ
(९ श्री रोशनलालजी चपलोत बी. ए. न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, सिद्धान्त-तीर्थ, विशारद
(१०) श्री खुशीरामजी बनोट बी. ए. एल एल. बी
(११) श्री घेवरचन्द्रजो बाँठिया 'वीरपुत्र' सिद्धान्त-शास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरण तीर्थ
(१२) श्री पं० सच्चिदानन्दजी शर्मा शास्त्री
(१३) श्री धर्मसिहजी वमो शास्त्री, विशारद
(१४) श्री पं० सुबोधनारायणजो झा व्याकरणाचार्य
(१५) श्री पं० इन्द्रनारायणजी झा व्याकरणाचार्य
(१६) श्री पं० हनुमानप्रसादजी साहित्य शास्त्रो
(१७) श्री कानमलजो कोठारी न्यायतीर्थ
(१८) श्री कन्हैयालालजी दक न्याय तीर्थ

(१९) श्री पारसमलजी नाहर व्याकरणतीर्थ
(२०) श्री राजकुमारजी जैन हिन्दी प्रभाकर
(२१) श्री भीखमचन्दजी सुराणा हिन्दी प्रभाकर
(२२) श्री रत्नकुमारजी 'रत्नेश'
(२३) श्री मदनकुमारजी महता विशारद
(२४) " हुकमचन्दजी जैन
(२५) " फकीरचन्दजी पुरोहित
(२६) " रुगलालजी महात्मा
(२७) " रामकृष्णजी व्यास
(२८) " नन्दलालजी व्यास
(२९) " किसनलालजी व्यास
(३०) " भीमराजजी माल्ह
(३१) " मूलचन्दजी सिपाणी
(३२) " पानमलजी आसाणी
(३३) " मगनमलजी गुलगुलिया
(३४) " मीनाराम माली

कन्या पाठशाला

श्री राम प्यारी बाई
" गौरा बाई
" भगवती बाई
श्री फूली बाई
" रतन बाई
" गुलाब बाई

सेठिया प्रिन्टिंग प्रेस

श्री गोपीनाथजी शर्मा
" मगनमलजी गुलगुलिया
" मेघराजजी मथेरण
" गुलाम नबी
" मुरलीधर शुक्ल
" शमशुद्दीन
" गुल्लु खां
श्री फूसराजजी सिपाणी
" रतनलालजी सुराणा
" मूलसिंहजी राजपूत
" खुदाबक्स दफ्तरी
" सरदारसिंह
" जयरामजी

आय व्यय का संक्षिप्त विवरण

१८८८६≡) कलकत्ते के मकानों का किराया

९५९॥=) व्याज

३७६)॥। जसकरण मेमोरियल फण्ड की आय

२०२२१॥।-)॥।

१७४२४॥=) श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्थाओ मे लायब्रेरी, बालपाठशाला विद्यालय. कन्या पाठशाला, नाइट कालेज, समाज सेवा तथा संस्था के मकानों की मरम्मत वगैरह मे खर्च हुए ।

६८१।=)॥। श्री सेठिया प्रिन्टिग प्रेस मे टूटते रहे

१०५।≡)॥ दीक्षा उपकरण मे लगे

१८२१२)

२००९॥।-)॥। श्री वृद्धि खाते

२०२२१॥।-)॥।

दो शब्द

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह का पांचवां भाग पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इसमे १४ से लेकर १९ तक छः बोल संग्रह दिये गये हैं। चौदह राजू परिमाण लोक का स्वरूप, चौदह गुणस्थान, बिनीत के पन्द्रह लक्षण, पन्द्रह कर्मादान, चन्द्रगुप्त राजा के सोलह स्वप्न, सोलह सती चरित्र, श्रावक के सतरह लक्षण, शरीर के सतरह द्वार, गतागत के अठारह द्वार, अठारह पापस्थानक, साधु के अठारह कल्प, पौषध के अठारह दोष, कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष, ज्ञातासूत्र की उन्नीस कथाएं आदि इस भाग की विशेषता हैं। सोलह सतियों का चरित्र पर्याप्त विस्तार के साथ लिखा गया है। आशा है पाठकों को ये बातें पसन्द आएंगी।

पुस्तक छप जाने के बाद जो अशुद्धियाँ हमारी दृष्टि में आईं उन्हे हाथ से सुधार दिया गया है। इसलिए इस भाग में भी अलग शुद्धिपत्र देने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

छठा भाग तैयार हो रहा है। वह भी यथासंभव शीघ्र ही पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जायगा।

निवेदक

पुस्तक प्रकाशन समिति

आभार प्रदर्शन

जैनधर्म दिवाकर पण्डितप्रवर उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज तथा शास्त्रज्ञ मुनि श्री पन्नालाल जी महाराज ने यथासम्भव बोलों का निरीक्षण करके अपनी अमूल्य सम्मतियाँ दी हैं। यथास्थान संशोधन या सूचना करके पुस्तक को उपयोगी बनाने में पूरा परिश्रम उठाया है। इसके लिए हम और पुस्तक से लाभ उठाने वाले सभी सज्जन इनके सदा आभारी रहेंगे।

परमप्रतापी जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज तथा युवाचार्य मुनि श्री गणेशीलालजी महाराज के अपनी विद्वान् शिष्य मण्डली के साथ बीकानेर या भीनासर विराजने से भी हमें बहुत लाभ प्राप्त हुआ है। मुनि श्री सिरेमलजी महाराज तथा मुनि श्री जंवरीमलजी महाराज ने भी बोलों को शुद्ध, प्रामाणिक और अधिक उपयोगी बनाने में पूरा सहयोग दिया है। इसके लिए हम उनके सदा ऋणी रहेंगे।

१४ अगस्त १६४१
बीकानेर

पुस्तक प्रकाशन समिति

प्रमाण के लिए उद्धृत ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ नाम	कर्त्ता	प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान
अनयोगद्वार सूत्र	मलधारी हेमचन्द्र सूरि	आगमादय समिति सूरत।
आचारांग सूत्र	शीलाकाचार्य टीका।	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति सूरत।
आवश्यक चूर्णि	भद्रबाहुस्वामिकृत जिनदास गणिकृत निर्युक्ति सहित,	ऋषभदेव केसरीमल श्वेताम्बर संस्था रतलाम।
आवश्यक निर्युक्ति	मलयगिरि सूरि टीका	आगमोदय समिति सूरत।
उत्तराध्ययन सूत्र	शान्तिसूरि बृहद्वृत्ति।	आगमोदय समिति सूरत।
उपासक दशाङ्ग	अभयदेव सूरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
औपपातिक सूत्र	अभयदेव सूरि टीका	आगमोदय समिति सूरत।
कर्मग्रन्थ (पहला, दूसरा, चौथा)	देवेन्द्र सूरि विरचित पं० सुखलालजी कृत हिन्दी व्याख्या सहित।	आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रकाशक मण्डल आगरा।
कर्म प्रकृति	शिवाचार्य प्रणीत, उपाध्याय श्री यशोविजय विरचित सटीक	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर।

चन्द्रप्रज्ञप्ति	शान्तिचन्द्र गणि विरचित वृत्ति।	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था बम्बई।
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	शान्तिचन्द्र गणि विरचित वृत्ति।	देवचन्द्र लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था बम्बई।
ज्ञाताधर्मकथांग	अभयदेव सूरि टीका	आगमोदय समिति सूरत।
ज्ञाताधर्मकथांग	शास्त्री जेठालाल हरिभाई कृत गुजराती अनुवाद।	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर।
ठाणांग सूत्र	अभयदेव सूरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
तत्त्वार्थसूत्र भाष्य	श्री उमास्वाति कृत।	मोतीलाल लाधाजी पूना।
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र	हेमचन्द्राचार्य	जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर।
दशवैकालिक	मलयगिरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
धर्मबिन्दु	हरिभद्राचार्य कृत, मुनिचन्द्राचार्यविहित वृत्तियुक्त	आगमोदय समिति सूरत।
धर्म संग्रह	श्रीमन्मानविजय महोपाध्यायप्रणीत यशोविजय टिप्पणी सहित।	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था बम्बई।
नन्दी सूत्र	मलयगिरि टीका	आगमोदय समिति सूरत।
पंचाशक	हरिभद्र सूरि विरचित अभयदेव सूरि टीका।	जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर
पिण्डनिर्युक्ति	मलयगिरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
पिण्डविशुद्धि	श्रीजिनवल्लभ गणि कृत चन्द्रसूरि कृत टीका।	विजयानन्द जैन ग्रन्थमाला सूरत।
प्रज्ञापना सूत्र	मलयगिरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
प्रज्ञापना सूत्र	पं० भगवानदास हर्षचन्द्र कृत गुजराती अनुवाद।	जैन सोसाइटी अहमदाबाद।
प्रवचनसारोद्धार	नेमचन्द्र सूरि कृत सिद्धसेन शेखर वृत्तिसहित	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था बम्बई।

बृहत्कल्प	मलयगिरि और आचार्य क्षेमकीर्ति कृत वृत्ति सहित।	आत्मानन्द जैन सभा भावनगर।
भगवती सूत्र	अभयदेव सूरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
राजीमती	पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज कृत	हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम
विशेषावश्यक भाष्य	मलधारी हेमचन्द्र बृहद् वृत्ति	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस
व्यवहार चूलिका	हस्तलिखित टब्बा	
श्रावक के चार शिक्षाव्रत	पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज कृत	हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम
सती चन्दनबाला (वसुमती)	पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज कृत।	हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम
समवायांग	अभयदेव सूरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
सूत्रकृताङ्ग	शीलांकाचार्य कृत टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
हरिभद्रीयावश्यक	हरिभद्र सूरि कृत टीका भद्रबाहुनिर्युक्ति तथा भाष्य युक्त	जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर।

विषय सूची

अकाराद्यनुक्रमणिका

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह

पञ्चम भाग

मंगलाचरण

ऐन्द्रश्रेणिनताय दोषहुतभुङ्नीराय नीरागता-
धीराजद्भिभवाय जन्मजलधेस्तीराय धीरात्मने ।
गम्भीरागमभाषिणे मुनिमनोमाकन्दकीराय सन्
नासीराय शिवाध्वनि स्थितिकृते वीराय नित्यं नमः॥१॥
कुर्वाणाणुपदार्थदर्शनवशाद्भास्वत्प्रभायास्त्रपा-
मानत्या जनकृत्तमोहरत मे शस्तादरिद्रोहिका।
अक्षोभ्या तव भारती जिनपते प्रोन्मादिनां वादिनां,
मानत्याजनकृत्तमोहरतमेश स्तादरिद्रोहिका॥ २ ॥

भावार्थ– देवेन्द्र, असुरेन्द्र और मनुजेन्द्रों की श्रेणी द्वारा वन्दित, राग द्वेष आदि दोष रूपी अग्नि को शान्त करने के लिए जल स्वरूप, वीतरागता रूपी परमैश्वर्य से सुशोभित, संसार रूपी समुद्र के लिए तीर, परमधीर, गम्भीर, आगमों का उपदेश देने वाले, मुनियों के मन रूपी आम्र वृक्ष पर बसने वाले कीर अर्थात् शुक पक्षी, मोक्ष मार्ग में सब से आगे चलने वाले सैनिक और तीर्थों की स्थापना करने वाले भगवान् महावीर को सदा वन्दन हो॥ १ ॥

भक्तिपूर्वक प्रणाम करने वालों के मोह को काटने वाले, हे जिनेश्वर देव! जीवादि सूक्ष्म पदार्थों की प्रकाशिका होने से सूर्य के तेज को लज्जित करने वाली, कल्याण को देने वाली, गहन तर्क और युक्तियों से गुँथी हुई, सत्य वस्तु को प्रकट करने वाली होने से सर्वत्र अप्रतिहत, प्रतिवादियों के गर्व का नाश करने वाली तथा अज्ञान के अन्धकार को दूर करने वाली आपकी वाणी मेरे बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे।

चौदहवाँ बोल संग्रह

८२२- श्रुतज्ञान के चौदह भेद

श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाले शास्त्रों के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। नन्दी सूत्र में मतिज्ञान के पश्चात् इसका वर्णन किया गया है।

चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, द्रव्यानुयोग और गणितानुयोग की सारी बातें श्रुतज्ञान में आ जाती हैं। इसके चौदह भेद हैं-

(१) अक्षर श्रुत (२) अनक्षर श्रुत (३) सञ्ज्ञि श्रुत
(४) असञ्ज्ञि श्रुत (५) सम्यक् श्रुत (६) मिथ्या श्रुत
(७) सादि श्रुत (८) अनादि श्रुत (९) सपर्यवसित श्रुत
(१०) अपर्यवसित श्रुत (११) गमिक श्रुत (१२) अगमिक श्रुत
(१३) अङ्गप्रविष्ट श्रुत (१४) अङ्गबाह्य श्रुत।

(१) अक्षर श्रुत- जिस का कभी क्षरण (नाश) न हो उसे अक्षर कहते हैं। जीव उपयोग स्वरूप वाला होने से ज्ञान का कभी नाश नहीं होता। इस लिए यहाँ ज्ञान ही अक्षर है। ज्ञान का कारण होने से औपचारिक नय से अकारादि वर्ण भी अक्षर कहे जाते हैं। अक्षर रूप श्रुत को अक्षर श्रुत कहते हैं। इसके तीन भेद हैं- (१) सञ्ज्ञाक्षर (२) व्यञ्जनाक्षर (३) लब्ध्यक्षर। क, ख वगैरह आकारों का क, ख नाम रखना सञ्ज्ञाक्षर श्रुत है क्योंकि इन आकारों के द्वारा अक्षरों का ज्ञान होता है। ब्राह्मी आदि लिपियों के भेद से यह अनेक प्रकार का है। क, ख आदि का उच्चारण करके अक्षरों को व्यक्त करना व्यञ्जनाक्षर है। लब्धि अर्थात्

उपयोग रूप अक्षर (ज्ञान) को लब्ध्यक्षर कहते हैं। यहाँ श्रुतज्ञान का प्रकरण होने से भाव श्रुत रूप ज्ञान समझना चाहिए अथवा अक्षर का उच्चारण करके जिस अर्थ की उपलब्धि होती है वह लब्ध्यक्षर है। किसी शब्द को सुनने के बाद इन्द्रिय और मन द्वारा उसका अर्थ समझ लेने पर शब्द के अनुसार अर्थ का जो ज्ञान होता है वह लब्ध्यक्षर श्रुत है। पाँच इन्द्रिय तथा मन के द्वारा जानने के बाद लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होने से इसके छः भेद हैं।

(२) अनक्षर श्रुत– अक्षरों के बिना शरीर की चेष्टा आदि से होने वाला ज्ञान अनक्षर श्रुत है। जैसे– लम्बे और भारी साँस लेने से दूसरे के मानसिक दुःख आदि का ज्ञान होता है। अनक्षर श्रुत में शरीर की ऐसी चेष्टा ही ली जाती हैं जो श्रोत्र इन्द्रिय का विषय हो। हाथ वगैरह के इशारे इस में नहीं लिए जाते। अनक्षर श्रुत के कई भेद हैं। जैसे– साँस लेना, साँस छोड़ना, थूकना, खाँसना आदि। इन चेष्टाओं में अक्षरों का उच्चारण न होते हुए भी अव्यक्त ध्वनि होती है।

(३) सञ्ज्ञि श्रुत– सञ्ज्ञा अर्थात् सोचने विचारने की शक्ति जिस जीव में हो उसे सञ्ज्ञी कहते हैं। सञ्ज्ञी के लिए बताए गए श्रुत को सञ्ज्ञि श्रुत कहते हैं। सञ्ज्ञी के तीन भेद हैं– कालिक्युपदेश संज्ञी, हेतूपदेश संज्ञी और दृष्टिवादोपदेश संज्ञी।

जिस प्राणी के ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श हो उसे कालिक्युपदेश सञ्ज्ञी कहते हैं। ईहादि का स्वरूप नीचे लिखे अनुसार है–

ईहा– वस्तु के यथार्थ विचार को ईहा कहते हैं।

अपोह– वस्तु का निश्चय करना अपोह है।

मार्गणा– अन्वय धर्म अर्थात् जिसके रहने पर किसी वस्तु की सत्ता सिद्ध की जा सके, उसे मालूम करना मार्गणा है।

गवेषणा–व्यतिरेकधर्म अर्थात् जिसके रहने पर किसी वस्तु का अभाव सिद्ध किया जा सके, उसकी पर्यालोचना करना गवेषणा है।

चिन्ता– यह कार्य पहले कैसे हुआ, अब कैसे करना चाहिए, भविष्य में कैसे होगा इत्यादि विचार को चिन्ता कहते हैं।

विमर्श–यह इसी तरह ठीक है, वह ऐसे ही हुआ था, इसी प्रकार वह होगा, इस प्रकार वस्तु के ठीक ठीक निर्णय को विमर्श कहते हैं।

मन पर्याप्ति वाले गर्भज मनुष्य आदि तथा औपपातिक जन्म वाले देव आदि ही ईहादि क्रम से दीर्घ काल का विचार करने वाले होते हैं। वे ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों का विचार कर सकते हैं। इस लिए वे ही सञ्ज्ञी हैं। इस प्रकार की सञ्ज्ञा वाला आँखों देखे की तरह मन से सोचे हुए तीनों कालों के पदार्थों को भी स्पष्ट रूप से जान लेता है। जिस जीव के ईहादि नहीं हैं वह असञ्ज्ञी कहलाता है। सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा एकेन्द्रिय जीव असञ्ज्ञी होते हैं। इनमें मनोलब्धि उत्तरोत्तर कम होती है इस लिए ये पदार्थ को भी अस्फुट रूप से जानते हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय की अपेक्षा सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय अस्फुट जानता है, उससे कम चौरिन्द्रिय, उससे कम तेइन्द्रिय, उससे कम बेइन्द्रिय और उससे कम एकेन्द्रिय जानता है। उन में स्पष्ट रूप से कोई मन नहीं होता। केवल अस्पष्ट और बहुत अल्प मन होता है जिससे उन्हें अस्पष्ट रूप से आहार आदि संज्ञाएं होती हैं। जिस जीव में आगे पीछे तथा अपना हित अहित सोचने की शक्ति है वही संज्ञी कहा जाता है। सामान्य इच्छा मात्र से कोई संज्ञी नहीं कहा जा सकता।

हेतूपदेश संज्ञी– जो प्राणी बुद्धिपूर्वक अपने शरीर आदि की रक्षा के लिए इष्ट आहार आदि में प्रवृत्त होता है तथा अनिष्ट से निवृत्त होता है वह हेतूपदेश संज्ञी है। इस प्रकार के संज्ञी बेइन्द्रिय

आदि जीव भी हैं। इष्ट विषय में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति मन के व्यापार बिना नहीं हो सकती और मन से विचार करना ही संज्ञा है। इस प्रकार का विचार द्वीन्द्रिय आदि जीवों के भी होता है इस लिए वे भी संज्ञी हैं। संज्ञा का हेतु अर्थात् कारण या निमित्त होने के कारण ये हेतूपदेश संज्ञी कहे जाते हैं। कालिक्युपदेश संज्ञी भूत, भविष्यत् आदि लम्बे समय का विचार कर सकता है। हेतूपदेश संज्ञी केवल वर्तमान काल का ही विचार करता है। यही इन दोनों में भेद है। जिसे वर्तमान काल के विषय में भी सोचने की शक्ति नहीं होती वह हेतूपदेश से भी असंज्ञी कहा जाता है। जैसे पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव। एकेन्द्रिय जीवों की कभी विचार पूर्वक इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति तथा अनिष्ट से निवृत्ति नहीं होती। आहार आदि संज्ञाएं भी उनके बहुत अस्पष्ट होती हैं, इस लिए वे संज्ञी नहीं कहे जाते।

दृष्टिवादोपदेश संज्ञी– क्षायोपशमिक ज्ञान वाला सम्यग्दृष्टि जीव दृष्टिवादोपदेश संज्ञी कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग् ज्ञानी होने से रागादि दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता है। जो दोषों को दूर करने का प्रयत्न नहीं करता वह सम्यग्दृष्टि नहीं है क्योंकि जिस तरह सूर्य की किरणों के सामने अन्धेरा नहीं ठहर सकता इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के सामने रागादि दोष नहीं ठहर सकते। इस अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि को असंज्ञी कहा जाएगा।

संज्ञी के तीन भेदों के अनुसार श्रुत के भी तीन भेद हैं। गर्भज संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का श्रुतज्ञान, द्वीन्द्रियादि का श्रुतज्ञान तथा सम्यग्दृष्टि का श्रुतज्ञान। इनमें अन्तिम सम्यग्दृष्टि का श्रुतज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। बाकी मिथ्या है।

(४) असंज्ञिश्रुत– संज्ञिश्रुत से उल्टा असंज्ञिश्रुत है। इसके भी भेदप्रभेद संज्ञिश्रुत के समान जानने चाहिएं।

(५) सम्यक्श्रुत– घाती कर्मों के सर्वथा क्षय होने से उत्पन्न होने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक, संसार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए तीनों लोकों द्वारा आशापूर्ण दृष्टि से देखे गए, महिमा गाये गए और पूजे गए, वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों कालों के ज्ञाता, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अरिहन्त भगवान् द्वारा प्रणीत बारह अंगों वाले गणिपिटक सम्यक्श्रुत हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) आचारांग	(२) सूत्रकृतांग	(३) स्थानांग
(४) समवायांग	(५) भगवती	(६) ज्ञाताधर्मकथाङ्ग
(७) उपासकदशाङ्ग	(८) अन्तकृद्दशाङ्ग	(९) अनुत्तरौपपातिक
(१०) प्रश्न व्याकरण	(११) विपाक सूत्र	(१२) दृष्टिवाद।

इनका विषय 'ग्यारहवें बोल संग्रह के ७७६ वें बोल में दिया है। इसी प्रकार उपाङ्ग सूत्र, मूल सूत्र, छेद सूत्र, आवश्यक सूत्र आदि भी अङ्गों के अनुकूल अर्थ का प्रतिपादन करने से सम्यक्श्रुत हैं। ज्ञानमात्र की विवक्षा करके इन्हें द्रव्यास्तिक नय की अपेक्षा सम्यक् श्रुत कहा जाता है। ज्ञानवान् की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि द्वारा ग्रहण करने पर सम्यक्श्रुत तथा मिथ्यादृष्टि द्वारा ग्रहण करने पर मिथ्याश्रुत हैं।

चौदह पूर्वधारी के द्वारा ग्रहण किए गये आगम सम्यक्श्रुत ही हैं। दस पूर्वधारी द्वारा ग्रहण किए गए भी सम्यक्श्रुत ही हैं। उससे नीचे भजना है अर्थात् कुछ कम दस पूर्वधारी के द्वारा ग्रहण किए गए सम्यक्श्रुत भी हो सकते हैं और मिथ्याश्रुत भी, क्योंकि कुछ कम दस पूर्व तक का ज्ञान मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों को हो सकता है। सम्यग्दृष्टि द्वारा ग्रहण किए जाने पर वे आगम सम्यक्श्रुत हो जाते हैं और मिथ्यादृष्टि द्वारा ग्रहण किए जाने पर मिथ्याश्रुत।

(६) मिथ्याश्रुत– मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से कल्पना किए गए शास्त्र मिथ्याश्रुत हैं। जैसे– घोटकमुख, नाग-सूक्ष्म, शकुनरुत आदि। ये शास्त्र भी मिथ्यादृष्टि के द्वारा मिथ्या

रूप में ग्रहण किए जाने के कारण मिथ्याश्रुत हैं। सम्यग्दृष्टि द्वारा सम्यग्रूप से गृहीत होने पर सम्यग्श्रुत हैं, अथवा जिस मिथ्यादृष्टि के लिए ये सम्यक्त्व का कारण बन जायँ उसके लिए सम्यक्श्रुत ही हैं क्योंकि कुछ मिथ्यादृष्टि इन पुस्तकों से सार तथा मोक्षमार्ग के लिए उपयोगी अंश को ग्रहण करके मिथ्या अंश को छोड़ सकते हैं। वे उसी से संसार की असारता तथा आत्मा की अमरता को जान कर सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(७- ८- ६- १०) सादि, सपर्यवसित, अनादि तथा अपर्यवसित श्रुत– बारह अङ्ग पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित श्रुत हैं। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादि और अपर्यवसित हैं। सम्यक्श्रुत संक्षेप से चार प्रकार का है–

(१) द्रव्य से (२) क्षेत्र से (३) काल से (४) भाव से।

द्रव्य से एक पुरुष की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित (सान्त) है क्योंकि कोई जीव अनादि काल से समकिती नहीं होता। सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद ही उसका श्रुत सम्यक्श्रुत कहा जाता है, अथवा जब वह शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ करता है, तभी सम्यक् श्रुत की आदि होती है। इस लिए एक व्यक्ति की अपेक्षा सम्यक् श्रुत सादि है। एक बार सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर भी मिथ्यात्व आने पर, प्रमाद के कारण, भावों के मलिन होने से, धर्म के प्रति ग्लानि होने से या देवलोक में चले जाने से श्रुतज्ञान विस्मृत हो जाता है, अथवा केवलज्ञान की उत्पत्ति होने से श्रुतज्ञान उसमें समाविष्ट हो जाता है। इस लिए यह सपर्यवसित अर्थात् सान्त है। तीनों काल के पुरुषों की अपेक्षा अनादि, अनन्त है क्योंकि ऐसा कोई समय न हुआ, न होगा जब कोई सम्यक्त्वधारी जीव न हो।

क्षेत्र से पाँच भरत और पाँच ऐरावतों की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित है क्योंकि इन क्षेत्रों में अवसर्पिणी काल में सुषम-

दुषमा के अन्त में और उत्सर्पिणी में दुःषमसुषमा के प्रारम्भ में तीर्थङ्कर भगवान् पहले पहल धर्म, संघ और श्रुत की प्ररूपणा करते हैं उसी समय सम्यक् श्रुत प्रारम्भ होता है। दुषमदुषमा आरे के प्रारम्भ में धर्म, संघ और श्रुत आदि का विच्छेद हो जाने से वह सपर्यवसित है। महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा अनादि और अपर्यवसित है क्योंकि वहाँ तीर्थङ्करों का कभी विच्छेद नहीं होता।

काल से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित है क्योंकि अवसर्पिणी के सुषमदुषमा, दुषमसुषमा और दुषमा रूप तीन आरों में तथा उत्सर्पिणी के दुषमसुषमा और सुषमदुषमा रूप दो आरों में ही सम्यक्श्रुत होता है, दूसरे आरों में नहीं होता इस लिए सादि सपर्यवसित है। नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी की अपेक्षा अनादि अपर्यवसित है। महाविदेह आदि क्षेत्रों में जहाँ सदा एक ही आरे के भाव रहते हैं वहाँ नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी काल कहा जाता है। महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा सम्यक्श्रुत अनादि तथा अपर्यवसित है।

भाव से सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनेश्वरों द्वारा बताए गए व्रत नियम आदि की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि सपर्यवसित है क्योंकि प्रत्येक तीर्थङ्कर अपने समय के अनुसार व्यवस्था करता है। क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा अनादि अपर्यवसित है क्योंकि प्रवाह रूप से क्षायोपशमिक भाव अनादि और अपर्यवसित है। अथवा इस में चार भंग हैं–सादि सपर्यवसित, सादि अपर्यवसित, अनादि सपर्यवसित, अनादि अपर्यवसित। भव्य जीव का सम्यक्त्व सादि सपर्यवसित है। सम्यक्त्व प्राप्ति के दिन उसकी आदि है और फिर से मिथ्यात्व की प्राप्ति हो जाने पर उसका पर्यवसान हो जाता है। दूसरा भंग शून्य है, मिथ्यात्वोदय होने पर सादि सम्यक्त्व का अवश्य पर्यवसान होता है। एक बार सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद जो

मिथ्यात्व आता है वह भी अन्त वाला ही है,क्योंकि जिस जीव को एक बार सम्यक्त्व प्राप्त हो चुकी वह अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में अवश्य मोक्ष जाएगा,इसलिए सादि मिथ्यात्व भी अपर्यवसित नहीं है। तीसरा भंग मिथ्यात्व की अपेक्षा है। भव्य जीव के साथ मिथ्यात्व का सम्बन्ध अनादि होने पर भी सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर छूट जाता है। अभव्य जीव के मिथ्यात्व की अपेक्षा चौथा भंग है। उसका मिथ्यात्व अनादि भी है और अपर्यवसित भी है।

(११) गमिक श्रुत– आदि, मध्य और अवसान में थोड़े से हेर फेर के साथ जिस पाठ का बार बार उच्चारण किया जाता है, उसे गमिक कहते हैं, जैसे दृष्टिवाद वगैरह अथवा उत्तराध्ययन के दसवें अध्ययन की गाथाओं में 'समयं गोयम मा पमायए' का बार बार उच्चारण किया गया है।

(१२) अगमिक श्रुत– गमिक से विपरीत शास्त्र को अगमिक कहते है, जैसे आचारांग आदि।

(१३) अङ्गप्रविष्ट– पुरुष के बारह अंग होते हैं– दो पैर, दो जंघाएं, दो उरु, दो गात्रार्द्ध (पसवाड़े), दो बाहें, ग्रीवा और सिर। श्रुत रूप पुरुष के भी आचारांग आदि बारह अंग हैं। जो शास्त्र इन अंगों में आगए हैं वे अंगप्रविष्ट कहे जाते है। इनका संक्षिप्त विषय परिचय बारहवें बोल संग्रह बोल नं० ७७७ में दिया गया है।

(१४) अङ्ग बाह्य–बारह अंगों के सिवाय जो शास्त्र हैं वे अंग-बाह्य हैं। अथवा जो जो मूल भूत शास्त्र गणधरों द्वारा रचे गए हैं वे अंगप्रविष्ट हैं, क्योंकि गणधर ही मूल आचार आदि की रचना करते हैं, सर्वोत्कृष्ट लब्धि वाले होने से वे ही मूल शास्त्र रचने में समर्थ होते हैं। अंगों के अनुसार श्रुतस्थविरों द्वारा रचे गए शास्त्र अंग बाह्य हैं अथवा जो आचारादि श्रुत सभी क्षेत्र तथा सभी कालों में एक सरीखे अर्थ और क्रम वाला है वह अंगप्रविष्ट है। बाकी

श्रुत जो समय और क्षेत्र के अनुसार बदलता रहता है वह अंगबाह्य श्रुत है। अंग बाह्य श्रुत के दो भेद हैं- आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त। जिस शास्त्र में साधु के लिए अवश्य करने योग्य बातें बताई हों वह आवश्यक श्रुत है अथवा अवश्य करने योग्य क्रियाओं का अनुष्ठान करना आवश्यक है,अथवा जो आत्मा को अपने गुणों के वश (अधीन) करे वह आवश्यक है। आवश्यक के छः भेद हैं- सामायिक, चउवीसत्थव, वन्दना, प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान।

आवश्यक व्यतिरिक्त के दो भेद हैं-कालिक और उत्कालिक। जो सूत्र दिन अथवा रात के पहले या पिछले पहर में ही पढ़ा जाता है उसे कालिक कहते हैं। जिस शास्त्र के पढ़ने में समय का कोई बन्धन नहीं है उसे उत्कालिक कहा जाता है। कालिक के भेद आगे दिए जाएंगे। उत्कालिक के अनेक भेद हैं- दशवैकालिक, कल्पाकल्प, कल्पश्रुत, क्षुद्रकल्पश्रुत, महाकल्प श्रुत, औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, महाप्रज्ञापना, प्रमादाप्रमाद, नन्दी, अनुयोगद्वार, देवेन्द्रस्तव, तन्दुल वैयालिक, चन्द्रविद्याक, सूर्यप्रज्ञप्ति,पोरिसीमण्डल,मंडलप्रवेश,विद्याचरण विनिश्चय,गणिविद्या, ध्यानविभक्ति, मरणविभक्ति, आत्मविशुद्धि, वीतराग श्रुत, संलेखना श्रुत, विहारकल्प,चरणविधि, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान इत्यादि।

कालिक श्रुत भी अनेक प्रकार का है- उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ, ऋषिभाषित, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, क्षुद्रक विमान प्रविभक्ति,महती विमान प्रविभक्ति, अंगचूलिका,वर्ग चूलिका, विवाह चूलिका, अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुड़ोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलंधरोपपात, देवेन्द्रोपपात, उत्थानश्रुत, समुप-

स्थान श्रुत, नागपरिज्ञा, निरयावलिका, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिता, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा आदि सभी कालिक श्रुत हैं। इनके सिवाय प्रकीर्णक भी इन्हीं में गिने जाते हैं। भगवान् ऋषभदेव के समय ८४ हजार, बीच के तीर्थङ्करों के समय संख्यात हजार और भगवान् महावीर के शासन में चौदह हजार प्रकीर्णक रचे गए। अथवा जिस तीर्थङ्कर के शासन में जितने जितने शिष्य औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी या पारिणामिकी बुद्धि वाले हुए उसके समय में उतने ही प्रकीर्णकसहस्र हुए। प्रत्येकबुद्ध भी उतने ही हुए।

(नन्दी सूत्र, सूत्र ३८–४४) (विशेषावश्यक भाष्य गाथा ४४४–४६६)

८२[illegible]– पूर्व चौदह

तीर्थ का प्रवर्तन करते समय तीर्थङ्कर भगवान् जिस अर्थ का गणधरों को पहले पहल उपदेश देते हैं, अथवा गणधर पहले पहल जिस अर्थ को सूत्र रूप में गूंथते हैं, उन्हें पूर्व कहा जाता है। पूर्व चौदह हैं–

(१) उत्पादपूर्व– इस पूर्व में सभी द्रव्य और सभी पर्यायों के उत्पाद को लेकर प्ररूपणा की गई है। उत्पाद पूर्व में एक करोड़ पद हैं।

(२) अग्रायणीय पूर्व– इस में सभी द्रव्य, सभी पर्याय और सभी जीवों के परिमाण का वर्णन है। अग्रायणीय पूर्व में छयानवे लाख पद हैं।

(३) वीर्यप्रवाद पूर्व– इस में कर्म सहित और बिना कर्म वाले जीव तथा अजीवों के वीर्य (शक्ति) का वर्णन है। वीर्यप्रवाद पूर्व में सत्तर लाख पद हैं।

(४) अस्तिनास्ति प्रवाद– संसार में धर्मास्तिकाय आदि जो वस्तुएँ विद्यमान हैं तथा आकाशकुसुम वगैरह जो अविद्यमान हैं, उन सब का वर्णन अस्तिनास्ति प्रवाद में है। इस में साठ लाख पद हैं।

(५) ज्ञानप्रवादपूर्व– इस में मति ज्ञान आदि ज्ञान के पाँच भेदों का विस्तृत वर्णन है। इस में एक कम एक करोड़ पद हैं।

(६) सत्यप्रवादपूर्व– इस में सत्य रूप संयम या सत्य वचन का विस्तृत वर्णन है। इस में छः अधिक एक करोड़ पद हैं।

(७) आत्मप्रवादपूर्व– इस में अनेक नय तथा मतों की अपेक्षा आत्मा का प्रतिपादन किया गया है। इस में छब्बीस करोड़ पद हैं।

(८) कर्मप्रवादपूर्व– जिस में आठ कर्मों का निरूपण प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश आदि भेदों द्वारा विस्तृत रूप से किया गया है। इस में एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं।

(९) प्रत्याख्यान प्रवादपूर्व– इस में प्रत्याख्यानों का भेद प्रभेद पूर्वक वर्णन है। इस में चौरासी लाख पद हैं।

(१०) विद्यानुप्रवादपूर्व– इस पूर्व में विविध प्रकार की विद्या तथा सिद्धियों का वर्णन है। इस में एक करोड़ दस लाख पद हैं।

(११) अवन्ध्यपूर्व– इस में ज्ञान, तप, संयम आदि शुभ फल वाले तथा प्रमाद आदि अशुभफल वाले अवन्ध्य अर्थात् निष्फल न जाने वाले कार्यों का वर्णन हैं। इस में छब्बीस करोड़ पद हैं।

(१२) प्राणायुप्रवादपूर्व– इस में दस प्राण और आयु आदि का भेद प्रभेद पूर्वक विस्तृत वर्णन है। इस में एक करोड़ छप्पन लाख पद हैं।

(१३) क्रियाविशालपूर्व– इस में कायिकी, आधिकरणिकी आदि तथा संयम में उपकारक क्रियाओं का वर्णन है। इस में नौ करोड़ पद हैं।

(१४) लोकबिन्दुसारपूर्व– लोक में अर्थात् संसार में श्रुतज्ञान में जो शास्त्र बिन्दु की तरह सब से श्रेष्ठ है, वह लोकबिन्दुसार है। इसमें साढ़े बारह करोड़ पद हैं।

पूर्वों में वस्तु– पूर्वों के अध्यायविशेषों को वस्तु कहते हैं।

वस्तुओं के अवान्तर अध्यायों को चूलिकावस्तु कहते हैं।

उत्पादपूर्व में दस वस्तु और चार चूलिकावस्तु हैं। अग्रायणीय पूर्व में चौदह वस्तु और बारह चूलिकावस्तु हैं। वीर्यप्रवाद पूर्व में आठ वस्तु और आठ चूलिकावस्तु हैं। अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व में अठारह वस्तु और दस चूलिकावस्तु हैं। ज्ञानप्रवाद पूर्व में बारह वस्तु हैं। सत्यप्रवाद पूर्व में दो वस्तु हैं। आत्मप्रवाद पूर्व में सोलह वस्तु हैं। कर्मप्रवाद पूर्व में तीस वस्तु हैं। प्रत्याख्यान पूर्व में बीस। विद्यानुप्रवाद पूर्व में पन्द्रह। अवन्ध्य पूर्व में बारह। प्राणायु पूर्व में तेरह। क्रियाविशाल पूर्व में तीन। लोक बिन्दुसार पूर्व में पच्चीस। चौथे से आगे के पूर्वों में चूलिकावस्तु नहीं हैं।

(नन्दी, सूत्र ५७) (समवायाग १४वॉ तथा १४७वॉ)

८२४- ज्ञान के अतिचार चौदह

सूत्र, अर्थ या तदुभय रूप आगम को विधिपूर्वक न पढ़ना अर्थात् उसके पढ़ने में किसी प्रकार का दोष लगाना ज्ञान का अतिचार दोष है। वह चौदह प्रकार का है-

(१) वाइद्धं-व्याविद्ध अर्थात् अक्षरों को उलट पलट कर देना। जिस प्रकार माला के रत्नों को उलट पलट जोड़ने से उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है उसी प्रकार शास्त्र के अक्षरों या पदों को उलट फेर कर पढ़ने से शास्त्र की सुन्दरता नहीं रहती है, तथा अर्थ का बोध भी अच्छी तरह नहीं होता, इस लिए पद या अक्षरों को उलट पलट कर पढ़ना व्याविद्ध नाम का अतिचार है।

(२) वच्चामेलियं- व्यत्याम्रेडित अर्थात् भिन्न भिन्न स्थानों पर आए हुए समानार्थक पदों को एक साथ मिला कर पढ़ना। जैसे भिन्न भिन्न प्रकार के अनाज, जो आपस में मेल न खाते हों, उन्हें इकट्ठे करने से भोजन बिगड़ जाता है, उसी प्रकार शास्त्र के भिन्न भिन्न पदों को एक साथ पढ़ने से अर्थ बिगड़ जाता है।

(३) हीणक्खरियं– हीनाक्षर अर्थात् इस तरह पढ़ना जिससे कोई अक्षर छूट जाय।

(४) अच्चक्खरियं– अधिकाक्षर अर्थात् पाठ के बीच में कोई अक्षर अपनी तरफ से मिला देना।

(५) पयहीणं– किसी पद को छोड़ देना। अक्षरों के समूह को पद कहते है जिसका कोई न कोई अर्थ अवश्य हो।

(६) विणयहीणं–विनय हीन अर्थात् शास्त्र तथा शास्त्र पढ़ाने वाले का समुचित विनय न करना।

(७) घोसहीणं– घोषहीन अर्थात् उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक और निरनुनासिक आदि घोषों से रहित पाठ करना। उदात्त–ऊँचे स्वर से पाठ करना। अनुदात्त–नीचे स्वर से पाठ करना। स्वरित–मध्यम स्वर से पाठ करना। सानुनासिक– नासिका और मुख दोनों से उच्चारण करना। निरनुनासिक– बिना नासिका के केवल मुख से उच्चारण करना। किसी भी स्वर या व्यञ्जन का घोष के अनुसार ठीक न पढ़ना घोषहीन दोष है।

(८) जोगहीणं– योग हीन अर्थात् सूत्र पढ़ते समय मन, वचन और काया को जिस प्रकार स्थिर रखना चाहिए उस प्रकार से न रखना। योगों को चञ्चल रखना, अशुभ व्यापार में लगाना और ऐसे आसन से बैठना जिससे शास्त्र की अशातना हो योग-हीन दोष है।

(९) सुट्ठुदिन्नं–शिष्य में शास्त्र ग्रहण करने की जितनी शक्ति है उससे अधिक पढ़ाना। यहाँ सुष्ठु शब्द का अर्थ है शक्ति या योग्यता से अधिक।

(१०) दुट्ठुपडिच्छियं–आगम को बुरे भाव से ग्रहण करना।

नोट– हरिभद्रीयावश्यक में 'सुट्ठुदिन्नं दुट्ठुपडिच्छियं' इन दोनों पदों को एक साथ रक्खा है और उसका अर्थ किया है–

'सुष्ठु दत्तं गुरुणा, दुष्ठु प्रतीच्छितं कलुषितान्तरात्मना'

अर्थात्– गुरु के द्वारा अच्छे भावों से दिया गया आगम बुरे भावों से ग्रहण करना। ऐसा करने से अतिचारों की संख्या चौदह के बजाय तेरह ही रह जाती है।

मलधारी श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा विरचित, आगमोदय समिति द्वारा विक्रम संवत् १९७६ में प्रकाशित हरिभद्रीयावश्यक टिप्पणी, पृष्ठ १०८ में नीचे लिखे अनुसार खुलासा किया है–

शङ्का– ये चौदह पद तभी पूरे हो सकते हैं जब 'सुट्ठु दिण्णं दुट्ठु पडिच्छियं' ये दो पद अलग अलग अशातना (अतिचार) के रूप में गिने जाएं, किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि 'सुष्ठु दत्तं' का अर्थ है ज्ञान को भली प्रकार देना और यह अशातना नहीं है।

उत्तर– यह शङ्का तभी हो सकती है जब सुट्ठु शब्द का अर्थ शोभन रूप से या भली प्रकार किया जाय किन्तु यहाँ इस का अर्थ भली प्रकार नहीं है। यहाँ इसका अर्थ अतिरेक अर्थात् अधिक है अर्थात् थोड़े श्रुत के लिए योग्य पात्र को अधिक पढ़ाना ज्ञान की अशातना (अतिचार) है।

(११) अकाले कओ सज्झायो– जिस सूत्र के पढ़ने का जो काल न हो उस समय उसे पढ़ना। सूत्र दो प्रकार के हैं–कालिक और उत्कालिक। जिन सूत्रों को पढ़ने के लिए प्रातः काल, सायङ्काल आदि निश्चित समय का विधान है वे कालिक कहे जाते हैं। जिन के लिए समय की कोई मर्यादा नहीं है वे उत्कालिक कहे जाते हैं। कालिक सूत्रों को उनके लिए निश्चित समय के अतिरिक्त पढ़ना अतिचार है।

(१२) काले न कओ सज्झाओ– जिस सूत्र के लिए जो काल निश्चित किया गया है उस समय स्वाध्याय न करना।

(१३) असज्झाए सज्झाओ–असज्झाय अर्थात् ऐसा कारण

या समय उपस्थित होना जिस में शास्त्र की स्वाध्याय वर्जित है, उसमें स्वाध्याय करना।

(१४) सज्झाए न सज्झाओ– सज्झाय अर्थात् स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करना।

(आवश्यक प्रतिक्रमण सूत्र) (अनुयोगद्वारसूत्र सूत्र, निक्षेप वर्णन)

८२५– भूतग्राम (जीवों) के चौदह भेद

जीवों का दूसरा नाम भूत है। उनके समूह को भूतग्राम कहते हैं। इन के चौदह भेद हैं–

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय। इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चौदह भेद होते हैं।

पृथ्वीकाय आदि जिन जीवों को सूक्ष्म नामकर्म का उदय होता है वे सूक्ष्म कहलाते हैं और जिन जीवों को बादर नामकर्म का उदय होता है वे बादर कहलाते हैं।

जिस जीव में जितनी पर्याप्तियाँ सम्भव हैं उतनी पर्याप्तियाँ पूरी बाँध लेने पर वह पर्याप्तक कहलाता है। एकेन्द्रिय जीव अपने योग्य (आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास) चार पर्याप्तियाँ पूरी कर लेने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव उपरोक्त चार और पाँचवीं भाषा पर्याप्ति पूरी करने पर और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव उपरोक्त पांचों पर्याप्तियों के साथ छठी मनः पर्याप्ति पूरी कर लेने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं। जिन जीवों की पर्याप्तियाँ पूरी न हुई हों वे अपर्याप्तक कहे जाते हैं। कोई भी जीव आहार, शरीर और इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना नहीं मर सकता, क्योंकि इन तीन पर्याप्तियों के पूर्ण होने पर ही आगामी भव की आयु का बंध होता है।

पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी के भेद से दो प्रकार का है।

जिन जीवों के मन होता है वे संज्ञी कहलाते हैं और जिन जीवों के मन नहीं होता वे असंज्ञी कहलाते हैं। (समवायांग १४)(हरिभद्रीयावश्यक)

जीव के चौदह भेदों का पारस्परिक अल्प बहुत्व-

'कौन किससे अधिक है और कौन किससे कम' इस बात को बतलाना अल्पबहुत्व है। उपरोक्त प्रकार से बतलाये गये जीव के चौदह भेदों का अल्पबहुत्व पन्नवणा सूत्र के तीसरे अल्पबहुत्व द्वार के तीसरे इन्द्रिय द्वार, उन्नीसवें सूक्ष्मद्वार और बीसवें संज्ञी द्वार तथा जीवाभिगम सूत्र की चौथी प्रतिपत्ति के सूत्र २२५ के आधार से यहाँ दिया जाता है-

सब से थोड़े अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय हैं, पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय उन से असंख्यात गुणा। पर्याप्त चतुरिन्द्रिय उनसे संख्यात गुणा। पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय उनसे विशेषाधिक। उनसे पर्याप्त बेइन्द्रिय विशेषाधिक। उनसे पर्याप्त तेइन्द्रिय विशेषाधिक। उनसे अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय असंख्यात गुणा। उनसे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय विशेषाधिक। पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय उनसे अनन्त गुणा। अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय उनसे असंख्यात गुणा। अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय उनसे असंख्यात गुणा। पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय उनसे संख्यात गुणा अधिक हैं। (प्रकरण संग्रह दूसरा भाग)

८२६-संमूर्च्छिम मनुष्यों के उत्पत्तिस्थान चौदह

बिना माता पिता के उत्पन्न होने वाले अर्थात् स्त्री पुरुष के समागम के बिना ही उत्पन्न जीव सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं। पैंतालीस लाख योजन परिमाण मनुष्य क्षेत्र में, ढाई द्वीप और समुद्रों में, पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्म भूमि और छप्पन अन्तर द्वीपों में गर्भज मनुष्य रहते हैं। उनके मल मूत्रादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्पत्ति के स्थान चौदह हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-

(१) उच्चारेसु- विष्ठा में (२) पासवणेसु- मूत्र में (३) खेलेसु- कफ में (४) सिंघाणेसु- नाक के मैल में (५) वंतेसु- वमन में (६) पित्तेसु- पित्त में (७) पूएसु- पीप, राध और दुर्गन्ध युक्त बिगड़े घाव से निकले हुए खून में (८) सोणिएसु- शोणित- खून में (९) सुक्केसु- शुक्र-वीर्य में (१०) सुक्कपुग्गल परिसाडेसु- वीर्य के त्यागे हुए पुद्गलों में (११) विगय जीव कलेवरेसु- जीव रहित शरीर में (१२) थीपुरीस संजोएसु- स्त्री पुरुष के संयोग (समागम) में (१३) णगर निद्धमणेसु- नगर की मोरी में (१४) सव्वेसु असुइ ट्ठाणेसु- सब अशुचि के स्थानों में।

उपरोक्त चौदह स्थानों में संमूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। इनकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण होती है। इनकी आयु अन्तर्मुहूर्त की होती है अर्थात् ये अन्तर्मुहूर्त में ही मर जाते हैं। ये असंज्ञी (मन रहित), मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में ही इनका मरण हो जाता है।

(पन्नवणा पद, १ सूत्र ४६) (आचारांग) (अनुयोगद्वार)

८२७- अजीव के चौदह भेद

जीवत्व शक्ति से रहित जड़स्वरूप वाले पदार्थ अजीव कहलाते हैं। अजीव के दो भेद हैं- रूपी अजीव और अरूपी अजीव। अरूपी अजीव के दस भेद हैं-

(१) धर्मास्तिकाय (२) धर्मास्तिकाय के देश (३) धर्मास्तिकाय के प्रदेश (४) अधर्मास्तिकाय (५) अधर्मास्तिकाय के देश (६) अधर्मास्तिकाय के प्रदेश (७) आकाशास्तिकाय (८) आकाशास्तिकाय के देश (९) आकाशास्तिकाय के प्रदेश (१०) काल।

रूपी अजीव के चार भेद-

(११) स्कन्ध (१२) स्कन्ध देश (१३) स्कन्ध प्रदेश और (१४) परमाणु पुद्गल। (पन्नवणा पद १, सूत्र ३)

८२८– चक्रवर्ती के चौदह रत्न

प्रत्येक चक्रवर्ती के पास चौदह रत्न होते हैं। उनके नाम–

(१) स्त्रीरत्न (२) सेनापति रत्न (३) गाथापति रत्न (४) पुरोहित रत्न (५) वर्द्धकि (रथ आदि बनाने वाला बढ़ई) रत्न (३) अश्व-रत्न (७) हस्तिरत्न (८) असिरत्न (६) दंडरत्न (१०) चक्ररत्न (११) छत्ररत्न (१२) चमररत्न (१३) मणिरत्न (१४) काकिणीरत्न।

उपरोक्त चौदह अपनी अपनी जाति में सर्वोत्कृष्ट होते हैं। इसी लिए ये रत्न कहलाते हैं। इन चौदह रत्नों में से पहले के सात रत्न पञ्चेन्द्रिय हैं। शेष सात रत्न एकेन्द्रिय हैं।

(समवायांग १४)

८२६– स्वप्न चौदह

अर्द्धनिद्रितावस्था में कल्पित हाथी, घोड़े आदि को देखना स्वप्न कहलाता है। यथार्थ रूप से देखे हुए स्वप्न का फल भी अवश्य मिलता है। भगवती सूत्र के सोलहवें शतक, छठे उद्देशे में चौदह स्वप्नों के फल का कथन किया गया है। वह निम्न प्रकार है–

(१) कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न के अन्त में हाथी, घोड़े, बैल, मनुष्य, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व आदि की पंक्ति को देख कर शीघ्र जागृत होवे तो यह समझना चाहिए कि वह व्यक्ति उसी भव में सब दुःखों का अन्त कर मोक्ष सुख को प्राप्त करेगा।

(२) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न के अन्त में एक रस्सी को, जो समुद्र के पूर्व पश्चिम तक लम्बी हो, अपने हाथों से इकट्ठी करता (समेटता) हुआ अपने आप को देखे तो इस स्वप्न का यह फल है कि वह उसी भव में मोक्ष सुख को प्राप्त करेगा।

(३) कोई स्त्री अथवा पुरुष को ऐसा स्वप्न आवे कि लोकान्त पर्यन्त लम्बी रस्सी को उसने काट डाला है तो यह समझना

चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(४) कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न में ऐसा देखे कि पाँच रंगों वाले उलझे हुए सूत को उसने सुलझा दिया है तो समझना चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(५) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में लोह, ताम्बा, कथीर और सीसे की राशि (ढेर) को देखे और वह उसके ऊपर चढ़ जाय तो समझना चाहिए कि वह दूसरे भव में मोक्ष जायगा।

(६) कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न में सोने, चान्दी, रत्न और वज्र (हीरों) की राशि को देखे और वह उस ढेर के ऊपर चढ़ जाय तो जानना चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(७) कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न में बहुत बड़े घास के ढेर को या कचरे के ढेर को देखे और उस ढेर को बिखेर कर फेंक दे तो यह समझना चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(८) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में शरस्तम्भ, वीरणस्तम्भ, वंशीमूलस्तम्भ या वल्लिमूलस्तम्भ को देखे और उन्हें जड़ से उखाड़ कर फेंक देवे तो समझना चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(९) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में दूध के घड़े, दही के घड़े, घी के घड़े तथा मधु के घड़े को देखे और उन्हें उठा ले तो समझना चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(१०) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में मदिरा के घड़े, सौवीर (मदिरा विशेष) के घड़े, तेल के घड़े और वसा (चर्बी) के घड़े देखे और उन्हें फोड़ डाले तो समझना चाहिए कि वह दूसरे भव में मोक्ष जायगा।

(११) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में चारों ओर से कुसुमित पद्मसरोवर को देखे और उसमें प्रवेश करे तो जानना चाहिए कि वह व्यक्ति उसी भव में मोक्ष जायगा।

(१२) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में अनेक तरङ्गों से व्याप्त एक बड़े समुद्र को देखे और तैर कर उसके पार पहुँच जाय तो समझना चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(१३) कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न में श्रेष्ठ रत्नों से बने हुए भवन को देखे और उसमें प्रवेश करे तो जानना चाहिए कि वह व्यक्ति उसी भव में मोक्ष जायगा।

(१४) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में श्रेष्ठ रत्नों से बने हुए विमान को देखे और उसके ऊपर चढ़ जाय तो समझना चाहिए कि वह व्यक्ति उसी भव में मोक्ष जायगा।

(भगवती शतक १६ उद्देशा ६)

८३०– महास्वप्न चौदह

प्राणियों की तीन अवस्थाएं होती हैं– (१) सुप्त (२) जागृत (३) सुप्तजागृत। तीसरी अवस्था में अर्थात् सुप्तजागृत अवस्था में किसी पदार्थ को देखना स्वप्न कहलाता है। इसके सामान्य पाँच भेद हैं– (१) याथातथ्य स्वप्न दर्शन (२) प्रतानस्वप्नदर्शन (३) चिन्ता स्वप्न दर्शन (४) विपरीत स्वप्न दर्शन (५) अव्यक्त स्वप्न दर्शन। इनका विस्तृत विवेचन इसके प्रथम भाग के बोल नम्बर ४२१ में दे दिया गया है।

स्वप्नों की संख्या बहत्तर बतलाई गई है। इनमें से तीस महास्वप्न कहे गये हैं। तीर्थङ्कर या चक्रवर्ती जब गर्भ में आते हैं उस समय उनकी माता इन तीस महास्वप्नों में से चौदह महास्वप्न देख कर जागृत होती है। उनके नाम इस प्रकार हैं–

(१) गज (हाथी) (२) वृषभ (बैल) (३) सिंह (४) अभिषेक (लक्ष्मी) (५) पुष्पमाला (६) चन्द्र (७) सूर्य (८) ध्वजा (९) कुम्भ (कलश) (१०) पद्म सरोवर (११) सागर (१२) विमान या भवन (१३) रत्नराशि (रत्नोंका समूह) (१४) निर्धूम अग्नि।

बारहवें स्वप्न में विमान और भवन दो शब्द रखे गये हैं। जो जीव स्वर्ग से आकर तीर्थङ्कर या चक्रवर्ती होते हैं उनकी माता विमान देखती है और जो जीव नरक से निकल कर तीर्थङ्कर या चक्रवर्ती होते हैं उनकी माता विमान की जगह भवन देखती है।

इन चौदह महास्वप्नों में से कोई भी सात स्वप्न वासुदेव की माता देखती है। बलदेव की माता चार स्वप्न देखती है और मांडलिक राजा की माता एक स्वप्न देखती है। (भगवती शतक १६ उद्देशा ६)
(हरिभद्रीयावश्यक) (ज्ञाता सूत्र अध्ययन ८)(कल्प सूत्र स्वप्नवाचनाधिकार)

८३१- श्रावक के चौदह नियम

श्रावक को प्रतिदिन प्रातःकाल निम्न लिखित चौदह नियमों का चिन्तन करना चाहिए। जो श्रावक इन नियमों का प्रतिदिन विवेक पूर्वक चिन्तन करता है तथा इन नियमों के अनुसार मर्यादा कर उसका पालन करता है, वह सहज ही महालाभ प्राप्त कर लेता है। वे नियम ये हैं-

सचित्त दव्व विगई, पन्नी ताम्बूल वत्थ कुसुमेसु।
वाहण सयण विलेवण, बम्भ दिसि नाहण भत्तेसु॥

अर्थात्- (१) सचित्त वस्तु (२) द्रव्य (३) विगय (४) जूते (५) पान (६) वस्त्र (७) पुष्प (८) वाहन (९) शयन (१०) विलेपन (११) ब्रह्मचर्य (१२) दिक् (दिशा) (१३) स्नान (१४) भोजन।

(१) सचित्त- पृथ्वी, पानी, वनस्पति, फल, फूल, सुपारी, इलायची, बादाम, धान्य-बीज आदि सचित्त वस्तुओं का यथाशक्ति त्याग करे अथवा यह परिमाण करे कि आज मैं इतने द्रव्य और इतने वजन से अधिक उपयोग में न लूँगा।

(२) द्रव्य-जो पदार्थ स्वाद के लिए भिन्न भिन्न प्रकार से तय्यार किये जाते हैं, उनके विषय में परिमाण करे कि आज मैं इतने द्रव्य से अधिक उपयोग में न लूँगा। यह मर्यादा खान पान विषयक

द्रव्यों की ही की जाती है।

(३) विगय– शरीर में विकृति उत्पन्न करने वाले पदार्थों को विगय कहते हैं। दूध, दही, घी, तेल और मिठाई आदि सामान्य विगय हैं। इन पदार्थों का जितना भी त्याग किया जा सके, उतने का करे अथवा मर्यादा करे कि आज मैं अमुक पदार्थ काम में न लूँगा अथवा अमुक पदार्थ इतने वजन से अधिक काम में न लूँगा।

मधु और मक्खन दो विशेष विगय हैं। इन दोनों का निष्कारण उपयोग करने का त्याग करे और सकारण उपयोग की मर्यादा करे।

मद्य और मांस ये दो महाविगय हैं। श्रावक को इन दोनों का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

(४) पन्नी– पाँव की रक्षा के लिए जो चीज पहनी जाती है, जैसे जूते, मोजे, खड़ाऊ, बूट आदि इनकी मर्यादा करे।

(५) ताम्बूल– जो वस्तु भोजन करने के बाद मुखशुद्धि के लिये खाई जाती है उनकी गणना ताम्बूल में है, जैसे–पान, सुपारी, इलायची, लोंग, चूरन आदि। इनके विषय में मर्यादा करे।

(६) वस्त्र– पहनने, ओढने के कपड़ों के लिए यह मर्यादा करे कि अमुक जाति के इतने वस्त्रों से अधिक वस्त्र काम में न लूँगा।

(७) कुसुम– सुगन्धित पदार्थ, जैसे फूल, इत्र व सुगन्धि आदि के विषय में मर्यादा करे।

(८) वाहन– हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाड़ी ताँगा, मोटर, रेल, नाव, जहाज आदि सवारी के साधनों के, चाहे वे साधन स्थल के हों अथवा जल या आकाश के हों, यह मर्यादा करे कि मैं अमुक वाहन के सिवाय आज और कोई वाहन काम में न लूँगा।

(९) शयन– शय्या, पाट, पाटला, पलंग, बिस्तर आदि के विषय में मर्यादा करे।

(१०) विलेपन– शरीर पर लेपन किये जाने वाले द्रव्य, जैसे

केसर, चन्दन, तेल, साबुन, सेंट, अञ्जन, मञ्जन आदि के सम्बन्ध में प्रकार (गणन) और वजन की मर्यादा करे।

(११) ब्रह्मचर्य्य–स्थूल ब्रह्मचर्य्य यानी स्वदार संतोष, परदार विरमण व्रत अङ्गीकार करते समय जो मर्यादा रखी है, उसका भी यथाशक्ति संकोच करे। पुरुष पत्नी संसर्ग के विषय में और स्त्री पति संसर्ग के विषय में त्याग अथवा मर्यादा करे।

(१२) दिक् (दिशा)–दिक् परिमाण व्रत स्वीकार करते समय आवागमन के लिये मर्यादा में जो क्षेत्र जीवन भर के लिए रखा है, उस क्षेत्र का भी संकोच करे तथा यह मर्यादा करे कि आज मैं इतनी दूर से अधिक दूर ऊँची, नीची या तिर्छी दिशा में गमनागमन न करूँगा।

(१३) स्नान– देशस्नान या सर्व स्नान के लिये भी मर्यादा करे कि आज इससे अधिक न करूँगा। शरीर के कुछ भाग को धोना देशस्नान है और सब भाग को धोना सर्वस्नान कहा जाता है।

(१४) भत्ते– भोजन, पानी के सम्बन्ध में भी मर्यादा करे कि मैं आज इतने परिमाण से अधिक न खाऊँगा और न पीऊँगा।

उपरोक्त चौदह नियम देशावकाशिक व्रत के अन्तर्गत हैं। इन नियमों से व्रत विषयक जो मर्यादा रखी गई है उसका संकोच होता है और श्रावकपना भी सुशोभित होता है।

कहीं कहीं इन चौदह नियमों के साथ असि, मसि और कृषि ये तीन और भी मिलाये गये हैं। ये तीनों कार्य्य आजीविका के लिये किये जाते हैं। आजीविका के लिये जो कार्य किये जाते हैं उनमें से पन्द्रह कर्मादान का तो श्रावक को त्याग कर ही देना चाहिये, शेष कार्य्यों के विषय में भी प्रतिदिन मर्यादा करनी चाहिये।

(क) असि–शस्त्र आदि के द्वारा परिश्रम करके अपनी आजीविका की जाय उसे असिकर्म कहा जाता है।

(ख)मसि--कलम,दवात और कागज के द्वारा लेख या गणित कला का उपयोग किया जाय उसे मसिकर्म कहा जाता है।

(ग) कृषि-- खेती के द्वारा या खेती सम्बन्धी पदार्थों का क्रय विक्रय करके आजीविका करना कृषि कर्म कहलाता है।

उपरोक्त तीनों विषयों में भी श्रावक को अपने योग्य कार्य की मर्यादा रख कर शेष का त्याग करना चाहिए।

(पूज्यश्री जवाहिरलालजी म० कृत श्रावक के चार शिक्षाव्रत) (धर्म संग्रह अधिकार ३)

८३२- चौदह प्रकार का दान

जो महात्मा आत्मज्योति जगाने के लिए सांसारिक खटपट छोड़ कर संयम का पालन करते हैं, सन्तोष वृत्ति को धारण करते हैं उनको जीवन निर्वाह के लिये अपने वास्ते किये हुए आहारादि में से उन श्रमण निर्ग्रन्थों के कल्पानुसार दान देना श्रावक का कर्तव्य है। श्रावक अपने लिये बनाये गये पदार्थों में से चौदह प्रकार के पदार्थों का दान साधु महात्माओं को दे सकता है। वे इस प्रकार हैं-

(१) अशन (२) पान (३) खादिम (४) स्वादिम ।

अशन पान आदि चार आहारों का स्वरूप आवश्यक निर्युक्ति तथा उसके हरिभद्रीय भाष्य में नीचे लिखे अनुसार दिया है--

(क) अशन-- खाए जाने वाले पदार्थ, जिनका उपयोग मुख्य रूप से भूख मिटाने के लिए किया जाता है। जैसे रोटी वगैरह।

(ख) पान-- पेय अर्थात् पीये जाने वाले पदार्थ। जिनका उपयोग मुख्य रूप से प्यास बुझाने के लिये होता है, जैसे जल। दूध,छाछ वगैरह भी पेय हैं इस लिए साधारणतया पान में गिने जाते हैं किन्तु अशन का त्याग करने वाले को दूध आदि नहीं कल्पते क्योंकि उनसे भूख भी मिटती है। इस लिये तिविहार उपवास

में जल के सिवाय सभी पेय द्रव्यों का त्याग होता है।

(ग) खादिम– जिह्वा स्वाद के लिये खाए जाने वाले पदार्थ। जैसे फल, मेवा आदि।

(घ) स्वादिम– मुँह में रखे जाने वाले पदार्थ। जिनका उपयोग मुख्य रूप से मुंह की सफाई के लिये होता है। जैसे– लौंग, सुपारी, चूरण आदि।

उपरोक्त आहारों में से प्रायः सभी वस्तुएं अपेक्षा वश दूसरे आहारों में बदल जाती हैं। जैसे मेवा जीभ के स्वाद के लिये खाया जाने पर स्वादिम है किन्तु पेट भरने के लिये खाया जाने पर अशन है। इसलिये अशन पान आदि के निश्चय में उद्देश्य की ही प्रधानता है। ऊपर लिखा विभाग मुख्यता को लेकर किया गया है अर्थात् जिस वस्तु का उपयोग मुख्य रूप से जिस रूप में होता है उसे उसी आहार में गिना गया है। (आवश्यक निर्युक्ति गाथा १५८७–८८)

(५) वस्त्र– पहनने आदि के उपयोग में आने वाला कपड़ा।

(६) पात्र– काष्ठ (लकड़ी) के बने हुए पातरे आदि।

(७) कम्बल– जो शीत से बचने के लिये काम में लाया जाता है।

(८) पादपोंछन– जो जीव रक्षा के लिये पूंजने के काम में आते हैं वे रजोहरण या पूंजनी आदि।

(९) पीठ– बैठने के काम में आने वाले छोटे पाट।

(१०) फलक– सोने के लिये काम में आने वाले लम्बे पाट।

(११) शय्या– ठहरने के लिये मकान आदि।

(१२) संथारा– बिछाने के लिये घास आदि।

(१३) औषध– जो एक ही चीज को कूट कर या पीस कर बनाई हो, ऐसी दवा।

(१४) भेषज– जो अनेक चीजों के मिश्रण से बनी हो, ऐसी दवा।

ऊपर जो चौदह प्रकार के पदार्थ बताये गये हैं इन में से प्रथम के आठ पदार्थ तो ऐसे हैं, जिन्हें साधु महात्मा लोग स्वीकार करने के पश्चात् दान देने वाले को वापिस नहीं लौटाते। शेष छः द्रव्य ऐसे हैं जिन्हें साधु लोग अपने काम में लेकर वापिस लौटा भी देते हैं।

(पूज्यश्री जवाहिरलालजी म० कृत श्रावक के चार शिक्षाव्रत)

८३३-स्थविर कल्पी साधुओं के लिए चौदह प्रकार का उपकरण

संयम की रक्षा के लिए स्थविर कल्पी साधुओं को नीचे लिखे अनुसार १४ प्रकार का वस्त्र पात्र आदि उपकरण रखना कल्पता है।

(१) पात्र-गृहस्थों के घर से भिक्षा लाने के लिए काठ, मिट्टी या तुम्बी वगैरह का बर्तन। मध्यम परिमाण वाले पात्र का घेरा तीन बिलांत और चार अंगुल होता है। देश काल की आवश्यकता के अनुसार बड़ा या छोटा पात्र भी रक्खा जा सकता है।

(२) पात्रबन्ध- पात्रों को बाँधने का कपड़ा।

(३) पात्रस्थापन- पात्र रखने का कपड़ा।

(४) पात्रकेसरिका- पात्र पोंछने का कपड़ा।

(५) पटल- पात्र ढकने का कपड़ा।

(६) रजस्त्राण- पात्र लपेटने का कपड़ा।

(७) गोच्छक- पात्र वगैरह साफ करने का कपड़ा।

ऊपर लिखे सात उपकरणों को पात्रनिर्योग कहा जाता है। इन का पात्र के साथ सम्बन्ध है।

(८-१०) प्रच्छादक-पछेवड़ी अर्थात् ओढ़ने की चद्दरें। साधु को उत्कृष्ट तीन चद्दरें रखना कल्पता है, इस लिए ये तीन उपकरण माने जाते हैं।

(११) रजोहरण- वसति, पाट तथा शय्या वगैरह को पूँजने

के लिए ऊन आदि का बना हुआ रजोहरण (ओघा)।

(१२) मुखवस्त्रिका– वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिए मुंह पर बाँधा जाने वाला कपड़ा।

(१३) मात्रक (पड़घा)– लघु शङ्का आदि परठने के काम में आने वाला पात्र विशेष।

(१४) चोलपट्ट– गुप्त अंगों को ढकने के लिए धोती के स्थान पर बाँधा जाने वाला कपड़ा।

नोट– इन चौदह उपकरणों में से जिनकल्पी को बारह तक रखना कल्पता है। मात्रक और चोलपट्ट रखना नहीं कल्पता।

(पञ्चवस्तुक गाथा ७७१--७७९)

८३४–साधु के लिये अकल्पनीय चौदह बातें

साधु, साध्वी को गृहस्थी के घर बिना कारण निम्न लिखित चौदह बातें करनी नहीं कल्पती।

(१) गृहस्थी के घर में जाना (२) खड़े रहना (३) बैठना (४) सोना (५) निद्रा लेना (६) विशेष रूप से निद्रा लेना (७) अशन, पान, खादिम, स्वादिम इन चार प्रकार के आहार में से कोई भी आहार करना (८) बड़ीनीति और लघुनीति तथा खंखार और नाक का मैल आदि परिठवना (९) स्वाध्याय करना (१०) ध्यान करना (११) कायोत्सर्ग करना (१२) भिक्खु की बारह पडिमाओं में से कोई पडिमा स्वीकार कर कायोत्सर्ग करना। अपवाद मार्ग में यदि कोई साधु या साध्वी स्थविर, रोगी, तपस्वी और दुर्बल हो अथवा मूर्च्छा (चक्कर) आती हो और वृद्धावस्था के कारण शरीर स्थिर न रहता हो, इन कारणों में से कोई कारण हो तो उपरोक्त बारह बातें साधु को गृहस्थी के घर में कल्पती हैं।

(१३) साधु, साध्वी को गृहस्थी के घर में शास्त्र की चार गाथा अथवा पाँच गाथाओं का उच्चारण करना, उन गाथाओं का विस्तार

पूर्वक अर्थ कहना, अर्थ समझाना और उपदेश करना नहीं कल्पता।

(१४) साधु, साध्वी को गृहस्थी के घर के अन्दर पचीस भावनाओं सहित पाँच महाव्रतों का कथन करना यावत् उनका उपदेश देना नहीं कल्पता किन्तु अपवाद मार्ग में खड़े खड़े एक आध गाथा और श्लोक का अर्थ कहना अथवा एक आध प्रश्न का उत्तर देना कल्पता है। यह कार्य भी खड़े खड़े ही करना चाहिए बैठ कर नहीं। (बृहत्कल्प उद्देशा ३ सूत्र २२-२४)

८३५- अविनीत के चौदह लक्षण

गुरु आदि बड़े पुरुषों की सेवा शुश्रूषा न करने वाला अविनीत कहलाता है। इसके चौदह लक्षण हैं-

(१) सकारण या अकारण बार बार क्रोध करने वाला।

(२) विकथा आदि में प्रवृत्ति करने वाला या दीर्घकाल तक क्रोध रखने वाला।

(३) मित्र की मित्रता का त्याग करने वाला अथवा कृतघ्न होकर किये हुए उपकार को न मानने वाला।

(४) शास्त्र पढ़ कर गर्व करने वाला।

(५) छोटे से अपराध के कारण महान् पुरुषों का भी तिरस्कार करने वाला अथवा अपना दोष दूसरों पर डालने वाला।

(६) मित्रों पर भी क्रोध करने वाला।

(७) अत्यन्त प्यारे मित्रों की भी पीठ पीछे निन्दा और सामने प्रशंसा करने वाला।

(८) वस्तु तत्त्व के विचार में स्वेच्छानुसार असम्बद्ध भाषण करने वाला, या पात्र अपात्र का विचार न करते हुए शास्त्रों के गूढ रहस्य को बताने वाला अथवा सर्वथा एकान्त पक्ष को लेकर बोलने वाला।

(९) मित्र द्रोही अर्थात् मित्र से भी द्वेष करने वाला।

(१०) मिथ्याभिमान करने वाला।

(११) लोभी अर्थात् अधिक लोभ करने वाला अथवा लुब्ध अर्थात् रसादि में गृद्धि रखने वाला।

(१२) असंयमी अर्थात् इन्द्रियों को वश में न करने वाला।

(१३) अपने साथियों की अपेक्षा अधिक हिस्सा लेने वाला अथवा प्राप्त हुई आहारादि वस्तु में से थोड़ा सा भी दूसरे को न देने वाला, केवल अपना ही पोषण करने वाला।

(१४) अप्रीति (शत्रुता) करने वाला, अथवा जिसकी शक्ल देख कर और वचन सुन कर सब लोगों को अप्रीति उत्पन्न हो।

इनमें से एक भी दुर्गुण जिस में हो वह अविनीत कहलाता है।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ११ गाथा ६-९)

८३६- माया के चौदह नाम

कपट करना माया कहलाती है। इसके समानार्थक चौदह नाम हैं। यथा-

(१) उपधि- किसी मनुष्य को ठगने के लिये प्रवृत्ति करना।

(२) निकृति- किसी का आदर सत्कार करके फिर उसके साथ माया करना अथवा एक मायाचार छिपाने के लिये दूसरा मायाचार करना।

(३) वलय- किसी को अपने जाल में फंसाने के लिए मीठे मीठे वचन बोलना।

(४) गहन- दूसरों को ठगने के लिए अव्यक्त शब्दों का उच्चारण करना अथवा ऐसे गहन (गूढ) तात्पर्य्य वाले शब्दों का प्रयोग कर जाल रचना कि दूसरे की समझ में ही न आवे।

(५) णूम- मायापूर्वक नीचता का आश्रय लेना।

(६) कल्क- हिंसाकारी उपायों से दूसरे को ठगना।

(७) कुरूप–निन्दित रीति से मोह उत्पन्न कर ठगने की प्रवृत्ति।
(८) जिह्मता– कुटिलता पूर्वक ठगने की प्रवृत्ति।
(९) किल्विष– किल्विषी सरीखी प्रवृत्ति करना।
(१०) आदरणा (आचरणा)– मायाचार से किसी वस्तु का आदर करना अथवा ठगाई के लिये अनेक प्रकार की क्रियाएं करना।
(११) गूहनता– अपने स्वरूप को छिपाना।
(१२) वञ्चनता– दूसरे को ठगना।
(१३) प्रतिकुंचनता– सरल भाव से कहे हुए वाक्य का खंडन करना या विपरीत अर्थ लगाना।
(१४) सातियोग– उत्तम पदार्थ के साथ हीन (तुच्छ) पदार्थ मिला देना। (समवायाग ५२ में से)

८३७– लोभ के चौदह नाम

लोभ कषाय के समानार्थक चौदह नाम हैं–
(१) लोभ– सचित्त या अचित्त पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा रखना।
(२) इच्छा– किसी वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा।
(३) मूर्च्छा– प्राप्त की हुई वस्तुओं की रक्षा करने की निरन्तर अभिलाषा।
(४) कांक्षा– अप्राप्त वस्तु की इच्छा।
(५) गृद्धि– प्राप्त वस्तुओं पर आसक्तिभाव।
(६) तृष्णा– प्राप्त अर्थ का व्यय न हो ऐसी इच्छा।
(७) भिध्या– विषयों का ध्यान।
(८) अभिध्या– चित्त की चंचलता।
(९) कामाशा– इष्ट रूप और शब्द की प्राप्ति की इच्छा करना।
(१०) भोगाशा– इष्ट गन्ध आदि की प्राप्ति की इच्छा करना।

(११) जीविताशा– जीवन की अभिलाषा करना।
(१२) मरणाशा– विपत्ति के समय मरण की अभिलाषा।
(१३) नन्दी– वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति।
(१४) राग– विद्यमान सम्पत्ति पर राग भाव होना।

(समवायांग ४२ में से)

८३८– चौदह प्रकार से शुभ नामकर्म भोगा जाता है

(१) इष्ट शब्द (२) इष्ट रूप (३) इष्ट गन्ध (४) इष्ट रस (५) इष्ट स्पर्श (६) इष्ट गति (७) इष्ट स्थिति (८) इष्ट लावण्य (९) इष्ट यशः कीर्ति (१०) इष्ट उत्थान, बल, वीर्य्य, पुरुषाकार, पराक्रम (११) इष्ट स्वर (१२) कान्त स्वर (१३) प्रिय स्वर (१४) मनोज्ञ स्वर शुभ नाम कर्म के उदय से उपरोक्त बातों की प्राप्ति होती है।

(प्रज्ञापना सूत्र, पद २३)

८३९– चौदह प्रकार से अशुभ नामकर्म भोगा जाता है

(१) अनिष्ट शब्द (२) अनिष्ट रूप (३) अनिष्ट गन्ध (४) अनिष्ट रस (५) अनिष्ट स्पर्श (६) अनिष्ट गति (७) अनिष्ट स्थिति (८) अनिष्ट लावण्य (९) अनिष्ट यशः कीर्ति (१०) अनिष्ट उत्थान, बल, वीर्य्य, पुरुषाकार, पराक्रम (११) हीन स्वर (१२) दीन स्वर (१३) अप्रिय स्वर (१४) अमनोज्ञ स्वर।

अशुभ नामकर्म के उदय से उपरोक्त बातों की प्राप्ति होती है।

(प्रज्ञापना सूत्र, पद २३)

८४०– आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद

क्रोध, मान आदि की आभ्यन्तर ग्रन्थि आभ्यन्तर परिग्रह

कहलाता है। इसके चौदह भेद हैं-

(१) हास्य- जिसके उदय से जीव को हँसी आवे।

(२) रति- जिस के उदय से सांसारिक पदार्थों में रुचि हो।

(३) अरति-जिसके उदय से धर्म कार्यों में जीव की अरुचि हो।

(४) भय- सात प्रकार के भय की उत्पत्ति।

(५) शोक- जिसके उदय से शोक, चिन्ता, रुदन आदि हों।

(६) जुगुप्सा- जिस के उदय से पदार्थों पर घृणा उत्पन्न हो।

(७) क्रोध- गुस्सा, कोप।

(८) मान- घमण्ड, अहंकार, अभिमान।

(९) माया- कपटाई (सरलता का न होना)।

(१०) लोभ- लालच, तृष्णा या गृद्धि भाव।

(११) स्त्री वेद- जिसके उदय से स्त्री को पुरुष की इच्छा होती है।

(१२) पुरुष वेद- जिसके उदय से पुरुष को स्त्री की इच्छा होती है।

(१३) नपुंसक वेद- जिसके उदय से नपुंसक को स्त्री और पुरुष दोनों की इच्छा होती है।

(१४) मिथ्यात्व- मोहवश तत्त्वार्थ में श्रद्धा न होना या विपरीत श्रद्धा होना मिथ्यात्व कहा जाता है।

(ठाणांग १, सूत्र ४६ परिग्रह के अन्तर्गत)

८४१- सप्रदेशी अप्रदेशी के चौदह बोल

जो जीव एक समय की स्थिति वाला है वह काल की अपेक्षा अप्रदेश कहलाता है। जिस जीव की स्थिति एक समय से अधिक हो चुकी है वह काल की अपेक्षा सप्रदेश कहलाता है। सप्रदेश और अप्रदेश का स्वरूप बताने वाली निम्न लिखित गाथा है-

जो जस्स पढमसमए वट्टइ भावस्स सो उ अपएसो।
अण्णम्मि वट्टमाणो कालाएसेण सपएसो ॥

अर्थात्- जो जीव प्रथम समय में जिस भाव में रहता है काला-

देश की अपेक्षा वह अप्रदेश है। एक समय से अधिक दूसरे तीसरे समय में रहता हुआ वही जीव काल की अपेक्षा सप्रदेश कहलाता है। निम्न लिखित चौदह द्वारों से सप्रदेशी और अप्रदेशी का विचार किया जायगा।

सपएसा आहारग भविय सन्नि लेस्सा दिट्ठि संजय कसाए।
णाणे जोगुवओगे, वेदे य शरीर पज्जत्ती ॥

(१) सप्रदेश (२) आहारक (३) भव्य (४) संज्ञी (५) लेश्या (६) दृष्टि (७) संयत (८) कषाय (९) ज्ञान (१०) योग (११) उपयोग (१२) वेद (१३) शरीर (१४) पर्याप्ति।

(१) सप्रदेश द्वार—सामान्य जीव काल की अपेक्षा सप्रदेश हैं। नैरयिक जीव कभी सप्रदेश और कभी अप्रदेश दोनों प्रकार के होते हैं अर्थात् जिस नैरयिक जीव को उत्पन्न हुए अभी एक ही समय हुआ है वह जीव काल की अपेक्षा अप्रदेश कहलाता है और जिस जीव को उत्पन्न हुए एक समय से अधिक हो गया है वह नैरयिक जीव सप्रदेश कहलाता है। एक वचन की अपेक्षा से ऐसा कथन किया गया है। बहु वचन की अपेक्षा इस प्रकार जानना चाहिए— उपपात विरह की अपेक्षा अर्थात् जब कोई भी नैरयिक उत्पन्न नहीं होता उस समय सभी नैरयिक जीव सप्रदेश कहलाते हैं। पूर्वोत्पन्न नैरयिकों में जब एक नैरयिक उत्पन्न होता है तब एक जीव अप्रदेश और बहुत जीव सप्रदेश यह भंग पाया जाता है। जब बहुत से जीव उत्पन्न होते रहते हैं तब बहुत जीव अप्रदेश और बहुत जीव सप्रदेश यह भंग पाया जाता है। इसी तरह सब जीवों में जानना चाहिए।

(२) आहारक— सामान्य जीव और एकेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर आहारक जीवों में उपरोक्त तीन भांगे पाए जाते हैं अर्थात् कभी 'सप्रदेश और कभी अप्रदेश' होते हैं। कभी 'एक जीव अप्रदेश

और बहुत जीव समदेश' और कभी 'बहुत जीव अप्रदेश और बहुत जीव सप्रदेश' इस प्रकार तीनों भंग पाए जाते हैं। अनाहारक जीवों में छः भंग पाए जाते हैं

(१) कुछ सप्रदेश (२) कुछ अप्रदेश (३) कोई एक सप्रदेश और कोई एक अप्रदेश (४) कोई एक सप्रदेश और बहुत अप्रदेश (५) कुछ (बहुत) सप्रदेश और कोई एक अप्रदेश (६) कुछ (बहुत) सप्रदेश और कुछ (बहुत) अप्रदेश।

(३) भव्यत्व द्वार– जिस तरह सामान्य जीव का कथन किया गया है उसी तरह भवसिद्धिक (भव्य) और अभवसिद्धिक (अभव्य) जीवों के लिये भी जानना चाहिये। नोभवसिद्धिक नोअभवसिद्धिक (सिद्ध) जीवों में तीन भांगे पाये जाते हैं।

(४) संज्ञी द्वार– संज्ञी जीवों में तीन भांगे पाये जाते हैं। असंज्ञी जीवों में एकेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर तीन भांगे पाये जाते हैं। नैरयिक, देव और मनुष्यों में अनाहारक की तरह छः भांगे पाये जाते हैं। नोसंज्ञी नोअसंज्ञी (सिद्ध) जीवों में तीन भांगे पाये जाते हैं।

(५) लेश्याद्वार–सलेश्य (लेश्या वाले) जीवों का कथन सामान्य जीवों की तरह है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवों में आहारक जीवों की तरह तीन भांगे पाये जाते हैं। तेजोलेश्या वाले जीवों में तीन भांगे होते हैं किन्तु पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय और तेजोलेश्या वाले जीवों में छः भंग पाये जाते हैं।

(६) दृष्टि द्वार– सम्यग्दृष्टि जीवों में सामान्य जीवों की तरह तीन भांगे पाये जाते हैं। विकलेन्द्रियों में छः और मिथ्यादृष्टियों में एकेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर तीन भाँगे पाये जाते हैं। मिश्रदृष्टि जीवों में छः भाँगे पाये जाते हैं।

(७) संयत द्वार– संयत जीवों में तीन, एकेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर असंयत जीवों में तीन और संयतासंयत जीवों में तीन भंग

पाये जाते हैं। नोसंयत नोअसंयत नोसंयतासंयत जीव (सिद्धों) में तीन भंग पाये जाते हैं।

(८) कषाय द्वार– सकषायी (कषाय वाले) जीवों में सामान्य जीवों की तरह तीन भंग पाये जाते हैं। सकषायी एकेन्द्रियों में सिर्फ एक भंग पाया जाता है। क्रोध कषायी जीवों में एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग और देवों में छः भंग पाये जाते हैं। मान और माया कषाय वालों में तीन और नैरयिक तथा देवों में छः भंग होते हैं। लोभ कषाय वालों में तीन और नैरयिकों में छः भंग पाये जाते हैं। अकषायी मनुष्य और सिद्धों में तीन भंग पाये जाते हैं।

(९) ज्ञान द्वार– ज्ञानवान्, आभिनिबोधिक ज्ञान वाले और श्रुतज्ञान वाले जीवों में काल की अपेक्षा सप्रदेश और अप्रदेश के तीन भंग पाये जाते हैं और विकलेन्द्रियों में छः भंग पाये जाते हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान वालों में तीन भंग पाये जाते हैं। ओघिक अज्ञान, मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान वाले जीवों में एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग और विभंग ज्ञान वाले जीवों में तीन भंग पाये जाते हैं।

(१०) योग द्वार– सयोगी में सामान्य जीव की तरह भंग पाये जाते हैं। मनयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीवों में तीन भंग होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों के काययोग ही होता है। उनमें सिर्फ एक ही भंग होता है। अयोगी जीवों में और सिद्धों में तीन भंग होते हैं।

(११) उपयोग द्वार– साकार उपयोग और अनाकार उपयोग वाले जीवों में एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग होते हैं।

(१२) वेद द्वार– स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद वाले जीवों में तीन भंग होते हैं किन्तु नपुंसक एकेन्द्रिय जीवों में केवल

एक ही भंग पाया जाता है। अवेदक मनुष्य और सिद्धों में तीन भंग होते हैं।

(१३) शरीर द्वार– सशरीरी जीवों का कथन सामान्य जीवों की तरह जानना चाहिये। औदारिक और वैक्रिय शरीर वाले जीवों में एकेन्द्रियों को छोड़ कर तीन भंग, आहारक शरीर वाले मनुष्यों में छः भंग होते हैं। तैजस और कार्मण शरीर वाले जीवों में तीन भंग होते हैं। अशरीरी जीवों में तीन भंग होते हैं।

(१४) पर्याप्ति द्वार– आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति वाले जीवों में एकेन्द्रियों को छोड़ कर तीन भंग पाये जाते हैं। भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति वाले जीवों में संज्ञी जीवों की तरह तीन भंग होते हैं। अपर्याप्त जीवों में अनाहारक की तरह एकेन्द्रिय को छोड़ कर छः भांगे पाये जाते हैं। शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास पर्याप्तियों से अपर्याप्त जीवों में एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग होते हैं। नैरयिक, देव और मनुष्यों में छः भंग होते हैं। भाषा और मनःपर्याप्ति से अपर्याप्त जीवों में तीन और नैरयिक, देव और मनुष्यों में छः भंग पाये जाते हैं।

(भगवती शतक ६ उद्देशा ४)

८४२– पढमापढम के चौदह द्वार

जीव आदि चौदह द्वारों में प्रथम अप्रथम का कथन किया गया है। वे द्वार ये हैं –

(१) जीव (२) आहारक (३) भवसिद्धिक (४) संज्ञी (५) लेश्या (६) दृष्टि (७) संयत (८) कषाय (९) ज्ञान (१०) योग (११) उपयोग (१२) वेद (१३) शरीर (१४) पर्याप्ति।

(१) जीवद्वार– जीव जीवत्व की अपेक्षा प्रथम नहीं किन्तु अप्रथम है। इसी प्रकार नारकी से लेकर वैमानिक देवों पर्यन्त समझना चाहिये। सिद्ध जीव सिद्धत्व की अपेक्षा प्रथम हैं, अप्रथम

नहीं। इसका यह अभिप्राय है कि जीव को जिस वस्तु (भाव) की प्राप्ति पहले कई बार हुई है उसकी अपेक्षा वह अप्रथम कहा जाता है, जैसे जीव को जीवत्व अनादि काल से प्राप्त है अतः जीवत्व की अपेक्षा जीव अप्रथम कहलाता है। जो भाव जीव को कभी भी प्राप्त नहीं हुए हैं उनकी अपेक्षा वह प्रथम कहलाता है, जैसे सिद्धत्व की अपेक्षा जीव प्रथम है क्योंकि जीव को सिद्धत्व (सिद्धपना) पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुआ है।

(२) आहारक– आहारक जीव आहारक भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं। चौवीस ही दण्डकों में इसी प्रकार समझना चाहिये। अनाहारक जीव अनाहारक भाव की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं और सिद्ध जीव प्रथम होते हैं अप्रथम नहीं, इसका यह अभिप्राय है कि सिद्ध और विग्रहगति प्राप्त जीव अनाहारक होते हैं। सिद्धत्व का अनाहारक भाव प्रथम है क्योंकि ऐसा अनाहारक भाव जीव को पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था। विग्रहगति के अनाहारकत्व की अपेक्षा जीव अप्रथम है क्योंकि एक गति से दूसरी गति में जाता हुआ जीव विग्रहगति के अनाहारक भाव को अनन्त बार प्राप्त कर चुका है। चौवीस ही दण्डक के जीवों के विषय में इसी प्रकार समझ लेना चाहिये।

(३) भवसिद्धिक द्वार– भवसिद्धिक जीव भवसिद्धिक भाव की अपेक्षा अप्रथम है। इसी तरह अभवसिद्धिक जीव अभवसिद्धिक (सिद्ध) भाव की अपेक्षा अप्रथम है। नोभवसिद्धिक नोअभवसिद्धिक जीव इन दोनों भावों की अपेक्षा अर्थात् नोभवसिद्धिक नोअभवसिद्धिक भाव (सिद्धत्व) की अपेक्षा प्रथम हैं, अप्रथम नहीं।

(४) संज्ञी द्वार– संज्ञी जीव संज्ञी भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं। विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) और स्थावर

काय के जीवों को छोड़ कर शेष सोलह दण्डकों में इसी प्रकार समझना चाहिये। असंज्ञी जीव संज्ञी भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं। वाणव्यन्तर देवों तक ऐसे ही समझना चाहिए क्योंकि असंज्ञी जीव मर कर वाणव्यन्तरों तक ही जा सकते हैं। पृथ्वी आदि असंज्ञी जीव असंज्ञीभाव की अपेक्षा अप्रथम हैं क्योंकि पृथ्व्यादि जीवों ने अनन्त ही बार असंज्ञी भाव प्राप्त किया है। नोसंज्ञी नोअसंज्ञी जीव (सिद्ध) नोसंज्ञी नोअसंज्ञी भाव की अपेक्षा प्रथम हैं।

(५) लेश्या द्वार– सलेश्य (लेश्या वाले) जीव सलेश्य भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं। कृष्ण लेश्या से शुक्ल लेश्या तक इसी प्रकार जानना चाहिये। लेश्या रहित जीव अलेश्य भाव की अपेक्षा प्रथम हैं, अप्रथम नहीं।

(६) दृष्टि द्वार–सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दृष्टि भाव की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर शेष उन्नीस ही दण्डकों में इसी तरह समझना चाहिए। इसका यह अभिप्राय है कि जो जीव पहली ही बार सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है उस अपेक्षा से वह प्रथम है। जो जीव एक बार सम्यग्-दर्शन प्राप्त कर उससे गिर गया है, दूसरी बार जब वह वापिस सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तब सम्यग्दृष्टि भाव की अपेक्षा वह अप्रथम कहा जाता है। एकेन्द्रिय जीवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता इस लिए वे इस द्वार में नहीं लिये गये हैं।

सम्यग्दृष्टि भाव की अपेक्षा सिद्ध प्रथम हैं क्योंकि सिद्धत्व सहित सम्यग्दर्शन मोक्ष जाने के समय प्रथम बार ही प्राप्त होता है।

मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं क्योंकि मिथ्यादर्शन अनादि है। मिश्रदृष्टि भाव का कथन सम्यग्दृष्टि की तरह समझना चाहिये अर्थात् मिश्रदृष्टि जीव मिश्रदृष्टि भाव की अपेक्षा कभी प्रथम और कभी अप्रथम दोनों तरह के होते हैं।

(७) संयत द्वार– संयत जीव संयत भाव की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं। असंयत भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं। संयतासंयत जीव, तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय और मनुष्य संयतासंयत भाव की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं। नोसंयत नोअसंयत और नोसंयतासंयत जीव अर्थात् सिद्ध इन भावों की अपेक्षा प्रथम हैं अप्रथम नहीं क्योंकि सिद्धत्व भाव प्रथम बार ही प्राप्त होता है।

(८) कषाय द्वार– सकषायी अर्थात् क्रोध कषायी से लेकर लोभ कषायी तक के जीव सकषायी भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं। अकषायी मनुष्य अकषायी भाव की अपेक्षा कभी प्रथम और कभी अप्रथम दोनों तरह के होते हैं किन्तु अकषायी (सिद्ध) सिद्धत्व सहित अकषायी भाव की अपेक्षा प्रथम हैं।

(९) ज्ञान द्वार–ज्ञानी जीव ज्ञान की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं किन्तु केवलज्ञानी केवलज्ञान की अपेक्षा प्रथम ही होते हैं। अकेवली जीव मति आदि चार ज्ञानों की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम होते हैं। अज्ञानी जीव अर्थात् मति अज्ञानी, श्रुत अज्ञानी और विभङ्ग ज्ञानी जीव इन भावों की अपेक्षा अप्रथम हैं।

(१०) योग द्वार– सयोगी अर्थात् मनयोगी, वचन योगी और काय योगी जीव तीनों योगों की अपेक्षा अप्रथम हैं। अयोगी जीव अयोगी भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं।

(११) उपयोग द्वार– साकारोपयोग और अनाकारोपयोग वाले जीव इन दोनों भावों की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं। चौवीस ही दण्डक के जीव साकारोपयोग और अनाकारोपयोग भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं और सिद्धपद की अपेक्षा प्रथम हैं क्योंकि साकारोपयोग और अनाकारोपयोग विशिष्ट सिद्धत्व की प्राप्ति प्रथम बार ही होती है।

(१२) वेद द्वार– सवेदी अर्थात् पुरुषवेदी, स्त्रीवेदी और नपुंसक वेदी जीव तीनों वेदों की अपेक्षा अप्रथम हैं। अवेदी भाव में मनुष्य अवेदक भाव की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं और सिद्ध अवेदक भाव की अपेक्षा प्रथम हैं।

(१३) शरीर द्वार– सशरीरी अर्थात् औदारिक आदि शरीर वाले जीव इन शरीरों की अपेक्षा अप्रथम हैं। आहारक शरीर वाले जीव आहारक शरीर भाव की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं।

(१४) पर्याप्त द्वार– पाँच पर्याप्तियों से पर्याप्त और पाँच पर्याप्तियों से अपर्याप्त जीव इन भावों की अपेक्षा अप्रथम हैं।

उपरोक्त चौदह द्वारों में प्रथम और अप्रथम बतलाने का अभिप्राय यह है कि जिन जीवों को जो भाव पहले प्राप्त हो गए हैं उनकी अपेक्षा वे जीव अप्रथम कहे जाते हैं और जिन जीवों को जो भाव पहले प्राप्त नहीं हुए हैं उनकी अपेक्षा वे प्रथम कहे जाते हैं।

(भगवती शतक १८ उद्देशा १)

८४३– चरमाचरम के चौदह बोल

जिसका अन्त हो जाता है वह चरम कहलाता है। जिसका कभी भी अन्त नहीं होता वह अचरम कहलाता है। चरमाचरम का विचार चौदह द्वारों से किया गया है। वे इस प्रकार हैं–

(१) जीव द्वार– जीव जीवत्व भाव की अपेक्षा अचरम हैं क्योंकि जीवत्व भाव की अपेक्षा जीव का कभी भी अन्त नहीं होता।

नैरयिक जीव नैरयिक भाव की अपेक्षा चरम और अचरम दोनों तरह के होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो जीव नरक से निकल कर मनुष्यभव आदि में जन्म लेता है और वहाँ से फिर नरक में नहीं जाता किन्तु मोक्ष में चला जाता है अर्थात् नरक से

निकल कर फिर कभी वापिस नरक में नहीं जाता वह जीव नैरयिक भाव की अपेक्षा चरम कहलाता है। जो जीव नरक से निकल कर मनुष्य आदि भव करके फिर दुबारा नरक में जाता है वह नैरयिक भाव की अपेक्षा अचरम कहलाता है। इसी प्रकार चौवीस ही दण्डकों में समझना चाहिए। सिद्ध सिद्धत्व की अपेक्षा अचरम हैं।

(२) आहारक द्वार– आहारक जीव आहारकभाव की अपेक्षा चरम और अचरम दोनों तरह के होते हैं। अनाहारक जीव अचरम ही होते हैं, चरम नहीं।

(३) भव सिद्धिक द्वार– भवसिद्धिक जीव चरम हैं क्योंकि मोक्ष जाने के समय भव्यत्व का अन्त हो जाता है। अभवसिद्धिक जीव अचरम हैं क्योंकि उनके अभव्यत्व का कभी अन्त नहीं होता। नोभवसिद्धिक नोअभवसिद्धिक (सिद्ध) अचरम हैं।

(४) संज्ञी द्वार– संज्ञी जीव और असंज्ञी जीव चरम और अचरम दोनों तरह के होते हैं। नोसंज्ञी नोअसंज्ञी (सिद्ध) अचरम हैं किन्तु मनुष्य पद की अपेक्षा सिद्ध चरम हैं क्योंकि मनुष्य सम्बन्धी संज्ञीभाव को छोड़ कर वे सिद्ध हो जाते हैं।

(५) लेश्या द्वार– लेश्या सहित जीव अर्थात् कृष्ण लेश्या से लेकर शुक्ल लेश्या तक के जीव चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं। लेश्यारहित (सिद्ध) अचरम हैं।

(६) दृष्टि द्वार– सम्यग्दृष्टि जीव का कथन अनाहारक के समान है अर्थात् सम्यग्दृष्टिभाव की अपेक्षा एक जीव अचरम है क्योंकि सम्यग्दर्शन से गिर कर जीव फिर सम्यग्दर्शन अवश्य प्राप्त करता है। सिद्ध अचरम हैं क्योंकि वे सम्यग्दर्शन से गिरते नहीं हैं। जो सम्यग्दृष्टि नैरयिक नैरयिक अवस्था में फिर सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करेंगे वे चरम हैं और शेष अचरम। मिथ्यादृष्टि का कथन अनाहारक की तरह है अर्थात् जो जीव निर्वाण को प्राप्त करेंगे

वे मिथ्यात्व की अपेक्षा चरम हैं, शेष अचरम। मिथ्यादृष्टि नैरयिक जो फिर मिथ्यात्व सहित नैरयिक भाव प्राप्त नहीं करेंगे वे चरम हैं, शेष अचरम। मिश्रदृष्टि जीव चरम और अचरम दोनों तरह के होते हैं। चौवीस दण्डकों में इसी प्रकार जानना चाहिए किन्तु एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर ऐसा जानना चाहिए क्योंकि ये जीव मिश्रदृष्टि नहीं होते।

(७) संयत द्वार– संयत जीव चरम और अचरम दोनों तरह के होते हैं। जिन जीवों को फिर से संयत भाव प्राप्त नहीं होगा वे चरम हैं, शेष अचरम। असंयत जीव भी चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं। इसी तरह संयतासंयत (देशविरत) भी चरमाचरम होते हैं। नोसंयत नोअसंयत नोसंयतासंयत (सिद्ध) अचरम हैं।

(८) कषाय द्वार– सकषायी (क्रोधकषायी यावत् लोभकषायी) चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं। अकषायी जीव और सिद्ध चरम नहीं किन्तु अचरम हैं। अकषायी मनुष्य पद की अपेक्षा चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं।

(९) ज्ञान द्वार– ज्ञानी (मति ज्ञानी से मनःपर्यय ज्ञानी तक) चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं। केवलज्ञानी अचरम हैं क्योंकि केवलज्ञान प्राप्त कर लेने पर फिर प्राणी केवलज्ञान से गिरता नहीं। अज्ञानी (मति अज्ञानी, श्रुत अज्ञानी और विभंगज्ञानी) चरम और अचरम दोनों तरह के होते हैं।

(१०) योग द्वार– सयोगी (मनयोगी, वचनयोगी, काययोगी) चरम और अचरम दोनों होते हैं। अयोगी जीव अचरम होते हैं।

(११) उपयोग द्वार– साकारोपयोग और अनाकारोपयोग वाले जीव चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं।

(१२) वेद द्वार– सवेदक (पुरुषवेदी, स्त्रीवेदी, नपुँसकवेदी) जीव चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं। अवेदक जीव

(सिद्ध) अचरम होते हैं।

(१३) सशरीरी– (औदारिक शरीर से कार्मण शरीर तक) जीव चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं। अशरीरी जीव (सिद्ध) अचरम होते हैं।

(१४) पर्याप्तद्वार– पाँच पर्याप्तियों से पर्याप्त और पाँच पर्याप्तियों से अपर्याप्त जीव चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं।

चरमाचरम को बतलाने वाली यह गाथा है–

जो जं पाविहिति पुणो भावं, सो तेण अचरिमो होई।
अचन्त विओगो जस्स, जेण भावेण सो चरिमो॥

अर्थात्– जीव को जिन भावों की प्राप्ति फिर से दुबारा होगी उस भाव की अपेक्षा वह जीव अचरम कहलाता है। जिस भाव का जीव के साथ अत्यन्त वियोग हो जाता है अर्थात् जिन भावों की प्राप्ति जीव को फिर से दुबारा नहीं होगी उन भावों की अपेक्षा वह जीव चरम कहलाता है। (भगवती शतक १८ उद्देशा १)

८४४– महानदियाँ चौदह

जम्बूद्वीप के अन्दर चौदह महानदियाँ पूर्व और पश्चिम की तरफ से लवण समुद्र में गिरती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–

(१) गंगा (२) सिन्धु (३) रोहिता (४) रोहितंसा (५) हरि (६) हरिकंता (७) सीता (८) सीतोदा (९) नरकान्ता (१०) नारीकान्ता (११) सुवर्णकूला (१२) रूप्यकूला (१३) रक्ता (१४) रक्तवती। (समवायाग १४)

८४५– चौदह राजू परिमाण लोक

पाँच अस्तिकायों के समूह को लोक कहते हैं अर्थात् जहाँ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय जिस क्षेत्र में पाए जायँ

उसे लोक कहा जाता है। लोक से बाहर आकाश के सिवाय कुछ नहीं है। सातवीं पृथ्वी के नीचे लोक के अन्तिम भाग से लेकर सिद्ध शिला के ऊपर एक योजन तक लोक का परिमाण चौदह राजू परिमाण है।

स्वयम्भूरमण समुद्र की पूर्ववेदिका से लेकर पश्चिम वेदिका पर्यन्त की दूरी को रज्जु कहते हैं। तत्त्वार्थाधिगम भाष्य की टिप्पणी में लिखा है- लोक की अवगाहना चौदह राजू परिमाण है। यहाँ राजू दो प्रकार का है- औपचारिक और पारमार्थिक। साधारण लोगों की बुद्धि स्थिर करने के लिए दृष्टान्त देना औपचारिक राजू है। जैसे-

जोयणलक्खपमाणं, निमेसमत्तेण जाइ जो देवो ।
ता छम्मासे गमणं, एवं रज्जुं जिणा बिंति ॥

अर्थात्-देवता एक निमेष (आँख की पलक गिरने में जितना समय लगता है, उसे निमेष कहते हैं) में एक लाख योजन जाता है। यदि वह छः मास तक लगातार इसी गति से चलता रहे तो एक राजू होता है। यह औपचारिक राजू का परिमाण है।

तिर्यग्लोक के असंख्यात द्वीप समुद्र परिमाण पारमार्थिक राजू होता है।

लोक के भेद-

चौदह राजू परिमाण लोक तीन भागों में बँटा हुआ है- ऊर्ध्व लोक, मध्यलोक (तिर्यग्लोक) और अधोलोक। तिर्यग्लोक की अवगाहना अठारह सौ योजन है। तिर्यग्लोक के बीचोबीच जम्बूद्वीप में रत्नप्रभा पृथ्वी के समतल भूभाग पर मेरु पर्वत के बिल्कुल मध्य में आठ रुचक प्रदेश हैं। वे गोस्तन के आकार वाले हैं। चार ऊपर की तरफ उठे हुए हैं और चार नीचे की तरफ। इन्हीं रुचक प्रदेशों की अपेक्षा से सभी दिशाओं तथा विदिशाओं

का भान होता है। रुचक प्रदेशों के नव योजन ऊपर तथा नव योजन नीचे तक मध्य लोक (तिर्यग्लोक) है। तिर्यग्लोक के नीचे अधो-लोक और ऊपर ऊर्ध्वलोक है। ऊर्ध्वलोक की अवगाहना कुछ कम सात राजू परिमाण और अधोलोक की कुछ अधिक सात राजू परिमाण है। रुचक प्रदेशों के नीचे असंख्यात करोड़ योजन जाने पर रत्नप्रभा पृथ्वी में चौदह राजू रूप लोक का मध्यभाग आता है अर्थात् वहाँ से ऊपर तथा नीचे लोक का परिमाण ठीक सात राजू रह जाता है।

लोक का संस्थान–

जामा पहन कर, कमर पर हाथ धर कर नाचते हुए भोपे का जैसा आकार होता है, वैसा ही लोक का आकार है अर्थात् लोक नीचे चौड़ा है, मध्य में संकड़ा हो जाता है, कुछ ऊपर जाकर फिर एक बार चौड़ा हो जाता है। सब से ऊपर जाकर फिर संकड़ा हो जाता है अर्थात् एक राजू चौड़ाई रह जाती है। तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य में लोक की आकृति सुप्रतिष्ठक और वज्र के समान बताई है। सुप्रतिष्ठक एक प्रकार का वर्तन होता है जो नीचे से चौड़ा, बीच में संकड़ा तथा ऊपर कुछ चौड़ा होकर फिर संकड़ा हो जाता है। वज्र का आकार भी ऐसा ही होता है।

अधोलोक का संस्थान गाय की गर्दन के समान है क्योंकि अधोलोक में रही हुई सातों पृथ्वियाँ नीचे नीचे एक दूसरे से अधिक विस्तृत हैं।

तिर्यग्लोक झल्लरी (एक तरह का बाजा) या थाली सरीखा है। ऊर्ध्वलोक मृदङ्ग (ढोल) के आकार वाला है अर्थात् बीच में चौड़ा और दोनों किनारों पर संकुचित है।

(तत्त्वार्थ सूत्र सभाष्य अध्याय ३, सूत्र ६)

प्रवचनसारोद्धार में इसका स्वरूप यों दिया है– अधोलोक

उल्टे रक्खे हुए सकोरे सरीखा है और ऊर्ध्वलोक एक दूसरे के मुँह पर रक्खे हुए दो सकोरों सरीखा है। इस प्रकार नीचे एक सकोरा उल्टा, उस पर एक सकोरा सीधा तथा उस पर फिर एक उल्टा रखने पर लोक का संस्थान बन जाता है।

लोक का नक्शा बनाने तथा उसके परिमाण को ठीक ठीक समझने के लिए नीचे लिखी विधि उपयोगी है—

एक इञ्च लम्बी ५७ रेखाएँ खींचें। रेखाओं के बीच में इञ्च का चौथा भाग व्यवधान रहना चाहिए। उन रेखाओं के दोनों तरफ दो लम्बी पंक्तियाँ खींचें। प्रत्येक पंक्ति १४ इञ्च लम्बी होनी चाहिए। इस प्रकार ५६ कोष्ठक बन जाएँगे। यहाँ एक राजू की जगह एक इञ्च की कल्पना की गई है। प्रत्येक कोष्ठक की लम्बाई एक राजू और $\frac{1}{4}$ राजू है। चार कोष्ठक मिलाने से एक वर्ग राजू हो जायगा अर्थात् एक राजू चौड़ाई और एक राजू लम्बाई हो जायगी। विशेष सुविधा के लिए उन लम्बी पंक्तियों के बीच फिर तीन लम्बी लाइनें खींचनी चाहिए। ऐसा करने पर प्रत्येक कोष्ठक की लम्बाई चौड़ाई बराबर अर्थात् $\frac{1}{4}$ राजू रह जायगी। इस कोष्ठक को $\frac{1}{4}$ राजू कहा जायगा। एक राजू चौड़ी और चौदह राजू लम्बी इस नाली में $\frac{1}{4}$ वर्ग राजुओं की संख्या २२४ है। इन्हें पादरज्जु, खण्डरज्जु या पाव राजू भी कहा जा सकता है। यह नली लोक के बीचोबीच है। इसे त्रसनाड़ी कहा जाता है। इस के बाहर त्रस जीवों की उत्पत्ति नहीं होती।

(१) चौदह राजू परिमाण लोक के सब से नीचे वाले राजू में तमस्तमः प्रभा नाम की सातवीं पृथ्वी है। इसका विस्तार सात राजू परिमाण है। एक राजू त्रसनाड़ी में है, बाकी दोनों तरफ तीन तीन। खण्ड रज्जुओं को तिरछे रखने से २८ खण्डरज्जु

होते हैं। उस में से चार त्रसनाड़ी में हैं और बारह बारह पसवाड़ों में। एक पूरे राजू अर्थात् चार खण्ड राजुओं की ऊँचाई तक चौड़ाई बराबर है। इस प्रकार तमस्तमः प्रभा पृथ्वी में ११२ खण्ड राजू हैं।

(२) तमस्तमः प्रभा के ऊपर एक राजू की अवगाहना वाली छठी पृथ्वी तमःप्रभा है। इसका विस्तार साढ़े छः राजू है। त्रस-नाड़ी में एक राजू और उसके बाहर दोनों तरफ पौने तीन तीन राजू है। चौड़ाई में खण्ड रज्जु २६ हैं। चार त्रसनाड़ी में और ग्यारह ग्यारह दोनों तरफ। कुल खण्ड रज्जु १०४ हैं।

(३) तमःप्रभा के ऊपर एक राजू की अवगाहना वाली पाँचवीं पृथ्वी धूमप्रभा है। इसका विस्तार छः राजू है। एक राजू त्रसनाड़ी में और अढ़ाई अढ़ाई राजू दोनों तरफ। चौड़ाई में खण्डरज्जु २४ हैं। चार त्रसनाड़ी में और दस दस दोनों तरफ। कुल खण्डरज्जु ९६ हैं। सातवीं पृथ्वी से लेकर पाँचवीं तक दोनों तरफ से एक एक खण्डरज्जु कम होता जाता है।

(४) धूमप्रभा के ऊपर चौथे राजू में एक राजू की अवगाहना वाली चौथी पृथ्वी पंक प्रभा है। इसका विस्तार पाँच राजू है। एक राजू त्रसनाड़ी में और दो दो राजू दोनों तरफ। चौड़ाई में खण्ड रज्जु २० हैं। चार त्रसनाड़ी में और आठ आठ दोनों तरफ। कुल खण्डरज्जु ८० हैं।

(५) पंक प्रभा के ऊपर पाँचवें राजू में वालुकाप्रभा है। इस की भी अवगाहना एक राजू है। चौड़ाई चार राजू है। एक राजू त्रसनाड़ी में और डेढ़ डेढ़ राजू दोनों तरफ। चौड़ाई में खण्डरज्जु १६ हैं। चार बीच में और छह छह दोनों तरफ। कुल खंडरज्जु ६४ हैं।

(६) वालुका प्रभा के ऊपर छठे राजू में शर्करा प्रभा नाम की दूसरी पृथ्वी है। इस की अवगाहना एक राजू है। चौड़ाई अढाई राजू है। एक राजू त्रसनाड़ी के बीच है और पौन पौन अर्थात्

है प्रत्येक तरफ। चौड़ाई में खण्डरज्जु १० हैं। चार त्रसनाड़ी में और तीन तीन दोनों तरफ। कुल खण्डरज्जु ४० हैं।

(७) शर्करा प्रभा के ऊपर सातवें राजू में एक राजू की अवगाहना वाली रत्न प्रभा है। इस की चौड़ाई भी एक राजू है। रत्न प्रभा त्रसनाड़ी से बाहर नहीं है। इस में तिरछे चार खण्ड रज्जु हैं। कुल सोलह खण्ड रज्जु हैं।

इन सातों पृथ्वियों में सात नरक हैं। इनका विस्तार इसके दूसरे भाग के बोल नं० ५६० में दिया गया है।

रत्न प्रभा के ऊपर नौ सौ योजन तक तथा भीतर नौ सौ योजन तक तिर्छा लोक है, इसमें मनुष्य और तिर्यञ्च निवास करते हैं। जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकी खण्ड द्वीप, कालोदधि समुद्र, इस प्रकार असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। सब के बीच में एक लाख योजन लम्बा और एक लाख योजन चौड़ा जम्बूद्वीप थाली के आकार वाला है। उसे घेरे हुए दो लाख योजन चौड़ा चूड़ी के आकार वाला लवण समुद्र है। इसी प्रकार दुगुने दुगुने परिमाण वाले एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। सब के अन्त में स्वयम्भूरमण समुद्र है, जो असंख्यात हजार योजन विस्तार वाला है।

(८) रत्न प्रभा पृथ्वी के ऊपर नौ सौ योजन बाद ऊर्ध्वलोक शुरू हो जाता है। आठवें राजू के पहले दो खण्ड राजुओं तक चौड़ाई एक राजू है। उनमें त्रसनाड़ी से बाहर कोई खण्डराजू नहीं है। ऊपर के दो खण्ड राजुओं में चौड़ाई डेढ़ राजू है अर्थात् आठवें राजू में लोक के नीचे का आधा भाग एक राजू चौड़ा है और ऊपर का डेढ़ राजू चौड़ा है। आठवें राजू लोक में कुल २० खण्ड राजू हैं।

(९) नवें राजू के पहले खण्ड में दो राजू चौड़ाई है। एक राजू त्रसनाड़ी में और आधा आधा राजू दोनों तरफ। उसमें खण्ड राजू

आठवें। दूसरे खण्ड में चौड़ाई ढाई राजू अर्थात् दस खण्डराजू है। तीसरे और चौथे में तीन राजू अर्थात् १२ खण्डरज्जु हैं।

(१०) नवें राजू के ऊपर दसवें राजू के नीचे वाले आधे हिस्से अर्थात् दो खण्डों में चौड़ाई ४ राजू अर्थात् १६ खण्डराजू है। ऊपर के दो खण्डों में पाँच राजू अर्थात् २० खण्ड रज्जु हैं।

(११) ग्यारहवें राजू के नीचे वाले आधे हिस्से में पाँच राजू चौड़ाई है और ऊपर वाले आधे हिस्से में चार राजू चौड़ाई है।

(१२) बारहवें राजू के नीचे वाले दो खण्डों में चौड़ाई तीन राजू है और ऊपर वाले दो खण्डों में अढ़ाई राजू है।

(१३) तेरहवें राजू के पहले एक खण्ड में अढ़ाई राजू चौड़ाई है और ऊपर के तीन खण्डों में दो राजू है।

(१४) चौदहवें राजू के नीचे वाले दो खण्डों में डेढ़ राजू चौड़ाई है और ऊपर वाले दो खण्डों में एक राजू है।

अधोलोक में कुल ५१२ खण्डरज्जु हैं। अधोलोक के सात राजुओं के अट्ठाईस भाग करने पर प्रत्येक भाग में नीचे लिखे अनुसार खण्ड हैं-- पहले के चारों में अट्ठाईस अट्ठाईस (कुल ११२)। पाँचवें से लेकर आठवें तक छब्बीस छब्बीस (कुल १०४)। नवें से लेकर बारहवें तक चौबीस चौबीस (कुल ९६)। तेरहवें से लेकर सोलहवें तक बीस बीस (कुल ८०)। सतरहवें से लेकर बीसवें तक सोलह सोलह (कुल ६४)। इक्कीसवें से लेकर चौबीसवें तक दस दस (कुल ४०)। पच्चीसवें से लेकर अट्ठाईसवें तक चार चार (कुल १६)। अट्ठाईस विभागों अर्थात् पूरे सात राजुओं के सब विभागों को मिला कर ५१२ खण्ड राजू हो जाते हैं।

ऊर्ध्वलोक में ३०४ खण्ड रज्जु होते हैं। उसके भी अट्ठाईस खण्ड करने पर प्रत्येक खण्ड में खण्डरज्जु नीचे लिखे अनुसार हैं-- पहले भाग में ४, दूसरे में ४, तीसरे में ६, चौथे में ६, पाँचवें में

८,छठे में १०, सातवें में १२, आठवें में १२, नवें में १६,दसवें में १६,ग्यारहवें में २०,बारहवें में २०,तेरहवें में २०,चौदहवें में २०, पन्द्रहवें में १६, सोलहवें में १६,सतरहवें में १२,अठारहवें में १२ उन्नीसवें में १०, बीसवें में १०,इक्कीसवें में १०,बाईसवें में ८,तेई-सवें में ८,चौवीसवें में ८,पच्चीसवें में ६, छब्बीसवें में ६,सत्ताईसवें में ४ और अट्ठाईसवें में भी ४। कुल मिला कर ३०४ होते हैं।

रज्जु तीन प्रकार के होते हैं– (क) सूचीरज्जु (ख) प्रतररज्जु और (ग) घनरज्जु। एक ही श्रेणी में रक्खे हुए चार खण्ड रज्जु मिल कर एक सूचीरज्जु होता है। सूचीरज्जु की लम्बाई एक राजू और मोटाई तथा ऊँचाई एक खण्डरज्जु होती है।

एक दूसरे पर रक्खे हुए चार सूचीरज्जुओं का एक प्रतर रज्जु होता है। प्रतर रज्जु की लम्बाई और चौड़ाई पूरा राजू है और मोटाई एक खण्ड राजू। इसमें सोलह खण्ड राजू होते हैं। चार प्रतर राजुओं को पास पास रखने पर एक घनराजू हो जाता है। घनराजू की लम्बाई,ऊँचाई और मोटाई सभी एक राजू हैं। इसमें ६४ खण्ड राजू होते हैं।

अधोलोक में खण्ड राजुओं की संख्या ५१२ है। उन्हें १६ से भाग देने पर ३२ प्रतर राजुओं की संख्या निकल आती है। ऊर्ध्वलोक में १६ प्रतर राजू हैं। ३०४ को १६ से भाग देने पर इतनी ही संख्या निकल आती है। सारे लोक में ५१ प्रतररज्जु हैं।

सम्पूर्ण लोक में घन राजुओं की संख्या ३४३ है। यह संख्या जानने की विधि नीचे लिखे अनुसार है–

नीचे से लेकर ऊपर तक लोक चौदह राजू परिमाण है। नीचे कुछ कम सात राजू,मध्य में एक राजू, ब्रह्मलोक के मध्य में पाँच राजू और लोक के अन्त में एक राजू विस्तार वाला है। बाकी स्थानों पर उसका विस्तार कम ज्यादह है। घन करने के लिए

लोक का आकार

खण्ड राजुओं की संख्या — राजू संख्या
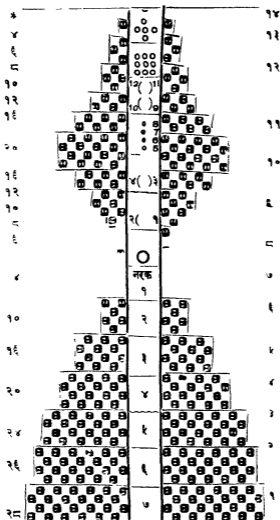
इसे समचतुरस्र अर्थात् चारों तरफ से समान बनाना चाहिए। ऊर्ध्वलोक में त्रसनाड़ी सात राजू परिमाण ऊँची तथा एक राजू चौड़ी है। उसके दाईं और बाईं तरफ अधिक से अधिक लोक का विस्तार दो राजू परिमाण है। अगर बाएं पसवाड़े के दो भागों को उल्टा करके अर्थात् नीचे वाले भाग को ऊपर तथा ऊपर वाले को नीचे करके दाएं पसवाड़े के साथ जोड़ दिया जाय तो सब जगह बराबर दो राजू चौड़ा हो जायगा। उसके साथ त्रसनाड़ी को मिलाने से तीन राजू चौड़ा और सात राजू लम्बा एक दण्ड बन जाता है। उसकी मोटाई ब्रह्मदेवलोक के पास पाँच राजू और दूसरी जगह कम ज्यादह रहेगी।

अधोलोक में भी त्रसनाड़ी सात राजू परिमाण है। उसके बाईं और दाईं तरफ अधिक से अधिक तीन तीन राजू लोक विस्तार है। अगर उस के बाएं पसवाड़े को उल्टा करके दाईं तरफ लगा दिया जाय तो तीन राजू चौड़ाई सब जगह हो जाएगी। उस में एक राजू त्रसनाड़ी मिलाने से चार राजू चौड़ा और सात राजू ऊँचा एक दण्ड बन जाता है। मोटाई में यह भाग कहीं सात राजू चौड़ा और कहीं उससे कम रहेगा।

चौड़ाई की तरह मोटाई को भी ऊपर लिखे अनुसार बैठाने से दोनों बराबर हो जाते हैं। इस प्रकार सात राजू लम्बा और सात राजू चौड़ा घनलोक बन जाता है। सात को तीन बार गुणा देने से ३४३ होते हैं, क्योंकि ७×७=४६। ४६ × ७=३४३। यही सारे लोक में घनराजुओं की संख्या है। बराबर लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई वाली वस्तु के एक तरफ के परिमाण को इस प्रकार गुणा करने से घन का परिमाण निकल आता है। यह संख्या व्यवहार को लेकर बताई गई है।

निश्चय से तो २४६ घन रज्जु होते हैं। प्रत्येक खण्ड में खण्ड

राजुओं की जो संख्या हो उसे उसी से गुणा करने पर उस खण्ड के वर्गखण्ड राजुओं की संख्या निकल आती है, जैसे लोकान्त खण्ड में चार खण्ड राजू हैं, उनका वर्ग १६ हो जायगा। इसी प्रकार ५६ खण्डों के वर्गों को मिलाने पर १५२९६ वर्ग खण्ड राजू होंगे। एक घन राजू में चौंसठ खण्ड राजू होते हैं। इस लिए ऊपर की संख्या को ६४ से भाग देने पर २४९ निकल आते हैं।

ऊर्ध्वलोक के पहले ६ खण्डों में अर्थात् डेढ़ राजू तक पहले दो देवलोक हैं- सौधर्म और ईशान। उसके ऊपर चार खण्ड अर्थात् एक राजू में सनत्कुमार और माहेन्द्र दो देवलोक हैं। उस के ऊपर दस खण्ड अर्थात् ढाई राजू में ब्रह्मलोक, लान्तक, शुक्र और सहस्रार नामक चार देवलोक हैं। उसके ऊपर चार खण्ड अर्थात् एक राजू में आणत, प्राणत, आरण और अच्युत नामक चार देवलोक हैं। उसके बाद चार खण्डों में अर्थात् सब से ऊपर वाले राजू में क्रमशः नवग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान और सिद्ध शिला है। (प्रवचनसारोद्धार द्वार १४३, गाथा ९०२-९१७)

(सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, तृतीय अध्याय) (भगवती शतक १३ उद्देशा ४)
(भगवती शतक ५ उद्देशा ६)

८४६- मार्गणास्थान चौदह

मार्गणा अर्थात् गुणस्थान, योग, उपयोग आदि की विचारणा के स्थानों (विषयों) को मार्गणास्थान कहते हैं। गोम्मटसार के जीवकांड की गाथा १४० में इसकी व्याख्या नीचे लिखे अनुसार दी है-

जाहि व जासु व जीवा, मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोदस जाणे, सुयणाणे मग्गणा होंति ॥

अर्थात्- जिन पदार्थों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में जीव की विचारणा सर्वज्ञ की दृष्टि के अनुसार की जाय वे पर्याय मार्गणा स्थान हैं। वे चौदह हैं-

गइ इंदिए य काये, जोए वेए कसायनाणेसु।
संजम दंसणलेस्सा, भवसम्मे सन्नि आहारे ॥
(कर्मग्रन्थ ४ गाथा ९)

अर्थात् - मार्गणास्थान के गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सञ्ज्ञित्व और आहार ये चौदह भेद हैं।

(१) गति- जीव के जो पर्याय गति नामकर्म के उदय से होते हैं और जिनके कारण जीव देव, मनुष्य, तिर्यञ्च या नारकी कहा जाता है, उसे गति कहते हैं।

(२) इन्द्रिय- अङ्गोपाङ्ग और निर्माण नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाले स्पर्शन, नेत्र आदि जिन साधनों से सरदी, गर्मी तथा काले पीले आदि विषयों का ज्ञान होता है वे इन्द्रिय हैं।

(३) काय- जिसकी रचना और वृद्धि औदारिक, वैक्रिय आदि यथायोग्य पुद्गल स्कन्धों से होती है ऐसे शरीर नामकर्म के उदय से बनने वाले शरीर को काय कहते हैं।

(४) योग- वीर्यशक्ति के जिस परिस्पन्द (हलन चलन) से गमन, भोजन आदि क्रियाएं होती हैं और जो परिस्पन्द शरीर, भाषा तथा मनोवर्गणा के पुद्गलों की सहायता से होता है, वह योग है।

(५) वेद- वेदमोहनीय कर्म के उदय से होने वाली काम-चेष्टा जन्य सुख के अनुभव की इच्छा को वेद कहते हैं।

(६) कषाय- किसी पर नाराज होना या आसक्त होना आदि मानसिक विकार जो कषायमोहनीय कर्म के उदय से होते हैं और कर्मबन्ध के कारण हैं वे कषाय कहे जाते हैं।

(७) ज्ञान- वस्तु को विशेष रूप से जानने वाले चेतना शक्ति के व्यापार (उपयोग) को ज्ञान कहते हैं।

(८) संयम- कर्म बाँधने वाले कार्यों को छोड़ देना संयम है।

(९) दर्शन– वस्तु को सामान्य रूप से जानने वाले उपयोग को दर्शन कहते हैं।

(१०) लेश्या– आत्मा के साथ कर्म का मेल कराने वाले परिणाम विशेष को लेश्या कहते हैं।

(११) भव्यत्व– मोक्ष पाने की योग्यता को भव्यत्व कहते हैं।

(१२) सम्यक्त्व– आत्मा की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद जीव बाह्य वस्तुओं की उपेक्षा करके आत्मचिन्तन की ओर झुकता है और मोक्ष की इच्छा करने लगता है। सम्यक्त्व वाला जीव तत्त्वों पर श्रद्धा करता है और सच्चे देव, गुरु और धर्म को ही मानता है। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये पाँच उसके लक्षण हैं।

(१३) सञ्ज्ञित्व– विशेष प्रकार की मनःशक्ति अर्थात् दीर्घ काल तक रहने वाली सञ्ज्ञा (समझ या बोध) का होना सञ्ज्ञित्व है।

(१४) आहारकत्व– किसी न किसी प्रकार के आहार को ग्रहण करना आहारकत्व है। आहार तीन प्रकार का है–

(क) ओज आहार– उत्पत्ति क्षेत्र में पहुँच कर अपर्याप्त अवस्था में तेजस और कार्मण शरीर द्वारा जीव जिस आहार को ग्रहण करता है उसे ओजाहार कहते हैं।

(ख) लोमाहार– त्वचा और रोंगटों से ग्रहण किया जाने वाला आहार।

(ग) कवलाहार– मुख द्वारा ग्रहण किया जाने वाला अन्न पानी आदि का आहार।

मार्गणास्थान के अवान्तर भेद

(१) गति के चार भेद हैं– देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नरकगति।

(२) इन्द्रिय मार्गणास्थान के पाँच भेद– एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय

तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

(३) कायमार्गणास्थान के छः भेद– पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय।

(४) योग के तीन भेद–मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

(५) वेद के तीन भेद– पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद।

(६) कषाय के चार भेद– क्रोध, मान, माया और लोभ।

(७) ज्ञानमार्गणा के आठ भेद–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान, विभंगज्ञान।

(८) संयममार्गणास्थान के सात भेद– सामायिकसंयम, छेदोपस्थापनीयसंयम, परिहारविशुद्धिसंयम, सूक्ष्मसम्परायसंयम, यथाख्यातसंयम, देशविरति और अविरति।

(९) दर्शनमार्गणा के चार भेद– चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

(१०) लेश्या के छः भेद– कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

(११) भव्यत्वमार्गणा के दो भेद– भव्य और अभव्य।

(१२) सम्यक्त्वमार्गणा के छः भेद–

(क) औपशमिक सम्यक्त्व - अनन्तानुबन्धी चार कषाय और दर्शनमोहनीय के उपशम से प्रकट होने वाला तत्त्वरुचि रूप आत्मपरिणाम औपशमिक सम्यक्त्व है। इसके दो भेद हैं- ग्रन्थिभेदजन्य और उपशमश्रेणिभावी। (अ) ग्रन्थिभेदजन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीवों को होता है। इसके प्राप्त होने की प्रक्रिया निम्न लिखित है–

जीव अनादिकाल से संसार में घूम रहा है और तरह तरह के दुःख उठा रहा है जिस प्रकार पर्वतीय नदी में पड़ा हुआ पत्थर लुढकते लुढकते इधर उधर टकर खाता हुआ गोल और चिकना

बन जाता है, इसी प्रकार जीव भी अनन्त काल से दुःख सहते सहते कोमल और शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम शुद्धि के कारण जीव आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम जितनी कर देता है। इसी परिणाम को शास्त्र में यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण वाला जीव राग द्वेष की मजबूत गांठ के पास तक पहुँच जाता है, किन्तु उसे भेद नहीं सकता, इसी को ग्रन्थि-देश प्राप्ति कहते हैं। कर्म और राग द्वेष की यह गांठ क्रमशः दृढ और गूढ़ रेशमी गाँठ के समान दुर्भेद्य है। यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीवों के भी हो सकता है। कर्मों की स्थिति को कोड़ाकोड़ी साग-रोपम के अन्दर करके वे भी ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उसे भेद नहीं सकते।

भव्य जीव जिस परिणाम से राग द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़ कर लांघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्र में अपूर्वकरण कहते हैं। इस प्रकार का परिणाम जीव को बारबार नहीं आता, कदाचित् ही आता है, इसी लिए इसे अपूर्वकरण कहते हैं। यथाप्रवृत्ति-करण तो अभव्य जीवों को भी अनन्त बार आता है किन्तु अपूर्व-करण भव्य जीवों को भी अधिक बार नहीं आता।

अपूर्वकरण द्वारा राग द्वेष की गांठ टूटने पर जीव के परिणाम अधिक शुद्ध हो जाते हैं, उस समय अनिवृत्तिकरण होता है। इस परिणाम को प्राप्त करने पर जीव सम्यक्त्व प्राप्त किए बिना नहीं लौटता। इसी लिए इसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। उस समय जीव की शक्ति और बढ़ जाती है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्त-र्मुहूर्त प्रमाण है। इस का एक भाग शेष रहने पर अन्तःकरण की क्रिया शुद्ध होती है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में मिथ्यात्व मोहनीय के कर्म दलिकों को आगे पीछे कर दिया

जाता है। कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आने वाले कर्म दलिकों के साथ कर दिया जाता है और कुछ को अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद उदय में आने वाले कर्म दलिकों के साथ कर दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल ऐसा हो जाता है कि जिस में मिथ्यात्व मोहनीय का कोई कर्मदलिक नहीं रहता। अत एव जिसका अबाधा काल पूरा हो चुका है ऐसे मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह जो अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उदय में रहता है और दूसरा वह जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त बीतने पर उदय में आता है। इन में से पहले विभाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे को मिथ्यात्व की द्वितीय स्थिति कहते हैं। अन्तरकरण क्रिया के शुरू होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त तक तो मिथ्यात्व का उदय रहता है, पीछे नहीं रहता। अनिवृत्तिकरण बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव को स्पष्ट या असंदिग्ध प्रतीति होने लगती है, जैसे जन्मान्ध पुरुष को नेत्र मिलने पर। मिथ्यात्व रूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है जैसा किसी पुराने और भयङ्कर रोगी को स्वस्थ हो जाने पर। उस समय तत्त्वों पर दृढ श्रद्धा हो जाती है। औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है, क्योंकि इसके बाद मिथ्यात्व मोहनीय के वे पुद्गल जिन्हें अन्तरकरण के समय अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय होने वाले बनाया है, वे उदय में आजाते हैं या क्षयोपशम रूप में परिणत कर दिए जाते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा तथा अन्तरकरण काल कहते हैं। प्रथम स्थिति के चरम समय में अर्थात् उपशान्ताद्धा के पूर्व समय में जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुञ्ज करता है जो औपशमिक सम्यक्त्व के

बाद उदय में आने वाला होता है। जिस प्रकार कोद्रव धान्य (कोदों नाम के धान्य) को औषधियों से साफ करने पर इतना शुद्ध हो जाता है कि खाने वाले को बिल्कुल नशा नहीं आता। दूसरा भाग अर्द्ध शुद्ध और तीसरा अशुद्ध रह जाता है। इसी द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्व मोहनीय के तीन पुञ्जों में से एक पुञ्ज इतना शुद्ध हो जाता है कि उस में सम्यक्त्वघातक रस (सम्यक्त्व को नाश करने की शक्ति) नहीं रहता। दूसरा पुञ्ज आधा शुद्ध और तीसरा अशुद्ध ही रह जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व पूर्ण होने पर जीव के परिणामानुसार उक्त तीन पुञ्जों में से कोई एक उदय में आता है। परिणामों के शुद्ध रहने पर शुद्ध पुञ्ज उदय में आता है। उस से सम्यक्त्व का घात नहीं होता। उस समय प्रकट होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जीव के परिणाम अर्द्ध विशुद्ध रहने पर दूसरे पुञ्ज का उदय होता है और जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। परिणामों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध पुञ्ज का उदय होता है और उस समय जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा में जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द हो जाता है। जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिकाएं बाकी रहने पर किसी किसी औपशमिक सम्यक्त्व वाले जीव के चढ़ते परिणामों में विघ्न पड़ जाता है अर्थात् उसकी शान्ति भङ्ग हो जाती है। उस समय अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से जीव सम्यक्त्व परिणाम को छोड़ कर मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। जब तक वह मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिकाओं तक सास्वादन भाव का अनुभव करता है, उस समय जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। औपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव ही सास्वादन सम्यग्दृष्टि हो

सकता है, दूसरा नहीं।

उपशमश्रेणिभावी औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें में से किसी भी गुणस्थान में हो सकती है, परन्तु आठवें गुणस्थान में तो उसकी प्राप्ति अवश्य ही होती है। औपशमिक सम्यक्त्व के समय आयुबन्ध, मरण, अनन्तानुबन्धी कषाय बन्ध तथा उसका उदय ये चार बातें नहीं होतीं किन्तु उससे गिरने पर सास्वादन भाव के समय उक्त चारों बातें हो सकती हैं।

(ख) अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से होने वाला तत्त्वरुचि रूप परिणाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

(ग) ऊपर लिखी प्रकृतियों के क्षय से होने वाला तत्त्वरुचि रूप परिणाम क्षायिक सम्यक्त्व है। क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति केवली के समय में होने वाले मनुष्यों को ही होती है। जो जीव आयुबन्ध करने के बाद इसे प्राप्त करते हैं वे तीसरे या चौथे भव में मोक्ष पाते हैं। अगले भव की आयु बाँधने से पहले जो जीव क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं वे उसी भव में मुक्त हो जाते हैं।

(घ) औपशमिक सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व के अभिमुख होते समय जीव का जो परिणाम होता है, उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। इस की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिकाएं होती हैं। अनन्तानुबन्धी का उदय होने के कारण इस समय जीव के परिणाम निर्मल नहीं होते। सास्वादन में अतत्त्वरुचि अव्यक्त होती है और मिथ्यात्व में व्यक्त, यही दोनों में अन्तर है।

(ङ) मिश्रमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले तत्त्व और अतत्त्व दोनों की रुचि रूप मिश्र परिणाम को मिश्र सम्यक्त्व (सम्यङ्मिथ्यात्व) कहते हैं।

(च) जिस के होने से जीव जड़ चेतन का भेद न जान सके, आत्मोन्मुख प्रवृत्ति वाला न हो सके, मिथ्यात्व मोहनीय के उदय

से होने वाले जीव के ऐसे परिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं। हठ, कदाग्रह आदि दोष इसी के फल हैं।

(१३) संज्ञी मार्गणा के दो भेद- संज्ञित्व और असंज्ञित्व।

(१४) आहारक मार्गणा के दो भेद-आहारक और अनाहारक।
(कर्मग्रन्थ ४)

८४७ - गुणस्थान चौदह

गुणों (आत्मशक्तियों) के स्थानों अर्थात् क्रमिक विकास की अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।

मोक्ष का अर्थ है आध्यात्मिक विकास की पूर्णता। यह पूर्णता एकाएक प्राप्त नहीं हो सकती। अनेक भवों में भ्रमण करता हुआ जीव धीरे धीरे उन्नति करके उस अवस्था को पहुँचता है। आत्म-विकास के उस मार्ग में जीव जिन जिन अवस्थाओं को प्राप्त करता है, उन्हें गुणस्थान कहा जाता है। भारत के प्रायः सभी दर्शनों ने जीव के विकास क्रम को माना है। परिभाषा तथा प्रतिपादन शैली का भेद होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उनमें बहुत समानता मालूम पड़ती है।

आध्यात्मिक विकास का विचार करते समय जीव को मुख्य तीन अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है-

(क) पहली अवस्था वह है जिस में जीव अनन्त काल से घूमता आ रहा है। आत्मा स्थायी सुख और पूर्ण ज्ञान के लिए तरसता है। दुःख और अज्ञान को बिल्कुल पसन्द नहीं करता, फिर भी वह अज्ञान और दुःख के चक्कर में पड़ा हुआ है। यहाँ दो प्रश्न खड़े होते हैं - आत्मा सुख और ज्ञान को क्यों पसन्द करता है ? तथा दुःख और अज्ञान से छुटकारा प्राप्त करने की इच्छा अनादि काल से होते हुए भी उसे छुटकारा क्यों नहीं मिलता ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर शास्त्रकारों ने दिया है।

यह एक प्राकृतिक नियम है कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। जब तक वह अपने स्वभाव को पूर्णतया प्राप्त न कर ले तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती अर्थात् तब तक उस में स्वभाव को प्राप्त करने की प्रगति बराबर होती रहती है। पानी स्वभाव से ठण्डा होता है। अग्नि आदि के कृत्रिम उपायों से गरम होने पर भी वह शीघ्र अपने स्वभाव में आने का प्रयत्न करता है और ठण्डा हो जाता है। अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख जीव का स्वभाव है, इस लिए जीव भी उन्हें प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्न करता रहता है। जब तक अपने स्वभाव में लीन नहीं होता तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव सुख तथा ज्ञान को चाहता हुआ भी उनकी प्राप्ति के वास्तविक उपाय को नहीं जानता। जैसे रोगी कुपथ्य से होने वाले भयङ्कर परिणाम को भूल कर उसे सेवन करने में ही सुख समझता है और सेवन करने के बाद भयङ्कर कष्ट उठाता है, उसी प्रकार जीव कामभोगों में सुख समझ कर उनका सेवन करता है और फिर भयङ्कर कष्ट उठाता है। वास्तविक सुख का उपाय न जानने के कारण ही जीव अनन्त संसार में भटकता रहता है। अज्ञान और द्वेष के प्रबल संस्कारों के कारण वह वास्तविक सुख का अनुभव नहीं कर सकता। कभी थोड़ा सा भान होने पर भी वह सुख की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति नहीं कर सकता।

अज्ञान चेतना का विरोधी है। इस लिए जब तक अज्ञान की तीव्रता रहती है तब तक चेतना का स्फुरण बहुत मन्द होता है अर्थात् तब तक खरे सुख और उसके साधनों का भान नहीं होता। किसी विषय में सुख की धारणा करके आत्मा प्रवृत्त होता है, किन्तु परिणाम में निराशा होने से दूसरे विषय की तरफ दौड़ता है। दूसरे विषय में निराशा होने पर तीसरे की ओर झुकता है। जिस तरह

भँवर जाल में पड़ी हुई लकड़ी चक्कर काटती रहती है उसी प्रकार जीव संसार चक्र में भटकता रहता है। अनन्त काल तक भटकने के बाद किसी किसी जीव का अज्ञान कुछ कम होता है तो भी राग और द्वेष के कारण सच्चे सुख की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता। अज्ञान की मन्दता के कारण जीव को ऐसा भान बहुत बार होता है कि सुख और दुःख बाह्य वस्तुओं में नहीं है, अपने ही परिणामों के कारण आत्मा सुखी और दुखी होता है फिर भी राग और द्वेष की तीव्रता के कारण वह ठीक मार्ग में प्रवृत्ति नहीं कर सकता। मोह के कारण पूर्वपरिचित विषयों को ही सुख या दुःख का साधन मान कर उन्हीं में हर्ष और विषाद का अनुभव करता है। ऐसे समय में जीव का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता इस लिए वह विकास की ओर अग्रसर भी नहीं होता। इसी स्थिति को आध्यात्मिक विकास काल की स्थिति कहा जाता है।

(ख) अज्ञान तथा राग द्वेष के चक्र का बल सदा एक समान नहीं रहता। आत्मिक बल कर्मों के बल से अनन्तगुणा है, इस लिए आत्मा में जब शुभ भाव आते हैं तो कर्मों का बल एकदम घट जाता है। जिस प्रकार लाखों मन घास के लिए आग की एक चिनगारी पर्याप्त है, उसी प्रकार शुभ भाव रूपी आग कर्मों की महान् राशि को भस्मसात् कर देती है। जब आत्मा की चेतना जागृत होती है, राग और द्वेष कुछ ढीले पड़ते हैं तो आत्मा की शक्ति ठीक मार्ग पर काम करने लगती है। उसी समय आत्मा अपने ध्येय को निश्चित करके उसे प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय करता है और उसके लिए प्रवृत्ति भी करता है। उसी समय आध्यात्मिक विकास की नींव रक्खी जाती है। इसके बाद आत्मा अपनी ज्ञान और वीर्य शक्तियों द्वारा राग और द्वेष के साथ युद्ध करने लगता है। कोई आत्मा लगातार विजय प्राप्त करता जाता है और अन्त

में उनको समूल नष्ट करके कैवल्य अथवा मुक्ति प्राप्त कर लेता है। कोई कोई आत्मा राग द्वेष की प्रबलता के कारण एक आध बार हार भी जाता है तो फिर दुगुने उत्साह से प्रवृत्त होता है। पुराने अनुभव के कारण बढ़े हुए ज्ञान और वीर्य से वह राग द्वेष को दबाता है। जैसे जैसे दबाने में सफल होता है उसका उत्साह और ज्ञान बढ़ता जाता है। उत्साहवृद्धि के साथ साथ आनन्द भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार जीव राग द्वेष के बन्ध को निर्बल करता हुआ अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ता जाता है। इस अवस्था को आध्यात्मिक विकास की अवस्था कहते हैं।

(ग) आध्यात्मिक विकास जब पूर्ण हो जाता है तो तीसरी अवस्था आती है। इस अवस्था में जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसी को सिद्धि, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण आदि शब्दों से कहा जाता है।

वैदिक दर्शन

उपनिषद् तथा अध्यात्म शास्त्र के दूसरे ग्रन्थों में आत्मा के विकासक्रम को भी बताया गया है, किन्तु इसका व्यवस्थित तथा साङ्गोपाङ्ग वर्णन योग दर्शन पर रचे हुए व्यासभाष्य आदि में है। दूसरे ग्रन्थों में इतना पूर्ण नहीं है, इस लिये वैदिक दर्शनों में आत्मा के विकासक्रम की मान्यता इन्हीं ग्रन्थों से बताई गई है।

योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने मोक्षसाधन के रूप में योग का वर्णन किया है। योग का अर्थ है आध्यात्मिक विकासक्रम की भूमिकाएं। योग जहाँ से प्रारम्भ होता है वह आत्मविकास की पहली भूमिका है। योग की पूर्णता के साथ ही आत्मविकास भी पूर्ण हो जाता है। योग प्रारम्भ होने से पहले की अवस्था आध्यात्मिक अविकास की अवस्था है।

योग भाष्यकार महर्षि व्यास ने चित्त की पाँच भूमियाँ बताई हैं-

(१) क्षिप्त (२) मूढ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र (५) निरुद्ध । इन पाँचों में पहली दो अर्थात् क्षिप्त और मूढ अविकास की अवस्थाएं हैं। तीसरी विक्षिप्त भूमिका अविकास और विकास का सम्मेलन है, किन्तु उस में विकास की अपेक्षा अविकास का बल अधिक है। चौथी एकाग्र भूमिका में विकास का बल अधिक है। वह बढ़ते हुए पाँचवीं निरुद्ध भूमिका में पूरा हो जाता है। पाँचवीं भूमिका के बाद मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

बौद्धदर्शन

बौद्ध साहित्य के मूल ग्रन्थ पिटक कहे जाते हैं। पिटकों में अनेक जगह आध्यात्मिक विकास के क्रम का व्यवस्थित और स्पष्ट वर्णन है। वहाँ व्यक्ति की छः स्थितियाँ की गई हैं-(१) अन्धपुथुज्जन (२) कल्याणपुथुज्जन (३) सोतापन्न (४) सकदागामी (५) औपपातिक (६) अरह। पहली स्थिति आध्यात्मिक अविकास का काल है। दूसरी स्थिति में विकास थोड़ा और अविकास अधिक होता है। तीसरी से छठी तक आध्यात्मिक विकास बढ़ता जाता है। छठी स्थिति में वह अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इसके बाद जीव निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

जैन दर्शन

जैन आगमों में आध्यात्मिक विकासक्रम के लिए चौदह गुणस्थान बताए गए हैं। इनके नाम और स्वरूप आगे दिए जाएंगे। चौदह गुणस्थानों में पहला अविकास काल है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान में विकास का किंचित् स्फुरण होता है। उनमें प्रबलता अविकास की ही रहती है। चौथे गुणस्थान में जीव विकास की ओर निश्चित रूप से बढ़ता है। चौदहवें गुणस्थान में विकास अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है और उसके बाद मोक्ष हो जाता है।

इसी प्राचीन विकास क्रम को हरिभद्रसूरी ने दूसरे प्रकार से

लिखा है। अविकास काल को उन्होंने ओघदृष्टि तथा विकास काल को सद्दृष्टि का नाम दिया है। सद्दृष्टि के मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा नाम वाले आठ विभाग हैं। इनमें विकास का क्रम उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है। मित्रा आदि पहली चार दृष्टियों में विकास होने पर भी अज्ञान और मोह की प्रबलता होती है। स्थिरा आदि पिछली चार दृष्टियों में ज्ञान और चारित्र की अधिकता तथा मोह की कमी हो जाती है।

दूसरे प्रकार के वर्णन में हरिभद्रसूरि ने आध्यात्मिक विकास के क्रम को योग के रूप में वर्णन किया है। योग के उन्होंने पाँच भाग किए हैं- अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिक्षय।

ये दोनों प्रकार के विचार प्राचीन जैन गुणस्थान के विचारों का नवीन पद्धति से वर्णन मात्र है।

आजीवक दर्शन

इस दर्शन का स्वतन्त्र साहित्य और सम्प्रदाय नहीं है, तो भी इनके आध्यात्मिक विकासक्रम सम्बन्धी विचार बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। आजीवक दर्शन में आठ पेडियाँ मानी गई हैं- मन्दा, खिड्डा, पदवीमंसा, उजुगत, सेख, समण, जिन और पन्न। इन आठों में पहले की तीन अविकास काल तथा पीछे की पाँच विकासकाल की हैं। उसके बाद मोक्ष हो जाता है।

गुणस्थान का सामान्य स्वरूप

आत्मा की अवस्था किसी समय अज्ञानपूर्ण होती है। यह अवस्था सब से प्रथम होने के कारण निकृष्ट है। उस अवस्था से आत्मा अपने स्वाभाविक चेतना, चारित्र आदि गुणों के विकास द्वारा निकलता है। धीरे धीरे उन शक्तियों के विकास के अनुसार क्रान्ति करता हुआ विकास की पूर्णता अर्थात् अन्तिम हद को पहुँच जाता है। पहली निकृष्ट अवस्था से निकल कर विकास की अन्तिम

अवस्था को प्राप्त करना ही आत्मा का परमसाध्य है। इस परम-साध्य की सिद्धि होने तक आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी, ऐसी अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं की श्रेणी को विकासक्रम या उत्क्रान्तिमार्ग कहते हैं। जैन शास्त्रों में इसे गुणस्थान कहा जाता है। इस विकासक्रम के समय होने वाली आत्मा की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का संक्षेप १४ भागों में कर दिया है। ये चौदह भाग गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। दिगम्बर साहित्य में गुणस्थान, संक्षेप, ओघ, सामान्य और जीवसमास शब्दों से भी कहे जाते हैं। चौदह गुणस्थानों में उत्तरोत्तर विकास की अधिकता है। विकास की न्यूनाधिकता आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है। स्थिरता, समाधि, अन्तर्दृष्टि, स्वभावरमण, स्वोन्मुखता, इन सब शब्दों का मतलब एक ही है। स्थिरता का तारतम्य (न्यूनाधिकता) दर्शन और चारित्र की शुद्धि के तारतम्य पर निर्भर है। दर्शनशक्ति का जितना अधिक विकास, जितनी अधिक निर्मलता होती है उतना ही अधिक सद्विश्वास, सद्रुचि, सद्भक्ति, सत् श्रद्धा और धर्म का आग्रह दृढ़ होता जाता है। दर्शन शक्ति के विकास के बाद चारित्र शक्ति के विकास का नम्बर आता है। चारित्र शक्ति का जितना अधिक विकास तथा निर्मलता होती है उतनी ही क्षमा, सन्तोष, गाम्भीर्य, इन्द्रियजय आदि गुणों का आविर्भाव होता है। जिस क्रियाकाण्ड से इन गुणों का विकास न हो उसे चारित्र का अङ्ग नहीं कहा जा सकता। दर्शन और चारित्र की विशुद्धि के साथ साथ आत्मा की स्थिरता भी बढ़ती जाती है। दर्शन व चारित्र शक्ति की विशुद्धि का बढ़ना घटना उन शक्तियों के प्रतिबन्धक (रोकने वाले) संस्कारों की न्यूनता, अधिकता या मन्दता, तीव्रता पर अवलम्बित है। पहले तीन गुणस्थानों में दर्शन और चारित्र का

विकास इस लिए नहीं होता कि उन में उन शक्तियों के प्रतिबन्धक दर्शनमोह और चारित्रमोह की अधिकता है। चौथे गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में प्रतिबन्धक संस्कार मन्द हो जाते हैं इस लिए उन गुणस्थानों में शक्तियों का विकास आरम्भ हो जाता है।

इन प्रतिबन्धक (कषाय) संस्कारों के स्थूल दृष्टि से चार विभाग किए गए हैं। ये विभाग कषाय के संस्कारों की विपाक शक्ति के तरतमभाव (न्यूनाधिक) पर आश्रित हैं। उन में से पहला विभाग जो दर्शन शक्ति का प्रतिबन्धक है, उसे दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी कहते हैं। शेष तीन विभाग चारित्र शक्ति के प्रतिबन्धक हैं। उन को यथाक्रम अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कहते हैं।

प्रथम विभाग की तीव्रता न्यूनाधिक परिमाण में प्रथम दो गुणस्थानों (भूमिकाओं) तक रहती है। इसी लिए पहले दो गुणस्थानों में तथा तीसरे में मिथ्यात्व का उदय होने से दर्शन शक्ति के आविर्भाव का सम्भव नहीं है। कषाय के उक्त प्रथम भाग की अल्पता, मन्दता या अभाव होते ही दर्शन शक्ति व्यक्त होती है। इसी समय आत्मा की दृष्टि खुल जाती है। दृष्टि के इस उन्मेष को विवेकख्याति, भेदज्ञान, प्रकृति पुरुषान्यता, साक्षात्कार और ब्रह्मज्ञान आदि नामों से कहा जाता है।

इसी शुद्ध दृष्टि से आत्मा जड़ चेतन का भेद असंदिग्ध रूप से जान लेता है। यह उसके विकासक्रम की चौथी भूमिका है। इसी भूमिका से वह अन्तर्दृष्टि बन जाता है और अपने वास्तविक परमात्मस्वरूप को देखने लगता है। पहले के तीन गुणस्थानों में दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी कषाय की प्रबलता के कारण आत्मा अपने परमात्मभाव को नहीं देख सकता। उस समय वह बहिर्दृष्टि होता है। दर्शन मोह आदि के वेग के कारण उस समय उस

की दृष्टि इतनी अस्थिर व चंचल बन जाती है कि जिससे वह अपने में ही वर्तमान परमात्मस्वरूप या ईश्वरत्व को नहीं देख सकता। ईश्वरत्व भीतर ही है किन्तु वह अत्यन्त सूक्ष्म है इस लिए स्थिर व निर्मलदृष्टि के द्वारा ही उसका दर्शन किया जा सकता है। चौथा गुणस्थान परमात्मभाव या ईश्वरत्व के दर्शन का द्वार है, वहाँ पहुँचने पर जीव अन्तरात्मा हो जाता है,अर्थात् बाह्य वस्तुओं की ओर से हट कर आत्मचिन्तन ही उसका मुख्य कार्य हो जाता है। आत्मविकास के लिए सभी वस्तुओं को यहाँ तक कि तीन लोक की विभूतियों को छोड़ने के लिए तैयार रहता है। पहले तीन गुणस्थानों में जीव बहिरात्मा होता है अर्थात् उस समय वस्तुओं की ओर विशेष झुकाव रहता है।

चौथे गुणस्थान में दर्शन मोह का वेग कम होने पर भी चारित्र शक्ति को रोकने वाले संस्कारों का वेग रहता है अर्थात् उस समय अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है, इस लिए जीव किसी प्रकार का त्याग या नियम नहीं कर सकता। पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम हो जाता है इस से जीव की चारित्र शक्ति कुछ कुछ प्रकट होती है और वह इन्द्रिय-जय और नियम आदि को थोड़े बहुत रूप में करता है। श्रावक के बारह व्रत तक अङ्गीकार करता है। इसी को देशविरत चारित्र कहते हैं। छठे गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय भी मन्द हो जाता है, उसमें आत्मा बाह्य भोगों से हट कर पूरा त्यागी बन जाता है। छठे गुणस्थान में संज्वलन कषाय के विद्यमान रहने से कभी कभीं क्रोध आदि आ जाते हैं किन्तु उनसे चारित्र का विकास नहीं दबता केवल उसमें थोड़ा सा मैल आ जाता है। चारित्र की शुद्धि और स्थिरता में कुछ फरक पड़ जाता है। जिस प्रकार वायु के सामान्य झकोरे से दीपक की शिखा कम ज्यादह होती रहती है

किन्तु बुझती नहीं, इसी प्रकार संज्वलन कषाय के उदय से चारित्र की निर्मलता में फरक पड़ जाता है, आवरण नहीं होता। आत्मा जब संज्वलन कषाय को दबाता है तो सातवें गुणस्थान से बढ़ता हुआ ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान तक पहुँचता है। उपशमश्रेणी वाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है और वहाँ की स्थिति पूरी होने पर वापिस दसवें गुणस्थान में आ जाता है। फिर उपशान्त कर्म उदय में आ जाने से नीचे के गुणस्थानों में आ जाता है। क्षपकश्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान में उन प्रकृतियों का सर्वथा क्षय कर ग्यारहवें में न जाकर सीधा बारहवें में चला जाता है। दर्शन और चारित्र दोनों शक्तियाँ उस समय पूर्ण विकसित हो जाती हैं। इसके बाद जीव तेरहवें गुणस्थान में पहुँचता है। चारों घाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से उस समय जीव को केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है। फिर भी मन, वचन और काया (शरीर) रूप तीन योगों का सम्बन्ध रहने के कारण आत्मा की स्थिरता पूर्ण नहीं होने पाती। चौदहवें गुणस्थान में वह पूर्ण हो जाती है। इस के बाद शीघ्र ही शरीर छूट जाता है और आत्मा अपने स्वभाव में लीन हो जाता है। इस के बाद आत्मा सदा एक सा रहता है, इसी को मोक्ष कहते हैं। आत्मा की शक्तियों का पूर्ण विकास होना ही मोक्ष है।

गुणस्थानों के नाम और स्वरूप इस प्रकार हैं-

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान–मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जिस अवस्था में जीव की दृष्टि (श्रद्धा या ज्ञान) मिथ्या (उल्टी) होती है उसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं। जैसे धतूरे के बीज को खाने वाले अथवा पीलिए रोग वाले को सफेद चीज भी पीली दिखाई देती है अथवा पित्त के प्रकोप वाले रोगी को मिश्री भी कड़वी लगती है इसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव कुदेव में देव बुद्धि, कुगुरु में

गुरु बुद्धि और कुधर्म में धर्म बुद्धि रखता है। जीव की इसी अवस्था को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

(२) सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान– जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व वाला है परन्तु अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़ कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, वह जीव जब तक मिथ्यात्व प्राप्त नहीं करता तब तक सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है। जीव की इस अवस्था को सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। इसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका है।

इस गुणस्थान में यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है तथापि जिस प्रकार खीर खाकर उसका वमन करने वाले मनुष्य को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव में आता है इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिर कर मिथ्यात्व की ओर झुके हुए जीव को भी कुछ काल के लिए सम्यक्त्व गुण का आस्वाद अनुभव में आता है। अत एव इस गुणस्थान को सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

(३) सम्यङ्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान–मिश्र मोहनीय के उदय से जब जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कुछ मिथ्या (अशुद्ध) रहती है उसे सम्यङ्मिथ्यादृष्टि कहा जाता है और जीव की इस अवस्था को सम्यङ्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न रहने से आत्मा में शुद्धता एवं मिथ्यात्व मोहनीय का उदय रहने से अशुद्धता रहती है, इसी लिए इस गुणस्थान में मिश्र परिणाम रहते हैं। जैसे गुड़ मिले हुए दही का स्वाद कुछ मीठा और कुछ खट्टा होता है, इसी प्रकार इस अवस्था में जीव की श्रद्धा कुछ सच्ची तथा कुछ मिथ्या होती है। उस समय जीव किसी बात पर दृढ़ होकर विश्वास नहीं करता। इस गुणस्थान के समय बुद्धि में दुर्बलता सी आ जाती है। इस कारण से जीव सर्वज्ञ द्वारा कहे गए तत्त्वों पर न तो एकान्त

रुचि करता है और न एकान्त अरुचि। जिस प्रकार नारिकेल द्वीप निवासी पुरुष ओदन (भात) के विषय में न रुचि रखते हैं, न अरुचि। जिस द्वीप में प्रधानतया नारियल पैदा होते हैं, वहाँ के निवासियों ने चावल आदि अन्न न तो देखा है और न सुना है। इससे पहले बिना देखे और बिना सुने अन्न को देख कर वे न तो रुचि करते हैं और न अरुचि, किन्तु समभाव रखते हैं इसी प्रकार सम्यङ्मिथ्यादृष्टि जीव भी सर्वज्ञ कथित मार्ग पर प्रीति या अप्रीति कुछ न करके समभाव रखता है। इस प्रकार की स्थिति अन्तर्मुहूर्त ही रहती है। इसके बाद सम्यक्त्व या मिथ्यात्व इन दोनों में से कोई प्रबल हो जाता है, अत एव तीसरे गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मानी गई है।

(४) अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान–सावद्य व्यापारों को छोड़ देना अर्थात् पापजनक व्यापारों से अलग हो जाना विरति है। चारित्र और व्रत, विरति का ही नाम है। जो जीव सम्यग्दृष्टि हो कर भी किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता वह जीव अविरतसम्यग्दृष्टि है और उसका स्वरूपविशेष अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। अविरत जीव सात प्रकार के होते हैं–

(क) जो व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते हैं और न पालते हैं, ऐसे साधारण लोग।

(ख) जो व्रतों को जानते नहीं, स्वीकारते नहीं किन्तु पालते हैं, ऐसे अपने आप तप करने वाले तपस्वी।

(ग) जो व्रतों को जानते नहीं किन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार कर पालते नहीं, ऐसे ढीले पासत्थे साधु जो संयम लेकर निभाते नहीं।

(घ) जिनको व्रतों का ज्ञान नहीं है किन्तु उनका स्वीकार तथा पालन बराबर करते हैं, ऐसे अगीतार्थ मुनि।

(ङ) जो व्रतों को जानते हुए भी उनका स्वीकार तथा पालन नहीं करते, जैसे श्रेणिक, कृष्ण आदि।

(च) जो व्रतों को जानते हुए भी उनका स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु पालन करते हैं जैसे अनुत्तर विमानवासी देव।

(छ) जो व्रतों को जान कर स्वीकार कर लेते हैं किन्तु पीछे उनका पालन नहीं कर सकते जैसे संविग्नपाक्षिक।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्ग्रहण (अच्छी तरह अंगीकार करना) और सम्यक्पालन से ही व्रत सफल होते हैं। जिन को व्रतों का अच्छी तरह ज्ञान नहीं है, जो व्रतों को विधिपूर्वक ग्रहण नहीं करते और जो व्रतों का पालन नहीं करते वे जैसे तैसे व्रत पाल भी लेवें तो उनसे पूरा फल नहीं होता। उपरोक्त सात प्रकार के अविरतों में से पहले चार अविरत जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं क्योंकि उन्हें व्रतों का यथार्थज्ञान ही नहीं है। पिछले तीन प्रकार के अविरत जीव सम्यग्दृष्टि हैं क्योंकि वे व्रतों का यथाविधि ग्रहण या पालन न कर सकने पर भी उन्हें अच्छी तरह जानते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि कोई जीव औपशमिक सम्यक्त्व वाले होते हैं और कोई क्षायिक सम्यक्त्व वाले होते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि जीव व्रत-नियमादि को यथावत् जानते हुए भी स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें अप्रत्याख्यानावरण का उदय रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय चारित्र के ग्रहण तथा पालन को रोकता है।

(५) देशविरतगुणस्थान– प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो जीव पापजनक क्रियाओं से सर्वथा निवृत्त न होकर एक-देश से निवृत्त होते हैं वे देशविरत या श्रावक कहलाते हैं, ऐसे जीवों के स्वरूप को देशविरत गुणस्थान कहते हैं। कोई श्रावक एक व्रत को धारण करता है और कोई दो व्रतों को। इस प्रकार अधिक से अधिक व्रत धारण करने वाले श्रावक ऐसे भी होते हैं जो पापकर्मों को दो करण तीन योग से छोड़ देते हैं। अनुमति तीन प्रकार की है–प्रतिसेवनानुमति, प्रतिश्रवणानुमति, संवासानुमति।

अपने या दूसरे के लिए बने हुए भोजन आदि का उपभोग करना 'प्रतिसेवनानुमति' है। पुत्र आदि किसी सम्बन्धी के द्वारा किए गए पापकर्म को सुन कर भी पुत्र आदि को उस पापकर्म से न रोकना 'प्रतिश्रवणानुमति' है। पुत्र आदि अपने सम्बन्धियों के पापकर्म में प्रवृत्त होने पर उनके ऊपर सिर्फ ममता रखना अर्थात् न तो पापकर्मों को सुनना और न उनकी प्रशंसा करना 'संवासानुमति' है। जो श्रावक पापजनक आरम्भों में किसी प्रकार से योग नहीं देता, केवल संवासानुमति को सेवता है वह अन्य सब श्रावकों से श्रेष्ठ है।

(६) प्रमत्तसंयतगुणस्थान– जो जीव पापजनक व्यापारों से सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं वे ही संयत (मुनि) हैं। संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं तब तक प्रमत्तसंयत कहलाते हैं और उनका स्वरूप विशेष प्रमत्तसंयत गुणस्थान है। संयत (मुनि) के सावद्य व्यापार का सर्वथा त्याग होता है। वे संवासानुमति का भी सेवन नहीं करते। छठे गुणस्थान से लेकर आगे किसी गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं रहता। इसी लिए वहाँ सावद्य व्यापार का सर्वथा त्याग होता है।

(७) अप्रमत्तसंयतगुणस्थान– जो मुनि निद्रा, विषय, कषाय, विकथा आदि प्रमादों का सेवन नहीं करते वे अप्रमत्तसंयत हैं और उनका स्वरूप विशेष अप्रमत्तसंयतगुणस्थान है। प्रमाद सेवन से ही आत्मा अशुद्ध होता है इस लिए सातवें गुणस्थान से आत्मा उत्तरोत्तर शुद्ध होने लगता है। सातवें गुणस्थान से लेकर आगे सभी गुणस्थानों में वर्तमान मुनि प्रमाद का सेवन नहीं करते, वे अपने स्वरूप में सदा जागृत रहते हैं।

(८) नियट्टि (निवृत्ति) बादर गुणस्थान– जिस जीव के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया तथा लोभ चारों निवृत्त हो गए हों उसके स्वरूप विशेष को

नियट्टिबादर गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं–उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। उपशमश्रेणी वाला जीव मोहनीय की प्रकृतियों का उपशम करता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव दसवें से सीधा बारहवें गुणस्थान में जाकर अपडिवाई (अप्रतिपाती) हो जाता है।

जो जीव आठवें गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं, जो प्राप्त कर रहे हैं और जो प्राप्त करेंगे उन सब जीवों के अध्यवसाय स्थानों (परिणाम भेदों) की संख्या असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर है। आठवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात समय होते हैं जिनमें से प्रथम समयवर्ती तीनों काल के जीवों के अध्यवसाय भी असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के तुल्य हैं। इस प्रकार दूसरे तीसरे आदि प्रत्येक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी गणना में असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर ही हैं। असंख्यात संख्या के असंख्यात प्रकार हैं। इस लिए एक एक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या और सब समयों में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या दोनों असंख्यात ही हैं, किन्तु असंख्यात होने पर भी वे दोनों तुल्य नहीं हैं।

यद्यपि आठवें गुणस्थान में रहने वाले तीनों कालों के जीव अनन्त हैं तथापि उनके अध्यवसाय असंख्यात ही होते हैं। इस का कारण यह है कि समान समयवर्ती जीवों के अध्यवसाय यद्यपि आपस में जुदे जुदे (न्यूनाधिक शुद्धि वाले) होते हैं, तथापि समसमयवर्ती बहुत जीवों के अध्यवसाय तुल्य शुद्धि वाले होने से जुदे जुदे नहीं माने जाते। प्रत्येक समय के असंख्यात अध्यवसायों में से जो अध्यवसाय कम शुद्धि वाले होते हैं वे जघन्य तथा जो अध्यवसाय अन्य अध्यवसायों की अपेक्षा अधिक शुद्धि वाले होते हैं

वे उत्कृष्ट कहे जाते हैं। इस प्रकार एक वर्ग जघन्य अध्यवसायों का होता है और दूसरा उत्कृष्ट अध्यवसायों का। इन दो वर्गों के बीच में असंख्यात वर्ग हैं जिन के सब अध्यवसाय मध्यम कहलाते हैं। प्रथम वर्ग के जघन्य अध्यवसायों की अपेक्षा अन्तिम वर्ग के उत्कृष्ट अध्यवसायों की शुद्धि अनन्तगुणी अधिक मानी गई है। बीच के सब वर्गों में पूर्व पूर्व वर्ग के अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर के अध्यवसाय विशेष शुद्ध माने जाते हैं। सामान्यतः इस प्रकार माना जाता है कि समसमयवर्ती अध्यवसाय एक दूसरे से अनन्तभाग अधिक शुद्ध, असंख्यात भाग अधिक शुद्ध, संख्यात भाग अधिक शुद्ध, संख्यात गुण अधिक शुद्ध, असंख्यात गुण अधिक शुद्ध और अनन्तगुण अधिक शुद्ध होते हैं। शुद्धि के इन छह प्रकारों को शास्त्र में षट् स्थान कहते हैं। प्रथम समय के अध्यवसायों की अपेक्षा दूसरे समय के अध्यवसाय भिन्न ही होते हैं और प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों से दूसरे समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुण विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अन्तिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसायों से पर पर समय के अध्यवसाय भिन्न भिन्न समझने चाहिएं तथा पूर्व पूर्व समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुण विशुद्ध समझने चाहिएं।

आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। जैसे–स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण और अपूर्वस्थिति बन्ध।

(क) जो कर्म दलिक आगे उदय में आने वाले हैं, उन्हें अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने अपने उदय के नियत समयों से हटा देना अर्थात् ज्ञानावरण आदि कर्मों की लम्बी स्थिति को अपवर्तनाकरण के द्वारा घटा देना स्थितिघात है।

(ख) बँधे हुए ज्ञानादि कर्मों के प्रचुर रस (फल देने की तीव्र शक्ति) को अपवर्तना करण के द्वारा मन्द कर देना रसघात है।

(ग) जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है अर्थात् जो कर्मदलिक अपने अपने उदय के नियत समयों से हटाए जाते हैं उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणी है।

स्थापना का क्रम इस प्रकार है– उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त के जितने समय होते हैं, उनमें से उदयावलिका के समयों को छोड़ कर शेष जितने समय रहते हैं उनमें से प्रथमसमय में जो दलिक स्थापित किए जाते हैं वे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित किए जाने वाले दलिक प्रथमसमय में स्थापित दलिकों से असंख्यात गुण अधिक होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समयपर्यन्त पर पर समय में स्थापित किए जाने वाले दलिकों से असंख्यातगुण ही समझने चाहिएं।

(घ) जिन शुभ कर्मप्रकृतियों का बन्ध अभी हो रहा है उनमें पहले बँधी हुई अशुभ प्रकृतियों का संक्रमण कर देना अर्थात् पहले बँधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बँधने वाली शुभ प्रकृतियों के रूप में परिणत कर देना गुणसंक्रमण कहलाता है।

गुणसंक्रमण का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है– प्रथम समय में अशुभ प्रकृतियों के जितने दलिकों का शुभ प्रकृतियों में संक्रमण होता है, उनकी अपेक्षा दूसरे समय में असंख्यात गुण अधिक दलिकों का संक्रमण होता है। इस प्रकार जब तक गुणसंक्रमण होता रहता है तब तक पूर्व पूर्व समय में संक्रामित दलिकों से उत्तर उत्तर समय में असंख्यात गुण अधिक दलिकों का ही संक्रमण होता है।

(ङ) पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्पस्थिति के कर्मों को बाँधना 'अपूर्वस्थितिबन्ध' कहलाता है।

स्थितिघात आदि पाँच बातें यद्यपि पहले के गुणस्थानों में भी

होती हैं किन्तु आठवें गुणस्थान में अपूर्व ही होती हैं क्योंकि पहले गुणस्थानों की अपेक्षा आठवें गुणस्थान में अध्यवसायों की शुद्धि अत्यन्त अधिक होती है। अत एव पहले के गुणस्थानों में बहुत कम स्थिति का और अति अल्प रस का घात होता है परन्तु आठवें गुणस्थान में अधिक स्थिति का तथा अधिक रस का घात होता है। इसी तरह पहले के गुणस्थानों में गुणश्रेणी की कालमर्यादा अधिक होती है तथा जिन दलिकों की गुणश्रेणी (रचना, स्थापना) की जाती है वे दलिक भी अल्प ही होते हैं। आठवें गुणस्थान में गुणश्रेणी योग्य दलिक तो बहुत अधिक होते हैं परन्तु श्रेणी का कालमान बहुत कम होता है, तथा पहले गुणस्थानों की अपेक्षा आठवें गुणस्थान में गुणसंक्रमण बहुत कर्मों का होता है अत एव अपूर्व होता है और आठवें गुणस्थान में इतनी अल्पस्थिति के कर्म बाँधे जाते हैं कि जितनी अल्पस्थिति वाले कर्म पहले के गुणस्थानों में कभी नहीं बँधते। इस प्रकार स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस आठवें गुणस्थान का दूसरा नाम अपूर्वकरण गुणस्थान भी शास्त्र में प्रसिद्ध है।

जैसे राज्य पाने की योग्यता मात्र से राजकुमार राजा कहा जाता है, वैसे ही आठवें गुणस्थानवर्ती जीव चारित्र मोहनीय के उपशमन या क्षपण के योग्य होने से उपशमक या क्षपक कहलाते हैं। चारित्र मोहनीय के उपशमन या क्षपण का प्रारम्भ तो नवें गुणस्थान में ही होता है, आठवें गुणस्थान में तो केवल उस की योग्यता होती है।

(९) अनियट्टि बादर सम्पराय गुणस्थान– संज्वलन क्रोध, मान और माया कषाय से जहाँ निवृत्ति न हुई हो ऐसी अवस्था-विशेष को अनियट्टि (अनिवृत्ति) बादर गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं उतने ही अध्यवसायस्थान नवें

गुणस्थान में माने जाते हैं, क्योंकि नवें गुणस्थान में जितने जीव समसमयवर्ती रहते हैं उन सब के अध्यवसाय एक सरीखे (तुल्य शुद्धि वाले) होते हैं, जैसे प्रथम समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय समान होते हैं इसी प्रकार दूसरे समय से लेकर नवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक तुल्य समय में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी तुल्य ही होते हैं। सभी तुल्य अध्यवसायों को एक ही अध्यवसायस्थान मान लिया जाता है, इस बात को समझने की सरल रीति यह भी है कि नवें गुणस्थान के अध्यवसायों के उतने ही वर्ग हो सकते हैं जितने उस गुणस्थान के समय हैं। एक एक वर्ग में चाहे त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों की अनन्त शक्तियाँ शामिल हों, परन्तु प्रतिवर्ग अध्यवसायस्थान एक ही माना जाता है, क्योंकि एक वर्ग के सभी अध्यवसाय शुद्धि में बराबर ही होते हैं किन्तु प्रथम समय के अध्यवसाय स्थान से दूसरे समय के अध्यवसायस्थान अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार नवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसाय स्थान से उत्तर उत्तर समय के अध्यवसाय स्थान को अनन्त गुण विशुद्ध समझना चाहिए। आठवें गुणस्थान से नवें गुणस्थान में यही विशेषता है कि आठवें गुणस्थान में तो समान समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय शुद्धि के तरतमभाव से असंख्यात वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं, परन्तु नवें गुणस्थान में समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों की समान शुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो सकता है। पूर्व पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर उत्तर गुणस्थान में कषाय के अंश बहुत कम होते जाते हैं और कषाय (संक्लेश) की कमी के साथ साथ जीव परिणामों की शुद्धि बढ़ती जाती है। आठवें गुणस्थान से नवें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके

अध्यवसायों की भिन्नताएं आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती हैं।

दसवें गुणस्थान की अपेक्षा नवें गुणस्थान में बादर (स्थूल) सम्पराय (कषाय) उदय में आता है तथा नवें गुणस्थान के सम-समयवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति (भिन्नता) नहीं होती। इसी लिए इस गुणस्थान का 'अनिवृत्तिबादरसम्पराय' ऐसा सार्थक नाम शास्त्र में प्रसिद्ध है।

नवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं- एक उपशमक और दूसरे क्षपक। जो चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करते हैं वे उपशमक कहलाते हैं। जो चारित्रमोहनीय कर्म का क्षपण (क्षय) करते हैं वे क्षपक कहलाते हैं।

(१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान- इस गुणस्थान में सम्पराय अर्थात् लोभ कषाय के सूक्ष्म खण्डों का ही उदय रहता है। इस गुणस्थान के जीव भी उपशमक और क्षपक दोनों प्रकार के होते हैं। संज्वलन लोभ कषाय के सिवाय बाकी कषायों का उपशम या क्षय तो पहले ही हो जाता है। इस लिए दसवें गुणस्थान में जीव संज्वलन लोभ का उपशम या क्षय करता है। उपशम करने वाला जीव उपशमक तथा क्षय करने वाला जीव क्षपक कहलाता है।

(११) उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान- जिनके कषाय उपशान्त हुए हैं, जिन को राग अर्थात् माया और लोभ का भी बिल्कुल उदय नहीं है और जिन को छद्म (आवरण भूत घाती कर्म) लगे हुए हैं वे जीव उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ कहलाते हैं और उनके स्वरूप को उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानी गई है।

इस गुणस्थान में वर्तमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त

करने में समर्थ नहीं होता क्योंकि जो जीव क्षपक श्रेणी करता है वही आगे के गुणस्थानों में जा सकता है। ग्यारहवें गुणस्थान वाला जीव नियम से उपशम श्रेणी वाला ही होता है, अत एव वह ग्यारहवें गुणस्थान से गिर पड़ता है। ग्यारहवें गुणस्थान का समय पूरा होने से पहले ही जो जीव आयु के क्षय होने से काल कर जाता है वह अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है। उस समय वह ग्यारहवें से गिर कर चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि अनुत्तर विमान-वासी देवों में केवल चौथा गुणस्थान होता है। चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर वह जीव उन सब कर्मप्रकृतियों का बन्ध, उदय और उदीरणा एक साथ शुरू कर देता है जिनका बन्ध और उदय आदि चौथे गुणस्थान में सम्भव है।

जिस जीव के आयु शेष रहने पर भी गुणस्थान का समय पूरा हो जाता है वह आरोहक्रम से गिरता है अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ़ते समय उस जीव ने जिन जिन गुणस्थानों को जिस क्रम से प्राप्त किया था या जिन कर्मप्रकृतियों का जिस क्रम से उपशम करके वह ऊपर चढ़ा था वे सब प्रकृतियाँ उसी क्रम से उदय में आती हैं। इस प्रकार गिरने वाला जीव कोई छठे गुणस्थान तक आता है, कोई पाँचवें, कोई चौथे और कोई दूसरे में होकर पहले तक आता है।

क्षपक श्रेणी के बिना कोई जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। ग्यारहवें गुणस्थान में उपशम श्रेणी वाला ही जाता है इस लिए वह अवश्य गिरता है। एक जन्म में दो बार से अधिक उपशम श्रेणी नहीं की जा सकती। क्षपक श्रेणी तो एक ही बार होती है। जिस ने एक बार उपशम श्रेणी की है वह उसी जन्म में क्षपक श्रेणी द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है परन्तु जो दो बार उपशम श्रेणी कर चुका है वह फिर उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता यह बात कर्मग्रन्थ के अनुसार लिखी गई है। सिद्धान्त के अनुसार जीव एक

जन्म में एक ही श्रेणी कर सकता है अतएव जिसने एक बार उपशम श्रेणी की है वह फिर उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता।

उपशम श्रेणी के आरम्भ का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है--चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव पहले चार अनन्तानुबन्धी कषायों का उपशम करता है। इसके बाद अन्तर्मुहूर्त में एक साथ दर्शन मोह की तीनों प्रकृतियों का उपशम करता है। इसके बाद वह जीव छठे तथा सातवें गुणस्थान में सैकड़ों बार आता जाता है, फिर आठवें गुणस्थान में होकर नवें गुणस्थान को प्राप्त करता है और नवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का उपशम शुरू करता है। सब से पहले वह नपुँसकवेद का उपशम करता है, इसके बाद स्त्रीवेद का उपशम करता है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के क्रोध, मान, माया, लोभ तथा संज्वलन के क्रोध, मान और माया इन सब प्रकृतियों का उपशम नवें गुणस्थान के अन्त तक करता है। संज्वलन लोभ को दसवें गुणस्थान में उपशान्त करता है।

(१२) क्षीणकषाय छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान- जिस जीव ने मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर दिया है किन्तु शेष छद्म (घाती कर्म) अभी विद्यमान हैं उसे क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ कहते हैं और उसके स्वरूप को क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है। इसे क्षपक श्रेणी वाले जीव ही प्राप्त करते हैं।

क्षपक श्रेणी का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है– जो जीव क्षपक श्रेणी करने वाला होता है वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में सब से पहले अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का एक साथ क्षय करता है। इसके बाद

अनन्तानुबन्धी कषाय के अवशिष्ट अनन्तवें भाग को मिथ्यात्व में डाल कर दोनों का एक साथ क्षय करता है। इसके बाद मिश्रमोहनीय और समकित मोहनीय का क्षय करता है। आठवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के क्षय का प्रारम्भ करता है। इन आठ प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने से पहले ही नवें गुणस्थान को प्रारम्भ कर देता है और उसी समय नीचे लिखी १६ प्रकृतियों का क्षय करता है-- (१) निद्रानिद्रा (२) प्रचलाप्रचला (३) स्त्यानगृद्धि (४) नरक गति (५) नरकानुपूर्वी (६) तिर्यञ्च गति (७) तिर्यञ्चानुपूर्वी (८) एकेन्द्रिय जाति नामकर्म (९) द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म (१०) त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म (११) चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म (१२) आतप (१३) उद्योत (१४) स्थावर (१५) सूक्ष्म (१६) साधारण। इनके बाद अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के बाकी बचे हुए भाग का क्षय करता है। तदनन्तर क्रम से नपुँसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य आदि छः, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान और संज्वलन माया का क्षय करता है और संज्वलन लोभ का क्षय दसवें गुणस्थान में करता है।

(१३) सयोगी केवली गुणस्थान-जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय चार घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है उनको सयोगी केवली कहते हैं और उनके स्वरूप-विशेष को सयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं।

योग का अर्थ है आत्मा की प्रवृत्ति या व्यापार। प्रवृत्ति या व्यापार के तीन साधन हैं, इस लिए योग के भी तीन भेद हैं-- मनो योग, वचन योग और काय योग। किसी को मन से उत्तर देने में केवली भगवान् को मन का उपयोग करना पड़ता है। जिस समय कोई मनःपर्ययज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देव भगवान् को शब्द

द्वारा न पूछ कर मन से ही पूछता है उस समय केवली भगवान् भी उस प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करने वाला मनःपर्यय ज्ञानी भगवान् द्वारा मन में सोचे हुए उत्तर को प्रत्यक्ष जान लेता है और अवधिज्ञानी उस रूप में परिणत हुए मनोवर्गणा के परमाणुओं को देख कर मालूम कर लेता है।

उपदेश देने के लिए केवली भगवान् वचन योग का उपयोग करते हैं। हलन चलन आदि क्रियाओं में काययोग का उपयोग करते हैं।

(१४) अयोगी केवली गुणस्थान–जो केवली भगवान् योगों से रहित हैं वे अयोगी केवली कहे जाते हैं। उनके स्वरूप विशेष को अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं।

तीनों प्रकार के योग का निरोध करने से अयोगी अवस्था प्राप्त होती है। केवली भगवान् सयोगी अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड़ पूर्व तक रहते हैं। इसके बाद जिस केवली के आयु कर्म की स्थिति और प्रदेश कम रह जाते हैं तथा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति और प्रदेश आयु कर्म की अपेक्षा अधिक बच जाते हैं वे समुद्घात करते हैं। समुद्घात के द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र की स्थिति आयु के बराबर कर लेते हैं। जिन केवलियों के वेदनीय आदि उक्त तीन कर्म स्थिति तथा परमाणुओं में आयुकर्म के बराबर होते हैं उन्हें समुद्घात करने की आवश्यकता नहीं है। इस लिए वे समुद्घात नहीं करते।

सभी केवलज्ञानी सयोगी अवस्था के अन्त में एक ऐसे ध्यान के लिए योगों का निरोध करते हैं जो परम निर्जरा का कारण, लेश्या से रहित तथा अत्यन्त स्थिरता रूप होता है।

योगों के निरोध का क्रम इस प्रकार है– पहले बादर काययोग से बादर मनोयोग तथा बादर वचनयोग को रोकते हैं। इसके बाद सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोकते हैं और फिर उसी

सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग तथा सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। अन्त में केवली भगवान् सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान के बल से सूक्ष्म काययोग को भी रोक देते हैं। इस प्रकार सब योगों का निरोध हो जाने से केवलज्ञानी भगवान् अयोगी बन जाते हैं और सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतरी पोले भाग को अर्थात् मुख, उदर आदि को आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। इसके बाद अयोगी केवली भगवान् समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाती शुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं और मध्यम रीति से पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय का 'शैलेशीकरण' करते हैं। सुमेरु पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व संवर रूप योग निरोध अवस्था को 'शैलेशी' कहते हैं। शैलेशी अवस्था में वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म की गुणश्रेणी से और आयुकर्म की यथास्थित श्रेणी से निर्जरा करना 'शैलेशी करण' है। शैलेशीकरण को प्राप्त करके अयोगी केवलज्ञानी उसके अन्तिम समय में वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार भवोपग्राही (जीव को संसार में बाँध कर रखने वाले) कर्मों को सर्वथा क्षय कर देते हैं उस समय उनके आत्मप्रदेश इतने संकुचित हो जाते हैं कि वे उनके शरीर के ⅔ भाग में समा जाते हैं। उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे एक समय में ऋजु गति से ऊपर की ओर सिद्धि क्षेत्र में चले जाते हैं। सिद्धि क्षेत्र लोक के ऊपर के भाग में वर्तमान है। इसके आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नहीं होती। इसका कारण यह है कि आत्मा को या पुद्गल को गति करने में धर्मास्तिकाय की अपेक्षा होती है और लोक के आगे धर्मास्तिकाय नहीं है। कर्ममल के हट जाने से शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्व गति इस प्रकार होती है जिस प्रकार कि मिट्टी के लेपों से युक्त तुम्बा लेपों के हट जाने से जल पर चला जाता है।

गुणस्थानों का स्वरूप ऊपर बताया जा चुका है। अब उनमें कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता को बताते हैं–

बन्धाधिकार

जीव के साथ नए कर्मों का सम्बन्ध होना बन्ध है। कर्मों की कुल १४८ प्रकृतियाँ हैं। यथा– ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयुष्य की ४, नामकर्म की ९३, गोत्र की २, अन्तराय की ५। इन १४८ प्रकृतियों के नाम, स्वरूप व विशेष विस्तार इसके तीसरे भाग के बोल नं० ५९० में दिया है। इनमें बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ १२० हैं। बन्धन नामकर्म तथा संघातन नामकर्म की ५-५ प्रकृतियाँ शरीर नामकर्म में ही गिन ली हैं तथा वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श की एक एक प्रकृति गिनी है। सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय को इन में नहीं गिना है। इस प्रकार २८ प्रकृतियाँ घटने से १२० रह जाती हैं। नीचे १२० प्रकृतियों के अनुसार बन्ध आदि बताए जाएंगे।

(१) पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म, आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म को छोड़कर बाकी ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। इसका कारण यह है कि तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध सम्यक्त्व वाले जीव के ही होता है और आहारकद्विक (आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म) का बन्ध अप्रमत्त संयम से ही होता है। मिथ्यादृष्टि जीवों में ये दोनों बातें नहीं होतीं क्योंकि चौथे गुणस्थान से पहले सम्यक्त्व और सातवें गुणस्थान से पहले अप्रमत्तसंयम नहीं होता। उक्त तीन प्रकृतियों को छोड़ कर शेष प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चारों कारणों से होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में इन चारों का सद्भाव रहने से वहाँ यथासम्भव ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

(२) सास्वादन गुणस्थान में १०१ कर्म प्रकृतियों का बन्ध

होता है। इसमें नीचे लिखी १६ प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं—नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु), जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति और चतुरिन्द्रिय जाति), स्थावर चतुष्क (स्थावर नामकर्म, सूक्ष्म नामकर्म, अपर्याप्त नामकर्म और साधारण नामकर्म) इस प्रकार ११ हुई। इनके सिवाय (१२) हुंडक संस्थान (१३) आतप नामकर्म (१४) सेवार्त संहनन (१५) नपुंसकवेद और (१६) मिथ्यात्व मोहनीय। इन सोलह प्रकृतियों का बन्धविच्छेद मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्त में ही हो जाता है, इस लिए दूसरे गुणस्थान में १०१ प्रकृतियाँ ही बँधती हैं।

(३) तीसरे गुणस्थान में ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है। दूसरे गुणस्थान के अन्त में नीचे लिखी २५ प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद हो जाता है—तिर्यञ्चत्रिक (तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी और तिर्यञ्चायु), स्त्यानगृद्धित्रिक (निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि), दुर्भगत्रिक (दुर्भग, दुःस्वर और अनादेय नामकर्म) बीच के चार संहनन तथा चार संस्थान, नीच गोत्र, उद्योत नाम कर्म, अशुभविहायोगति, स्त्रीवेद, अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क। दूसरे गुणस्थान के बाद इन पच्चीस प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता इस लिए आगे के गुणस्थानों में केवल ७६ प्रकृतियाँ बचती हैं। उनमें भी तीसरे गुणस्थान में मनुष्यायु और देवायु का बन्ध नहीं होता। इस लिए ७४ प्रकृतियाँ ही बचती हैं।

नरकत्रिक से लेकर मिथ्यात्वमोहनीय पर्यन्त १६ कर्म प्रकृतियाँ अत्यन्त अशुभ हैं। प्रायः नारकी, एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय जीवों के ही होती हैं और मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से ही बँधती हैं।

तिर्यञ्चत्रिक से लेकर अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का बन्ध अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से होता है। अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान में ही होता है आगे नहीं,

अतः उपरोक्त पच्चीस प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान के चरम समय तक ही बँध सकती हैं, तीसरे आदि गुणस्थानों में नहीं। तीसरे गुणस्थान में जीव का स्वभाव ऐसा होता है जिससे उस समय आयु का बन्ध नहीं होने पाता। इसी लिए मनुष्यायु तथा देवायु का बन्ध भी तीसरे गुणस्थान में नहीं होता। नरकायु तथा तिर्यञ्चायु तो १६ और २५ प्रकृतियों में आ गई हैं। इस प्रकार कुल ११७ प्रकृतियों में से १६+२५+२=४३ कम करने से तीसरे गुणस्थान में केवल ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

(४) चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। उपरोक्त ७४ तथा तीर्थङ्कर नामकर्म, मनुष्यायु और देवायु।

(५) देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान में ६७ कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है। उपरोक्त ७७ में से वज्रऋषभनाराच संहनन, मनुष्यत्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु), अप्रत्याख्यानावरण चार कषाय तथा औदारिक शरीर और औदारिक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म, ये १० प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय चौथे गुणस्थान के अन्त तक ही रहता है। पाँचवें से लेकर आगे के गुणस्थानों में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं रहता। कषायबन्ध के लिए यह नियम है कि जिस कषाय का जिन गुणस्थानों में उदय रहता है उन्हीं में उसका बन्ध होता है। इस लिए पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का बन्ध नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान में मनुष्य भव के योग्य कर्मप्रकृतियों का भी बन्ध नहीं होता सिर्फ देव भव के योग्य कर्म प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। इस लिए मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, वज्रऋषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर और औदारिक अंगोपांग इन छः प्रकृतियों का बन्ध भी इस गुणस्थान में नहीं होता क्योंकि ये

प्रकृतियाँ मनुष्य भव में ही काम आती हैं, इसलिए चार कषाय और मनुष्यगति आदि छः मिला कर १० प्रकृतियाँ कम करने से पाँचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

(६) छठे गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का बन्ध होता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय पाँचवें गुणस्थान के अन्त तक ही रहता है। छठे गुणस्थान में इसका उदय नहीं होता और इसी लिए बन्ध भी नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान की ६७ प्रकृतियों में से प्रत्याख्यानावरण की चार कम कर देने पर शेष ६३ प्रकृतियाँ छठे गुणस्थान में बन्धयोग्य रहती हैं।

(७) सातवें गुणस्थान में ५८ या ५६ प्रकृतियों का बन्ध होता है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो छठे गुणस्थान में देवायु के बन्ध का प्रारम्भ करके उसे उस गुणस्थान में बिना समाप्त किए ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं और फिर सातवें गुणस्थान में ही देवायु के बन्ध को समाप्त करते हैं। दूसरे वे जो देवायु के बन्ध का प्रारम्भ और समाप्ति दोनों छठे गुणस्थान में कर लेते हैं और फिर सातवें गुणस्थान में आते हैं। पहले प्रकार के जीवों को छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में अरति, शोक, अस्थिर नामकर्म, अशुभ नामकर्म, अयशःकीर्ति नामकर्म और असातावेदनीय इन छः कर्मप्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाता है। इस लिए छठे गुणस्थान की त्रेसठ प्रकृतियों में से छः घटा देने पर ५७ प्रकृतियाँ बचती हैं। दूसरे प्रकार के जीवों के छठे गुणस्थान के अन्त में उपरोक्त छः तथा देवायु इन सात कर्मप्रकृतियों का बन्धविच्छेद होता है। इस तरह सात कम करने पर ५६ प्रकृतियाँ शेष बचती हैं। दोनों प्रकार के जीव आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन दोनों प्रकृतियों को बाँध सकते हैं। इन दो के मिलाने पर ५९ या ५८ प्रकृतियाँ

होती हैं। जो जीव देवायुबन्ध को सातवें गुणस्थान में पूरा करते हैं उनके लिए ५६ तथा जो छठे में पूरा कर लेते हैं उनके लिए ५८ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य होती हैं।

(८) आठवें गुणस्थान के पहले भाग में ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है। जिस जीव के देवायु का बन्ध छठे गुणस्थान में पूरा नहीं होता उसके सातवें गुणस्थान में वह पूरा हो जाता है। इस लिए आठवें गुणस्थान के पहले भाग में शेष ५८ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। दूसरे से लेकर छठे तक पाँच भागों में ५६ प्रकृतियों का बन्ध होता है। निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का बन्धविच्छेद पहले भाग में ही हो जाता है, इस लिए दूसरे भाग में ये दो प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं। सातवें भाग में २६ प्रकृतियों का बन्ध होता है। क्योंकि नीचे लिखी तीस प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के छठे भाग से आगे नहीं बँधतीं– (१) देवगति (२) देवानुपूर्वी (३) पञ्चेन्द्रिय-जाति (४) शुभविहायोगति (५-१३) त्रसनवक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय) (१४-१७) औदारिक के सिवाय चार शरीर (१८-१९) वैक्रिय और आहारक अङ्गोपाङ्ग (२०) समचतुरस्र संस्थान (२१) निर्माण नामकर्म (२२) तीर्थङ्कर नामकर्म (२३) वर्ण (२४) गन्ध (२५) रस (२६) स्पर्श (२७) अगुरुलघु नामकर्म (२८) उपघात नामकर्म (२९) पराघात नामकर्म (३०) उच्छ्वास नामकर्म। इन प्रकृतियों के कम होने से आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में केवल २६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है।

(९) नवें गुणस्थान के पहले भाग में २२ प्रकृतियों का बन्ध होता है। उपरोक्त २६ प्रकृतियों में से हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार प्रकृतियों का बन्धविच्छेद आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में हो जाता है, इस लिए नवें गुणस्थान के पहले भाग में केवल २२ प्रकृतियों का बन्ध होता है। नवें गुणस्थान के दूसरे

भाग से लेकर पाँचवें भाग तक क्रमशः २१, २०, १६ और १८ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। पुरुषवेद, संज्वलन के क्रोध, मान, माया इन प्रकृतियों का बन्धविच्छेद नवें गुणस्थान के पाँच भागों में क्रमशः हो जाता है, इस लिए दूसरे भाग में पुरुषवेद का बन्ध नहीं होता। तीसरे भाग में संज्वलन क्रोध, चौथे में मान तथा पाँचवें में माया का बन्ध नहीं होता। इस प्रकार नवें गुणस्थान के पाँचवें भाग में केवल १८ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

(१०) दसवें गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। संज्वलन लोभ का नवें गुणस्थान के अन्त में बन्धविच्छेद हो जाने से दसवें गुणस्थान में बन्ध नहीं होता।

(११-१२-१३) ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक केवल सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। दसवें गुणस्थान के अन्त में नीचे लिखी सोलह प्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाता है-

(१-४) दर्शनावरण की चार (५) उच्चगोत्र (६) यशःकीर्ति नामकर्म (७-११) ज्ञानावरण की पांच (१२-१६) अन्तराय की पांच। इनके बाद केवल सातावेदनीय बचती है। उसका बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक होता है। ऊपर लिखी १६ प्रकृतियों का बन्ध कषाय से होता है। दसवें गुणस्थान से आगे कषाय न होने से उनका बन्ध नहीं होता।

सातावेदनीय का बन्ध भी इन गुणस्थानों में केवल योग के कारण होता है। कषाय न होने के कारण उसमें स्थिति या अनुभाव (फल देने की शक्ति) का बन्ध नहीं होता, इस लिए सातावेदनीय कर्म के पुद्गल पहले समय में बँधते हैं, दूसरे समय में वेदे जाते हैं और तीसरे समय में उनकी निर्जरा हो जाती है। उनकी स्थिति केवल दो समयों की होती है।

(१४) चौदहवें गुणस्थान में किसी प्रकृति का बन्ध नहीं होता,

इस लिए इसे अबन्धक गुणस्थान कहा जाता है। इस गुणस्थान में योगों का भी निरोध हो जाने से कर्मबन्ध का कोई कारण नहीं रहता, इस लिए भी बन्ध नहीं होता।

पीछे बताया जा चुका है कि कर्मबन्ध के चार कारण हैं–मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। इनमें से मिथ्यात्व पहले गुणस्थान में ही होता है। इस लिए मिथ्यात्व से बँधने वाली नरक आदि १६ प्रकृतियाँ आगे के किसी गुणस्थान में नहीं बँधतीं। इसी प्रकार अविरति, कषाय और योगरूप कारण जैसे जैसे दूर होते जाते हैं उनसे बँधने वाली प्रकृतियाँ भी कम होती जाती हैं। चौदहवें गुणस्थान में कोई कारण नहीं बचता और इस लिए किसी भी कर्मप्रकृति का बन्ध नहीं होता केवल शरीर का सम्बन्ध रहता है, उससे छूटते ही जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

आयुबन्ध पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में ही होता है। सातवें गुणस्थान में वही जीव आयु बाँधता है जिसने छठे गुणस्थान में देवायुबन्ध को पूरा नहीं किया है।

उदयाधिकार

विपाक का समय आने पर कर्मफल को भोगना उदय कहलाता है। उदय के योग्य १२२ कर्म प्रकृतियाँ हैं। बन्ध १२० प्रकृतियों का ही होता है। मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय का बन्ध नहीं होता। मिथ्यात्वमोहनीय ही परिणाम-विशेष से जब अर्द्ध-शुद्ध या शुद्ध हो जाता है तो मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोह-नीय के रूप में उदय में आता है, इस लिए उदय में बन्ध की अपेक्षा दो प्रकृतियाँ अधिक हैं।

(१) पहले गुणस्थान में ११७ कर्मप्रकृतियों का उदय होता है। १२२ में से नीचे लिखी पाँच कम हो जाती हैं– (१) मिश्र मोह-नीय (२) सम्यक्त्व मोहनीय (३) आहारक शरीर (४) आहारक

अंगोपांग और (५) तीर्थङ्कर नामकर्म। इन पाँच प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में नहीं होता।

(२) दूसरे गुणस्थान में १११ कर्म प्रकृतियों का उदय होता है। पहले गुणस्थान की ११७ प्रकृतियों में से नीचे लिखी छ: कम हो जाती हैं– (१) सूक्ष्म नामकर्म (२) अपर्याप्त नामकर्म (३) साधारण नामकर्म (४) आतप नामकर्म (५) मिथ्यात्व मोहनीय और (६) नरकानुपूर्वी।

(३) तीसरे गुणस्थान में १०० प्रकृतियों का उदय होता है। पूर्वोक्त १११ में से नीचे लिखी १२ प्रकृतियाँ कम करने से ९९ रह जाती हैं और उनमें मिश्र मोहनीय मिला देने से कुल १०० प्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थान में होता है। बारह प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं– अनन्तानुबन्धी चार कषाय (५) स्थावर नामकर्म (६-९) एकेन्द्रिय तथा तीन विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) (१०) तिर्यश्चानुपूर्वी (११) मनुष्यानुपूर्वी और (१२) देवानुपूर्वी।

(४) चौथे गुणस्थान में १०४ प्रकृतियों का उदय होता है। तीसरे गुणस्थान की १०० प्रकृतियों में से मिश्रमोहनीय का उदय चौथे गुणस्थान में नहीं होता। बाकी ९९ प्रकृतियों में नीचे लिखी पाँच और मिला दी जाती हैं-(१) सम्यक्त्व मोहनीय (२) देवानुपूर्वी (३) मनुष्यानुपूर्वी (४) तिर्यश्चानुपूर्वी और (५) नरकानुपूर्वी।

(५) पाँचवें गुणस्थान में ८७ प्रकृतियों का उदय होता है। ऊपर लिखी १०४ में से नीचे लिखी १७ कर्म प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं– (१) देव गति (२) नरक गति (३-६) चार आनुपूर्वी (७) देवायु (८) नरकायु (९) वैक्रिय शरीर (१०) वैक्रिय अंगोपांग (११) दुर्भग नामकर्म (१२) अनादेय नामकर्म (१३) अयश:कीर्ति नाम कर्म (१४-१७) अप्रत्याख्यानावरण के चार कषाय। इन १७ प्रकृतियों को घटा देने पर बाकी बची हुई ८७ प्रकृतियों का उदय

पाँचवे गुणस्थान में होता है।

(६) छठे गुणस्थान में ८१ प्रकृतियों का उदय होता है। ऊपर लिखी ८७ में से नीचे लिखी आठ घटाने पर ७९ बच जाती हैं। उनमें आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग नामकर्म मिलाने पर ८१ हो जाती हैं। वे आठ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं–(१) तिर्यञ्चगति (२) तिर्यञ्च आयु (३) नीच गोत्र (४) उद्योत नामकर्म और (५–८) प्रत्याख्यानावरण चार कषाय।

(७) सातवें गुणस्थान में ७६ प्रकृतियों का उदय होता है। उपरोक्त ८१ में से निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन पाँच प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान के अन्त तक ही रहता है। इस लिए सातवें गुणस्थान में इन पाँच प्रकृतियों के घटाने पर शेष ७६ बच जाती हैं।

(८) आठवें गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का उदय होता है। सम्यक्त्व मोहनीय और अन्त के तीन संहनन इन चार प्रकृतियों का सातवें गुणस्थान के अन्त में विच्छेद हो जाता है, इस लिए आठवें गुणस्थानमें ऊपर बताई गई ७६ प्रकृतियों में से चार कम हो जाती हैं।

(९) नवें गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों का उदय होता है। ऊपर बताई गई ७२ में से नीचे लिखी छः कम हो जाती हैं–हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा।

(१०) दसवें गुणस्थान में ६० प्रकृतियों का उदय होता है। पूर्वोक्त ६६ में से नीचे लिखी छः कम हो जाती हैं– (१) स्त्रीवेद (२) पुरुष वेद (३) नपुँसक वेद (४) संज्वलन क्रोध (५) संज्वलन मान (६) संज्वलन माया।

(११) ग्यारहवें गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का उदय होता है। पूर्वोक्त ६० में से संज्वलन लोभ कम हो जाता है।

(१२) बारहवें गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का उदय होता है। पूर्वोक्त ५९ में से ऋषभनाराच संहनन और नाराच संहनन ये दो प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं। ५७ प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त अर्थात् अन्तिम समय से पहले के समय तक पाया जाता है। निद्रा और प्रचला इन दो कर्मप्रकृतियों का उदय अन्तिम समय में नहीं होता। इससे पूर्वोक्त ५७ कर्म प्रकृतियों में से निद्रा और प्रचला को छोड़ कर शेष ५५ कर्म प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है।

(१३) तेरहवें गुणस्थान में ४२ प्रकृतियों का उदय हो सकता है। पूर्वोक्त ५५ में से नीचे लिखी १४ कर्मप्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान तक ही रहता है– ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, और अन्तराय की ५। ५५ में से १४ घटाने पर ४१ रह जाती हैं। तेरहवें गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म का भी उदय हो सकता है, इस लिए ४२ प्रकृतियाँ हो जाती हैं।

(१४) चौदहवें गुणस्थान में केवल १२ प्रकृतियों का उदय होता है। नीचे लिखी तीस प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान तक ही रहता है– (१) औदारिक शरीर (२) औदारिक अङ्गोपाङ्ग (३) अस्थिर नामकर्म (४) अशुभ नामकर्म (५) शुभविहायोगति (६) अशुभविहायोगति (७) प्रत्येक नामकर्म (८) स्थिर नामकर्म (९) शुभनामकर्म (१०) समचतुरस्र संस्थान (११) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान (१२) सादि संस्थान (१३) वामन संस्थान (१४) कुब्जक संस्थान (१५) हुण्डक संस्थान (१६) अगुरुलघु नामकर्म (१७) उपघात नामकर्म (१८) पराघात नामकर्म (१९) उच्छ्वास नामकर्म (२०) वर्ण (२१) रस (२२) गन्ध (२३) स्पर्श (२४) निर्माण नामकर्म (२५) तैजसशरीर नामकर्म (२६) कार्मणशरीर नामकर्म (२७) वज्रऋषभनाराच संहनन (२८) सुस्वर नामकर्म (२९) दुःस्वर

नामकर्म (३०) सातावेदनीय या असातावेदनीय (इन दोनों में से कोई एक)। इनका उदय चौदहवें गुणस्थान में नहीं होता इस लिए चौदहवें गुणस्थान में केवल १२ प्रकृतियों का उदय होता है। वे बारह प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं- (१) सुभग नामकर्म (२) आदेय नामकर्म (३) यशःकीर्ति नामकर्म (४) वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियों में से कोई एक (५) त्रस नामकर्म (६) बादर नामकर्म (७) पर्याप्त नामकर्म (८) पञ्चेन्द्रिय नामकर्म (६) मनुष्यायु (१०) मनुष्यगति (११) तीर्थङ्कर नामकर्म और (१२) उच्चगोत्र। इनका उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है। इन प्रकृतियों से मुक्त होते ही जीव शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

उदीरणाधिकार

विपाक का समय प्राप्त होने से पहले ही कर्मदलिकों को भोगना उदीरणा है अर्थात् कर्मदलिकों को प्रयत्नविशेष से खींच कर नियत समय से पहले ही उनके शुभाशुभ फलों को भोगना उदीरणा है। कर्मों के शुभाशुभ फलों को भोगना ही उदय तथा उदीरणा है, किन्तु दोनों में इतना भेद है कि उदय में किसी भी प्रकार के प्रयत्न के बिना स्वाभाविक क्रम से कर्मों के फल का भोग होता है और उदीरणा में प्रयत्न करने पर ही कर्मफल का भोग होता है।

पहले से लेकर छठे गुणस्थान तक उदय और उदीरणा एक समान हैं। सातवें से लेकर तेरहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में उदय की अपेक्षा उदीरणा में नीचे लिखी तीन प्रकृतियाँ कम हैं- (१) सातावेदनीय (२) असातावेदनीय और (३) मनुष्य आयु। उदयाधिकार में बताया जा चुका है कि छठे गुणस्थान में ८१ प्रकृतियों का उदय होता है। उनमें से (१) निद्रानिद्रा (२) प्रचलाप्रचला (३) स्त्यानगृद्धि (४) आहारक शरीर (५) आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म। इन पाँच प्रकृतियों का उदयविच्छेद छठे गुणस्थान के अन्त में

हो जाता है, इसलिए सातवें गुणस्थान में इनका उदय नहीं होता, किन्तु छठे गुणस्थान के अन्त में उदीरणा ८ प्रकृतियों की होती है। ऊपर लिखी पाँच और (१) सातावेदनीय (२) असातावेदनीय तथा (३) मनुष्यायु। इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा आगे भी किसी गुणस्थान में नहीं होती, इस लिए तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में तीन प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं।

चौदहवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति की उदीरणा नहीं होती क्योंकि उदीरणा होने में योग की अपेक्षा है और चौदहवें गुणस्थान में योग का निरोध हो जाता है।

सत्ताधिकार

बन्ध के समय जो कर्मपुद्गल जिस कर्मस्वरूप में परिणत होते हैं उन कर्मपुद्गलों का उसी कर्म स्वरूप में आत्मा के साथ लगे रहना कर्म की सत्ता कही जाती है। कर्मपुद्गलों का प्रथम स्वरूप को छोड़ कर दूसरे कर्मस्वरूप में बदल कर आत्मा के साथ लगे रहना भी सत्ता है। कर्मों का उसी स्वरूप में लगे रहना बन्ध-सत्ता है और दूसरे स्वरूप में बदल कर लगे रहना संक्रमणसत्ता है।

सत्ता में १४८ कर्मप्रकृतियाँ मानी जाती हैं। उदयाधिकार में पाँच बन्धन और पाँच संघातन की प्रकृतियाँ अलग नहीं हैं, उन्हें पाँच शरीरों में ही गिन लिया गया है तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की एक एक प्रकृति को ही गिना है। सत्ताधिकार में पाँचों शरीरों के पाँच बन्धन और पाँच संघातन अलग गिने जाते हैं। वर्ण ५, रस ५, गन्ध २ और स्पर्श ८ होने से वर्ण आदि की कुल २० प्रकृतियाँ गिनी जाती हैं। इनमें बन्धन और संघातन के मिलाने पर ३० हो जाती हैं। इनमें से समुच्चय रूप से गिनी जाने वाली वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की ४ प्रकृतियाँ कम कर देने पर २६ बचती हैं अर्थात् सत्ताधिकार में ५ बन्धन, ५ संघातन और १६

वर्णादि इस प्रकार २६ प्रकृतियाँ बढ़ जाती हैं। उदयाधिकार की १२२ प्रकृतियों में उपरोक्त २६ मिला देने पर कुल १४८ हो जाती हैं।

पहले तथा चौथे से लेकर ग्यारहवें तक नौ गुणस्थानों में सभी अर्थात् १४८ प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता नहीं होती, इस लिए इन दोनों में १४७ प्रकृतियों की ही सत्ता रहती है।

जिस जीव ने पहले नरक की आयु का बन्ध कर लिया है और बाद में सम्यक्त्व प्राप्त करके उसके बल से तीर्थङ्कर नामकर्म को भी बाँध लिया है वह जीव नरक में जाने से पहले मिथ्यात्व को अवश्य ही प्राप्त करता है। ऐसे जीव की अपेक्षा से ही पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता मानी गई है। दूसरे या तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव तीर्थङ्कर नामकर्म को नहीं बाँध सकता, क्योंकि उन दोनों गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व नहीं होता। इसी प्रकार तीर्थङ्कर नामकर्म को बाँध कर भी कोई जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर दूसरे या तीसरे गुणस्थान में नहीं जाता, इसी लिए दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म को छोड़ कर शेष १४७ कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है।

कर्मों की सत्ता दो प्रकार की है- सम्भवसत्ता और स्वरूपसत्ता। जीव के साथ बँधे हुए कर्मों की वर्तमान सत्ता को स्वरूपसत्ता कहते हैं और जिन कर्मों के वर्तमान अवस्था में बँधे हुए न होने पर भी बँधने की सम्भावना हो उनकी सत्ता को सम्भवसत्ता कहते हैं। ऊपर बताई गई १४७ और १४८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता सम्भवसत्ता की अपेक्षा से है अर्थात् उन प्रकृतियों की सत्ता हो सकती है। स्वरूपसत्ता की अपेक्षा दो प्रकार का आयुष्य कभी एक साथ नहीं रह सकता किन्तु सम्भवसत्ता की अपेक्षा रह सकता है।

चौथे गुणस्थान से सम्यक्त्व की अपेक्षा जीव के तीन भेद हो

जाते हैं-(१) क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी (२) औपशमिक सम्यक्त्वी और (३) क्षायिक सम्यक्त्वी। इनके फिर दो दो भेद हो जाते हैं- (१) चरम शरीरी और (२) अचरम शरीरी।

क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्वी अचरमशरीरी जीवों के चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक १४८ प्रकृतियों की सत्ता है।

पञ्चसंग्रह का सिद्धान्त है कि जो जीव अनन्तानुबन्धी ४ कषायों की विसंयोजना नहीं करता वह उपशम श्रेणी का प्रारम्भ नहीं कर सकता तथा यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि नरक या तिर्यञ्च की आयु बाँध कर जीव उपशम श्रेणी को नहीं प्राप्त कर सकता। इन दो सिद्धान्तों के अनुसार आठवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें तक १४२ कर्मप्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क की विसंयोजना तथा देवायु को बाँध कर जो जीव उपशम श्रेणी करता है उसके आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें इन चार गुणस्थानों में १४२ कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है। विसंयोजना क्षय को ही कहते हैं किन्तु क्षय में नष्ट किए कर्म का फिर सम्भव नहीं होता और विसंयोजना में होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व वाले अचरम शरीरी जीव के चौथे से लेकर आठवें गुणस्थान तक १४१ कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है। अनन्तानुबन्धी चार कषाय और सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय तथा मिश्रमोहनीय इन सात प्रकृतियों का क्षय हो जाने से वे सत्ता में नहीं रहतीं।

औपशमिक तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाले चरमशरीरी जीवों के चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है, क्योंकि इनके वर्तमान मनुष्यायु को छोड़ कर शेष देव, नरक और तिर्यञ्च इन तीन आयु कर्म प्रकृतियों की न स्वरूपसत्ता हो सकती है और न सम्भवसत्ता।

क्षायिक सम्यक्त्व वाले चरम शरीरी जीवों के चौथे गुणस्थान से लेकर नवें के प्रथम भाग तक १३८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है। अनन्तानुबन्धी चार कषाय, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और तीन आयु इन दस प्रकृतियों की सत्ता उस जीव के नहीं होती।

जो जीव वर्तमान जन्म में ही क्षपक श्रेणी कर सकते हैं वे क्षपक या चरमशरीरी कहे जाते हैं। उनके मनुष्य आयु ही सत्ता में रहती है दूसरी आयु नहीं। उन्हें भविष्य में भी दूसरी आयु सत्ता में होने की सम्भावना नहीं रहती। इस लिए क्षपक (चरमशरीरी) जीवों को मनुष्य आयु के सिवाय दूसरी आयु की न स्वरूपसत्ता है और न सम्भवसत्ता। इसी अपेक्षा से क्षपक (चरम शरीरी जिन्हें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हुआ है) जीवों के १४५ कर्मप्रकृतियों की सत्ता कही गई है परन्तु क्षपक जीवों में जो क्षायिक सम्यक्त्व वाले हैं उनके अनन्तानुबन्धी आदि सात प्रकृतियों का भी क्षय हो जाता है इसी लिए क्षायिक सम्यक्त्व वाले क्षपक जीवों के १३८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता कही गई है। जो जीव वर्तमान जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकते वे अचरम शरीरी कहलाते हैं।

नवें गुणस्थान के नौ भागों में से प्रथम भाग में क्षपक श्रेणी वाले जीव के पूर्वोक्त १३८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है। पहले भाग के अन्त में नीचे लिखी १६ प्रकृतियों का क्षय हो जाता है- (१) स्थावर नामकर्म (२) सूक्ष्म नामकर्म (३) तिर्यञ्च गति (४) तिर्यञ्चानुपूर्वी (५) नरकगति (६) नरकानुपूर्वी (७) आतप नामकर्म (८) उद्योत नामकर्म (९) निद्रानिद्रा (१०) प्रचलाप्रचला (११) स्त्यानगृद्धि (१२) एकेन्द्रिय (१३) बेइन्द्रिय (१४) तेइन्द्रिय (१५) चउरिन्द्रिय और (१६) साधारण नामकर्म, इस लिए दूसरे भाग में १२२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। दूसरे भाग के अन्तिम समय

में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण चौकड़ियों का क्षय हो जाता है इस लिए तीसरे भाग में ११४ प्रकृतियों की सत्ता रह जाती है। तीसरे भाग के अन्त में नपुंसकवेद का क्षय हो जाने से चौथे भाग में ११३ रह जाती हैं। चौथे के अन्त में स्त्रीवेद का क्षय हो जाने से पाँचवें में ११२। पाँचवें भाग के अन्त में हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा इन छः प्रकृतियों का क्षय हो जाता है, इस लिए छठे भाग में १०६। छठे के अन्त में पुरुष वेद का क्षय होने से सातवें भाग में १०५। सातवें के अन्त में संज्वलन क्रोध का क्षय होने से आठवें भाग में १०४ और आठवें के अन्त में संज्वलन मान का क्षय हो जाने से नवें भाग में १०३ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। नवें भाग के अन्त में संज्वलन माया का क्षय हो जाता है।

दसवें गुणस्थान में १०२ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है। इस गुणस्थान के अन्तिम समय में संज्वलन लोभ का अभाव हो जाता है इस लिए बारहवें गुणस्थान के दो भागों में से अर्थात् द्विचरम समय पर्यन्त (अन्तिम समय से एक समय पहले तक) १०१ कर्मप्रकृतियों की सत्ता हो सकती है। दूसरे भाग में अर्थात् द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। इस लिए बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ९९ प्रकृतियाँ सत्ता में रह जाती हैं। ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन १४ प्रकृतियों का क्षय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है।

तेरहवें गुणस्थान में ८५ कर्म प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं।

चौदहवें गुणस्थान में द्विचरम समय तक अर्थात् अन्तिम समय से पहले समय तक ८५ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। द्विचरम समय में नीचे लिखी ७२ कर्मप्रकृतियों का क्षय हो जाता है- (१)

देवगति (२) देवानुपूर्वी (३) शुभविहायोगति (४) अशुभविहायोगति (५) सुरभिगन्ध नामकर्म (६) दुरभिगन्ध नामकर्म (७–१४) आठ स्पर्श (१५–१६) पाँच वर्ण (२०–२४) पाँच रस (२५–२६) पाँच शरीर (३०–३४) पाँच बन्धन (३५–३६) पाँच संघातन (४०) निर्माण नामकर्म (४१–४६) संहनन छः (४७–५२) अस्थिरादि छः (अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशः कीर्ति), (५३–५८) संस्थान छः (५६–६२) अगुरुलघुचतुष्क (६३) अपर्याप्त नामकर्म, (६४) सातावेदनीय या असातावेदनीय, (६५–६७) प्रत्येक, स्थिर और शुभनामकर्म, (६८–७०) तीन अंगोपाङ्ग, (७१) सुस्वर नामकर्म और (७२) नीचगोत्र। द्विचरम समय में ७२ प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर अन्तिम समय में १३ कर्मप्रकृतियाँ बचती हैं। वे इस प्रकार हैं– (१ ३) मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु (४-६) त्रस, बादर और पर्याप्त-नामकर्म (७) यशःकीर्ति नामकर्म (८) आदेय नामकर्म (६) सुभग नामकर्म (१०) तीर्थङ्कर नामकर्म (११) उच्चगोत्र (१२) पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्म और (१३) सातावेदनीय या असाता वेदनीय इन दोनों में से एक।

इन तेरह प्रकृतियों का अभाव चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है और आत्मा निष्कर्म होकर मुक्त हो जाता है।

किसी किसी आचार्य का मत है चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे १२ प्रकृतियाँ ही रहती हैं। मनुष्यानुपूर्वी नहीं रहती। दूसरी ७२ प्रकृतियों के साथ स्तिबुकसंक्रम द्वारा उसका भी क्षय हो जाता है। उदय में नहीं आए हुए कर्मदलिकों को उसी जाति तथा बराबर स्थिति वाले उदयवर्ती कर्मदलिकों में बदल कर उन्हीं के साथ भोग लेना स्तिबुकसंक्रम कहा जाता है। ऊपर लिखी बारह प्रकृतियों के सिवाय बाकी सब सत्ता में रही हुई प्रकृतियों को

को जीव चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य (अन्त से पहले के) समय में स्तिबुकसंक्रम द्वारा हटा देता है। (कर्मग्रन्थ दूसरा)

गुणस्थानों का स्वरूप तथा कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता ऊपर बताए गए हैं। १४ गुणस्थान के थोकड़े में प्रत्येक गुणस्थान से सम्बन्ध रखने वाले २८ द्वार हैं। उनमें से (१) नामद्वार (२) लक्षण द्वार (३) बन्ध द्वार (४) उदय द्वार (५) उदीरणा द्वार और (६) सत्ता द्वार दूसरे कर्मग्रन्थ के अनुसार ऊपर बताए जा चुके हैं। बाकी द्वार संक्षेप से थोकड़े के अनुसार दिए जाते हैं–

(७) स्थिति द्वार– गुणस्थान विशेष में जीव के रहने की काल-मर्यादा को स्थिति कहते हैं। पहले गुणस्थान में जीवों की स्थिति तीन प्रकार की होती है– अनादि अपर्यवसित (जिसकी आदि भी नहीं है और अन्त भी नहीं है)। अभव्य या कभी मोक्ष न जाने वाले भव्य जीव अनादि काल से पहले गुणस्थान में हैं और अनन्त काल तक रहेंगे, उनकी अपेक्षा अनादि अपर्यवसित पहला भंग है। (२) अनादि सपर्यवसित (जिसकी आदि नहीं है किन्तु अन्त है) जो भव्य जीव अनादि काल से मिथ्यादृष्टि हैं किन्तु भविष्य में मोक्ष प्राप्त करेंगे, उनकी अपेक्षा दूसरी स्थिति है। (३) सादि सपर्यवसित अर्थात् जिसकी आदि भी है और अन्त भी है। जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ कर गिरता हुआ फिर पहले गुणस्थान में आ जाता है उसकी अपेक्षा से तीसरा भंग है। तीसरे भंग वाला जीव अधिक से अधिक देशोन अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन तक पहले गुणस्थान में रह सकता है।

दूसरे गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका की है। तीसरे गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। चौथे गुणस्थान की जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागरोपम झाझेरी। पाँचवें गुणस्थान की जघन्य अन्तर्मुहूर्त

और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड़ पूर्व की। छठे गुणस्थान की जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन करोड़ पूर्व। सातवें, आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। बारहवें गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। तेरहवें की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन करोड़ पूर्व है। चौदहवें गुणस्थान की स्थिति मध्यमरीति से यानी न धीरे न जल्दी पाँच लघु अक्षर अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, लृ के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतनी है।

(८) क्रिया द्वार– क्रियाएं पच्चीस हैं– काइया, अहिगरणिया, पाउसिया, परितावणिया, पाणाइवाइया, आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, मिच्छादंसणवत्तिया, अपच्चक्खाणिया, दिट्ठिया, पुट्ठिया, पाडुच्चिया, सामन्तोवणिवाइया, नेसत्थिया, साहत्थिया, आणवणिया, वेयारणिया, अणाभोगवत्तिया, अणवकंखवत्तिया, पओइया, समुदाणिया, पेज्जवत्तिया, दोसवत्तिया, ईरियावहिया।

पहले और तीसरे गुणस्थान में ईरियावहिया को छोड़ कर शेष २४ क्रियाएं पाई जाती हैं। दूसरे और चौथे गुणस्थान में मिच्छादंसणवत्तिया (मिथ्यादर्शन प्रत्यया) और ईरियावहिया को छोड़ कर शेष २३। पाँचवें में अविरति और पहले की दो को छोड़ कर २२। छठे गुणस्थान में उपरोक्त २२ में से परिग्गहवत्तिया को छोड़ कर २१ क्रियाएं पाई जाती हैं। सातवें से नवें तक आरम्भिया को छोड़ कर २० और दसवें गुणस्थान में मायावत्तिया को छोड़ कर १९ क्रियाएं पाई जाती हैं। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में केवल ईरियावहिया क्रिया पाई जाती है। चौदहवें गुणस्थान में कोई क्रिया नहीं होती।

(९) निर्जरा द्वार– पहले से लेकर दसवें गुणस्थान तक आठों कर्मों की निर्जरा होती है। ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में

मोहनीय के सिवाय सात कर्मों की तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में चार अघाती कर्मों की निर्जरा होती है।

(१०) भाव द्वार– पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक तीन भाव होते हैं। चौथे से दसवें तक पाँचों भाव होते हैं। ग्यारहवें में क्षायिक के सिवाय चार और बारहवें में औपशमिक के सिवा चार भाव होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक ये तीन भाव होते हैं। सिद्धों के क्षायिक और पारिणामिक भाव होते हैं।

(११) कारण द्वार– कर्मबन्ध के निमित्त को कारण कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं– मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। पहले और तीसरे गुणस्थान में पाँचों कारण होते हैं। दूसरे और चौथे में मिथ्यात्व के सिवाय चार। पाँचवें और छठे में मिथ्यात्व तथा अविरति को छोड़ कर तीन। सातवें से दसवें तक कषाय और योग दो। ग्यारहवें, बारहवें, और तेरहवें में केवल योग होता है। चौदहवें गुणस्थान में कोई कारण नहीं होता, इस लिए वहाँ कर्मबन्ध भी नहीं होता।

(१२) परीषह द्वार– संयम के कठोर मार्ग में विचरते हुए साधु को प्रतिकूल परिस्थिति के कारण जो कष्ट उठाने पड़ते हैं वे परीषह कहे जाते हैं। परीषह २२ हैं– (१) क्षुधा (२) तृषा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंशमशक (६) अचेल (७) अरति (८) स्त्री (९) चर्या (१०) निषद्या (११) शय्या (१२) आक्रोश (१३) वध (१४) याचना (१५) अलाभ (१६) रोग (१७) तृणस्पर्श (१८) जल्लमैल (१९) सत्कार पुरस्कार (२०) प्रज्ञा (२१) अज्ञान और (२२) दर्शन।

चार कर्मों के उदय से ये सभी परीषह होते हैं। ज्ञानावरणीय के उदय से बीसवाँ (प्रज्ञा) और इक्कीसवाँ (अज्ञान)। वेदनीय कर्म के उदय से १ से ५ तक तथा ९, ११, १३, १६, १७, १८ ये ग्यारह

परीषह होते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से बाईसवाँ (दर्शन) परीषह और चारित्र मोहनीय के उदय से सात परीषह होते हैं- ६, ७, ८, १०, १२, १४ और १६ वाँ। अन्तराय कर्म के उदय से १५वाँ अलाभ परीषह होता है।

पहले गुणस्थान से लेकर नवें गुणस्थान तक सभी परीषह होते हैं, जिनमें से एक समय में जीव अधिक से अधिक बीस वेदता है क्योंकि शीत और उष्ण परीषह एक साथ नहीं हो सकते। इसी प्रकार चर्या (विहार के कारण होने वाला कष्ट) और निषद्या (अधिक बैठे रहने के कारण होने वाला कष्ट) एक साथ नहीं हो सकते।

दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म से होने वाले आठ परीषहों को छोड़ कर बाकी चौदह होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में वेदनीय कर्म से होने वाले क्षुधा, तृषा आदि ग्यारह परीषह ही होते हैं।

(१३) आत्मद्वार- पहले और तीसरे गुणस्थान में ज्ञानात्मा और चारित्रात्मा के सिवाय छः आत्माएं पाई जाती हैं। दूसरे, चौथे और पाँचवें गुणस्थान में चारित्रात्मा के सिवाय सात आत्माएं पाई जाती हैं। छठे से लेकर दसवें तक आठों आत्माएं। ग्यारहवें से तेरहवें तक कषाय के सिवाय सात आत्माएं। चौदहवें में कषाय और योग के सिवाय छः आत्माएं होती हैं। सिद्ध भगवान् में ज्ञान, दर्शन, द्रव्य और उपयोग रूप चार आत्माएं ही हैं।

(१४) जीव द्वार- पहले गुणस्थान में जीव के चौदह भेद पाए जाते हैं। दूसरे में छः-बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और असंज्ञी तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त। तीसरे में एक- संज्ञी पर्याप्त। चौथे में दो-संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त। पाँचवें से लेकर चौदहवें तक एक- संज्ञी पर्याप्त।

(१५) गुणद्वार-पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक जीवों

में आठ बातें होती है–असंयती, अपचक्खाणी, अविरत, असंवृत, अपण्डित, अजागृत, अधर्मी, अधर्मव्यवसायी। पाँचवें में आठ बोल पाये जाते हैं– संयतासंयती, पचक्खाणापचक्खाणी, विरताविरत, संवृतासंवृत, बालपण्डित, सुप्त जागृत, धर्माधर्मी, धर्माधर्म व्यवसायी। छठे से लेकर चौदहवें तक आठ गुण होते हैं–संयती, पचक्खाणी, विरत, संवृत, पण्डित, जागृत, धार्मिक और धर्म व्यवसायी।

(१६) योग द्वार- पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान में आहारक और आहारक मिश्र को छोड़ कर १३ योग पाये जाते हैं। तीसरे गुणस्थान में औदारिक मिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण इन पाँच योगों को छोड़ कर बाकी दस पाये जाते हैं। पाँचवें में आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण के सिवाय बारह योग पाये जाते हैं। छठे में कार्मण के सिवाय १४ योग पाये जाते हैं। सातवें में तीन मिश्र और कार्मण को छोड़ कर ग्यारह योग पाए जाते हैं। आठवें से लेकर बारहवें तक नौ योग पाए जाते हैं– चार मनोयोग, चार वचन योग और एक औदारिक। तेरहवें में पाँच अथवा सात–सत्यमनोयोग, व्यवहार मनोयोग, सत्य वचन योग, व्यवहार वचन योग और औदारिक। सात मानने पर औदारिक मिश्र और कार्मण बढ़ जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान में योग नहीं होता।

(१७) उपयोग द्वार– पहले और तीसरे में छः उपयोग पाए जाते हैं– तीन अज्ञान और पहले तीन दर्शन। दूसरे, चौथे और पाँचवें में छः– तीन ज्ञान और तीन दर्शन। छठे से बारहवें तक सात– चार ज्ञान और तीन दर्शन। तेरहवें और चौदहवें में दो– केवल ज्ञान और केवल दर्शन।

(१८) लेश्या द्वार– पहले से छठे तक छहों लेश्याएं पाई जाती हैं। सातवें में पिछली तीन। आठवें से बारहवें तक शुक्ललेश्या।

तेरहवें में परमशुक्ल लेश्या। चौदहवें में कोई लेश्या नहीं होती।

(१९) हेतु द्वार– हेतु का अर्थ यहाँ पर है कर्मबन्ध का कारण। इसके ५७ भेद हैं– ५ मिथ्यात्व, १५ योग, १२ अव्रत (छः काय की रक्षा न करना तथा पाँच इन्द्रियों और मन को वश में न रखना) और २५ कषाय (अनन्तानुबन्धी आदि १६ और नोकषाय नौ)।

पहले गुणस्थान में आहारक और आहारक मिश्र को छोड़ कर शेष ५५ हेतु पाए जाते हैं। दूसरे में ५ मिथ्यात्व और ऊपर वाले दो हेतुओं को छोड़ कर ५०। तीसरे में चार अनन्तानुबन्धी, औदारिक मिश्र, वैक्रिय मिश्र, कार्मण और ऊपर वाले सात, कुल १४ हेतुओं को छोड़ कर ४३। चौथे में औदारिक मिश्र, वैक्रिय मिश्र और कार्मण इन तीन के बढ़ जाने से ४६। पाँचवें में चार अप्रत्याख्यानावरण, अविरति और कार्मण घट जाने से ४०। छठे में २७ अर्थात् १४ योग (कार्मण छोड़ कर) और १३ कषाय (संज्वलन की चौकड़ी और ६ नोकषाय)। सातवें में तीन मिश्र योगों को छोड़ कर २४। आठवें में वैक्रिय और आहारक को छोड़ कर २२। नवें में हास्यादि छह को छोड़ कर १६। दसवें में तीन वेद और तीन संज्वलन कषायों को छोड़ कर १०। ग्यारहवें तथा बारहवें में चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक, ये नौ हेतु पाए जाते हैं। तेरहवें में पाँच– सत्य मनो योग, व्यवहार मनो योग, सत्य भाषा, व्यवहार भाषा और औदारिक। ~~किसी किसी के मत~~ में सात होते हैं। उन के अनुसार औदारिकमिश्र और कार्मण बढ़ जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान में कोई हेतु नहीं होता।

(२०) मार्गणा द्वार–मार्गणा का तात्पर्य यहाँ जाने का मार्ग है। पहले गुणस्थान वाला तीसरे, चौथे, पाँचवें और सातवें गुणस्थान में जा सकता है। दूसरे गुणस्थान वाला पहले गुणस्थान में आता है। तीसरे गुणस्थान वाला ऊपर चौथे, पाँचवें और सातवें

में तथा नीचे पहले में जाता है। चौथे गुणस्थान वाला ऊपर पाँचवें या सातवें में तथा नीचे पहले, दूसरे और तीसरे में जाता है। पाँचवें वाला नीचे पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे में तथा ऊपर सातवें में जाता है। छठे गुणस्थान वाला नीचे पाँच गुणस्थानों में तथा ऊपर सातवें में जाता है। सातवें गुणस्थान वाला नीचे छठे में और ऊपर आठवें में जाता है, काल करे तो चौथे में जाता है। आठवें गुणस्थान वाला नीचे सातवें में और ऊपर नवें में जाता है, काल करने पर चौथे में जाता है। दसवें गुणस्थान वाला नीचे नवें में और ऊपर ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान में जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान वाला गिरे तो दसवें में और काल करे तो चौथे में जाता है, ऊपर नहीं जाता। बारहवें गुणस्थान वाला तेरहवें में ही जाता है। तेरहवें वाला चौदहवें में और चौदहवें वाला मोक्ष में ही जाता है।

(२१) ध्यान द्वार-पहले और तीसरे गुणस्थान में आर्त्त तथा रौद्र दो ध्यान पाए जाते हैं। दूसरे, चौथे तथा पाँचवें में तीन-आर्त्तध्यान, रौद्र ध्यान और धर्मध्यान। छठे में आर्तध्यान और धर्मध्यान। सातवें में केवल धर्मध्यान। आठवें से तेरहवें तक शुक्लध्यान। चौदहवें में परम शुक्लध्यान।

(२२) दण्डक द्वार-पहले गुणस्थान में चौवीस ही दण्डक पाए जाते हैं। दूसरे में पाँच स्थावर के पाँच दण्डकों को छोड़ कर १६। तीसरे और चौथे में तीन विकलेन्द्रिय को छोड़ कर सोलह। पाँचवें में मनुष्य और सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च ये दो। छठे से लेकर चौदहवें तक मनुष्य का एक ही दण्डक पाया जाता है।

(२३) जीव योनि द्वार- पहले गुणस्थान में ८४ लाख जीव योनियाँ पाई जाती हैं। दूसरे में एकेन्द्रिय की ५२ लाख छोड़ कर शेष ३२ लाख। तीसरे और चौथे में विकलेन्द्रिय की छः लाख घटने पर २६ लाख। पाँचवें में १८ लाख-चौदह लाख मनुष्यों

की और चार लाख तिर्यञ्चों की। छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक मनुष्य की १४ लाख जीवयोनियाँ पाई जाती हैं।

(२४) निमित्त द्वार–पहले चार गुणस्थान दर्शनमोहनीय के निमित्त से होते हैं। पाँचवें से बारहवें तक आठ गुणस्थान यथायोग्य चारित्र मोहनीय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से। तेरहवाँ और चौदहवाँ योग के निमित्त से होते हैं।

(२५) चारित्र द्वार– पहले चार गुणस्थानों में चारित्र नहीं होता। पाँचवें में एकदेश सामायिक चारित्र होता है। छठे और सातवें में तीन चारित्र पाए जाते हैं–सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि। आठवें और नवें में दो सामायिक और छेदोपस्थापनीय। दसवें में सूक्ष्मसम्पराय। ग्यारहवें से लेकर चौदहवें तक केवल एक यथाख्यात चारित्र होता है।

(२६) समकित द्वार–क्षायिक समकित चौथे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। उपशम सम्यक्त्व चौथे से ग्यारहवें तक। क्षायोपशमिक वेदक सम्यक्त्व चौथे से सातवें तक। सास्वादन सम्यक्त्व दूसरे गुणस्थान में होता है। पहले और तीसरे गुणस्थान में सम्यक्त्व नहीं होता।

(२७) अन्तर द्वार– पहले गुणस्थान में तीन भंग बताए गए हैं– (१) अनादि अपर्यवसित (२) अनादि सपर्यवसित (३) सादि सपर्यवसित। इनमें तीसरे भंग का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागरोपम झाझेरा है। दूसरे से ग्यारहवें गुणस्थान तक अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन है। बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में अन्तर नहीं होता।

किसी गुणस्थान को एक बार छोड़ कर दुबारा उसे प्राप्त करने में जितना समय लगता है उसे अन्तर या व्यवधान काल कहते हैं। पहले गुणस्थान के प्रथम और द्वितीय भंग में अन्तर नहीं होता

क्योंकि उनमें रहा हुआ जीव उन्हें छोड़ता ही नहीं। दूसरे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें तक के जीव कम से कम अन्तर्मुहूर्त में और उत्कृष्ट अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल में एक बार छोड़े हुए गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान को छोड़ कर जीव फिर इन्हें प्राप्त नहीं करता। वह सिद्ध हो जाता है इसी लिए इन गुणस्थानों में अन्तर नहीं होता।

(२८) अल्पबहुत्व द्वार– ग्यारहवें गुणस्थान वाले जीव अन्य सभी गुणस्थान वाले जीवों से अल्प हैं। प्रत्येक गुणस्थान में दो प्रकार के जीव होते हैं– (१) प्रतिपद्यमान– किसी विवक्षित समय में उस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले। (२) पूर्वप्रतिपन्न– विवक्षित समय से पहले जो उस गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं। ग्यारहवें गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान ५४ और पूर्वप्रतिपन्न एक, दो या तीन आदि होते हैं। बारहवें गुणस्थान वाले उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान १०८ और पूर्वप्रतिपन्न शतपृथक्त्व (दो सौ से नौ सौ तक) पाए जाते हैं, इस लिए ग्यारहवें गुणस्थान वालों से इनकी संख्या संख्यातगुणी कही जाती है। उपशम श्रेणी वाले जीव उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान ५४ और पूर्वप्रतिपन्न एक, दो, तीन आदि माने गए हैं। क्षपक श्रेणी वाले प्रतिपद्यमान १०८ और पूर्वप्रतिपन्न शतपृथक्त्व माने गए हैं। उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियों वाले सभी जीव आठवें, नवें और दसवें गुणस्थान में वर्तमान होते हैं, इस लिए इन तीनों गुणस्थान वाले जीव आपस में समान हैं, किन्तु बारहवें गुणस्थान वालों की अपेक्षा विशेषाधिक हैं। चौदहवें गुणस्थान वाले भवस्थ अयोगी बारहवें गुणस्थान वालों के बराबर हैं।

सयोगी केवली अर्थात् तेरहवें गुणस्थान वाले जीव उन से संख्यातगुणे हैं। वे पृथक्त्व करोड़ अर्थात् जघन्य दो करोड़ और उत्कृष्ट नौ करोड़ होते हैं।

अप्रमत्तसंयत अर्थात् सातवें गुणस्थान वाले उनसे संख्यात गुणे पाए जाते हैं। वे दो हजार करोड़ तक हो सकते हैं।

प्रमत्तसंयत अर्थात् छठे गुणस्थान वाले उनसे संख्यात गुणे हैं। वे नौ हजार करोड़ तक होते हैं। असंख्यात गर्भज तिर्यञ्च भी देश विरति पा लेते हैं, इस लिए पाँचवें गुणस्थान वाले छठे की अपेक्षा असंख्यातगुणे अधिक हैं। दूसरे गुणस्थान वाले देशविरति वालों से असंख्यात गुणे होते हैं, क्योंकि सास्वादन सम्यक्त्व चारों गतियों में होता है। सास्वादन सम्यक्त्व की अपेक्षा मिश्रदृष्टि का कालमान (स्थिति) असंख्यातगुणा है, इस कारण मिश्रदृष्टि अर्थात् तीसरे गुणस्थान वाले दूसरे गुणस्थान वालों की अपेक्षा असंख्यातगुणे हैं। तीसरे की अपेक्षा चौथे गुणस्थान वाले असंख्यात गुणे हैं। अयोगी केवली दो तरह के होते हैं– भवस्थ (चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव) और अभवस्थ (सिद्ध)। अभवस्थ (सिद्ध) चौथे गुणस्थान वालों से अनन्त गुणे हैं। मिथ्यादृष्टि अर्थात् पहले गुणस्थान वाले सिद्धों से भी अनन्तगुणे हैं।

पहला, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और तेरहवाँ ये छः गुणस्थान लोक में सदा पाए जाते हैं। बाकी आठ गुणस्थान कभी नहीं भी पाए जाते। जब ये पाए जाते हैं, तब भी इनमें जीवों की संख्या कभी उत्कृष्ट होती है, कभी मध्यम और कभी जघन्य।

ऊपर वाला अल्पबहुत्व उत्कृष्ट की अपेक्षा है, जघन्य संख्या की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि जघन्य संख्या के समय जीवों का परिमाण विपरीत भी हो जाता है, जैसे– कभी ग्यारहवें गुणस्थान वाले बारहवें से अधिक भी हो जाते है। सारांश यह है कि ऊपर बताया हुआ अल्पबहुत्व सब गुणस्थानों में जीवों के उत्कृष्ट संख्या में पाए जाने के समय ही घट सकता है। (कर्मग्रन्थ ४, गाथा ६२-६३)

मर कर परभव में जाते समय जीव के पहला, दूसरा और चौथा

ये तीन गुणस्थान ही रहते हैं। तीसरा, बारहवाँ और तेरहवाँ, ये तीन गुणस्थान अमर हैं। इनमें मृत्यु नहीं होती। पहले, दूसरे, तीसरे, पाँचवें और ग्यारहवें गुणस्थान को तीर्थङ्कर नहीं फरसते। चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और आठवाँ इन पाँच गुणस्थानों में ही तीर्थङ्कर गोत्र बँधता है। बारहवाँ, तेरहवाँ और चौदहवाँ ये तीन गुणस्थान अपडिवाई (अप्रतिपाती) हैं। पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ ये चार गुणस्थान अनाहारक भी होते हैं और चौदहवाँ गुणस्थान अनाहारक ही है। औदारिक आदि के पुद्गलों को न ग्रहण करने वाले को अनाहारक कहते हैं। पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान विग्रहगति की अपेक्षा से अनाहारक हैं। तेरहवाँ गुणस्थान केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समयों की अपेक्षा अनाहारक है। चौदहवें गुणस्थान में आहार के पुद्गलों का ग्रहण ही नहीं होता, इस लिए वह अनाहारक ही है। मोक्ष जाने से पहले जीव एक या अनेक भवों में नीचे लिखे नौ गुणस्थानों को अवश्य फरसता है– पहला, चौथा, सातवाँ, आठवाँ, नवाँ, दसवाँ, बारहवाँ तेरहवाँ और चौदहवाँ। (कर्मग्रन्थ दूसरा और चौथा भाग)

(प्रवचनसारोद्धार द्वार ९०) (आवश्यक चूर्णि)

८४८– देवलोक में उत्पन्न होने वाले जीव

कौनसे जीव किस देवलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं यह बात भगवती सूत्र के प्रथम शतक के द्वितीय उद्देशे में बताई गई है। वहाँ चौदह प्रकार के जीवों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। वे इस प्रकार हैं–

(१) संयमरहित भव्य द्रव्य देव जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट ऊपर के ग्रैवेयक देवों तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(२) अखण्डित संयम वाले (अविराधक साधु) जघन्य प्रथम देवलोक और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध विमान तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(३) खण्डित संयम वाले (विराधक साधु) जघन्य भवनपति

देवों में और उत्कृष्ट पहले देवलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(४) अखण्डित संयमासंयम (अविराधक श्रावक) जघन्य पहले और उत्कृष्ट बारहवें अच्युत देवलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(५) खण्डित संयमासंयम (विराधक श्रावक) जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट ज्योतिषी देवों तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(६) असञ्ज्ञी (अकाम निर्जरा करने वाले) जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट वाणव्यन्तर देवों तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(७) बाल तपस्वी जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट ज्योतिषी देवों तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(८) कांदर्पिक (कुतूहली साधु) जघन्य भवनपतियों में और उत्कृष्ट पहले देवलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(९) चरक, परिव्राजक (त्रिदण्डी) जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट पाँचवें ब्रह्मलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(१०) किल्विषिक (व्यवहार से चारित्र को धारण करने वाले किन्तु भाव से ज्ञान तथा ज्ञानियों का अवर्णवाद करने वाले कपटी) जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट छठे देवलोक तक।

(११) देशविरत चारित्र को धारण करने वाले तिर्यञ्च जघन्य भवनपतियों में और उत्कृष्ट आठवें सहस्रार देवलोक तक।

(१२) आजीवक मतानुयायी (गोशालक के शिष्य) जघन्य भवनपतियों में और उत्कृष्ट बारहवें अच्युत देवलोक तक।

(१३) आभियोगिक (मन्त्र तन्त्र आदि करने वाले) जघन्य भवनपतियों में और उत्कृष्ट बारहवें देवलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(१४) दर्शनभ्रष्ट स्वलिङ्गी साधु जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट ऊपर के ग्रैवेयकों तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(भगवती शतक १ उद्देशा २)

———:०:———

पन्द्रहवाँ बोल संग्रह

८४६ सिद्धों के पन्द्रह भेद

ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष में जाने वाले जीव सिद्ध कहलाते हैं। वे पन्द्रह प्रकार से सिद्ध होते हैं—

(१) तीर्थसिद्ध— जिससे संसार समुद्र तिरा जाय वह तीर्थ कहलाता है अर्थात् जीवाजीवादि पदार्थों की प्ररूपणा करने वाले तीर्थंकरों के वचन और उन वचनों को धारण करने वाला चतुर्विध संघ तथा प्रथम गणधर तीर्थ कहलाते हैं। इस प्रकार के तीर्थ की मौजूदगी में जो सिद्ध होते हैं वे तीर्थसिद्ध कहलाते हैं।

(२) अतीर्थसिद्ध— तीर्थ की उत्पत्ति होने से पहले अथवा बीच में तीर्थ का विच्छेद होने पर जो सिद्ध होते हैं वे अतीर्थ-सिद्ध कहलाते हैं। मरुदेवी माता तीर्थ की उत्पत्ति होने से पहले ही मोक्ष गई थी। भगवान् सुविधिनाथ से लेकर भगवान् शान्तिनाथ तक आठ तीर्थङ्करों के बीच सात अन्तरों में तीर्थ का विच्छेद हो गया था। इस विच्छेद काल में जो जीव मोक्ष गये वे तीर्थ विच्छेद काल में मोक्ष जाने वाले अतीर्थ सिद्ध कहलाते हैं।

नोट— तीर्थ विच्छेद होना एक अच्छेरा है। इस अवसर्पिणी में होने वाले दस अच्छेरों में यह दसवां अच्छेरा है। दस अच्छेरों का वर्णन तीसरे भाग के बोल नं० ६८१ में दिया गया है।

(३) तीर्थङ्करसिद्ध— तीर्थङ्करपद प्राप्त करके मोक्ष जाने वाले जीव तीर्थङ्कर सिद्ध कहलाते हैं।

(४) अतीर्थङ्कर सिद्ध— सामान्य केवली होकर मोक्ष जाने वाले अतीर्थङ्कर सिद्ध कहलाते हैं।

(५) स्वयंबुद्धसिद्ध— दूसरे के उपदेश के बिना स्वयमेव

बोध प्राप्त कर मोक्ष जाने वाले स्वयंबुद्ध सिद्ध कहलाते हैं।

(६) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध– जो किसी के उपदेश के बिना ही किसी एक पदार्थ को देख कर दीक्षा धारण करके मोक्ष जाते हैं वे प्रत्येक बुद्ध सिद्ध कहलाते हैं।

स्वयंबुद्ध और प्रत्येक बुद्ध दोनों प्रायः एक सरीखे होते हैं, सिर्फ थोड़ी सी परस्पर विशेषताएं होती हैं। वे ये हैं– बोधि, उपधि, श्रुत और लिङ्ग (बाह्य वेष)।

(क) बोधिकृत विशेषता– स्वयंबुद्ध को बाहरी निमित्त के बिना ही जातिस्मरण आदि ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। स्वयंबुद्ध दो तरह के होते हैं– तीर्थङ्कर और तीर्थङ्कर व्यतिरिक्त। यहाँ पर तीर्थङ्कर व्यतिरिक्त लिये जाते हैं क्योंकि तीर्थङ्कर स्वयंबुद्ध तीर्थङ्कर सिद्ध में गिन लिये जाते हैं। प्रत्येक बुद्ध को वृषभ (बैल) मेघ आदि बाहरी कारणों को देखने से वैराग्य उत्पन्न होता है और दीक्षा लेकर वे अकेले ही विचरते है।

(ख) उपधिकृत विशेषता– स्वयंबुद्ध वस्त्र पात्र आदि बारह प्रकार की उपधि (उपकरण) वाले होते हैं और प्रत्येक बुद्ध जघन्य दो प्रकार की और उत्कृष्ट नौ प्रकार की उपधि वाले होते हैं। वे वस्त्र नहीं रखते किन्तु रजोहरण और मुखवस्त्रिका तो रखते ही हैं।

(ग-घ) श्रुत और लिङ्ग (बाह्य वेश) की विशेषता– स्वयंबुद्ध दो तरह के होते हैं। एक तो वे जिनको पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में भी उपस्थित हो आता है और दूसरे वे जिनको पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में उपस्थित नहीं होता। पहले प्रकार के स्वयंबुद्ध गुरु के पास जाकर लिङ्ग (वेश) धारण करते हैं और नियमित रूप से गच्छ में रहते हैं। दूसरे प्रकार के स्वयंबुद्ध गुरु के पास जाकर वेश स्वीकार करते हैं अथवा उनको देवता वेश दे देता है। यदि वे अकेले विचरने में समर्थ हों और अकेले विचरने की इच्छा हो

तो वे अकेले विचर सकते हैं अन्यथा गच्छ में रहते हैं। प्रत्येक बुद्ध को पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में अवश्य उपस्थित होता है। वह ज्ञान जघन्य ग्यारह अङ्ग का और उत्कृष्ट किञ्चिदून (कुछ कम) दस पूर्व का होता है। दीक्षा लेते समय देवता उन्हें लिङ्ग (वेश) देते हैं अथवा वे लिङ्ग रहित भी होते हैं।

(७) बुद्ध बोधित सिद्ध- आचार्यादि के उपदेश से बोध प्राप्त कर मोक्ष जाने वाले बुद्ध बोधित सिद्ध कहलाते हैं।

(८) स्त्रीलिङ्ग सिद्ध- स्त्रीलिङ्ग से मोक्ष जाने वाले स्त्रीलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं। यहाँ स्त्रीलिङ्ग शब्द स्त्रीत्व का सूचक है। स्त्रीत्व (स्त्रीपना) तीन प्रकार का बतलाया गया है- (क) वेद (ख) शरीराकृति और (ग) वेश। यहाँ पर शरीराकृति रूप स्त्रीत्व लिया गया है क्योंकि वेद के उदय में तो कोई जीव सिद्ध हो नहीं सकता और वेश अप्रमाण है, अतः यहाँ शरीराकृतिरूप स्त्रीत्व की ही विवक्षा है। नन्दी सूत्र में चूर्णिकार ने भी लिखा है कि स्त्री के आकार में रहते हुए जो मोक्ष गये हैं वे स्त्रीलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(९) पुरुषलिङ्ग- पुरुष की आकृति रहते हुए मोक्ष में जाने वाले पुरुषलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(१०) नपुँसक लिङ्ग सिद्ध- नपुंसक की आकृति में रहते हुए मोक्ष जाने वाले नपुंसक लिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(११) स्वलिङ्ग सिद्ध- साधु के वेश (रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि) में रहते हुए मोक्ष जाने वाले स्वलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(१२) अन्यलिङ्ग सिद्ध- परिव्राजक आदि के वल्कल, गेरुए वस्त्र आदि द्रव्य लिङ्ग में रह कर मोक्ष जाने वाले अन्यलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(१३) गृहस्थलिङ्ग सिद्ध- गृहस्थ के वेश में मोक्ष जाने वाले गृहस्थलिङ्ग (गृहीलिङ्ग) सिद्ध कहलाते हैं, जैसे मरुदेवी माता।

(१४) एक सिद्ध– एक एक समय में एक एक मोक्ष जाने वाले एक सिद्ध कहलाते हैं।

(१५) अनेक सिद्ध– एक समय में एक से अधिक मोक्ष जाने वाले अनेक सिद्ध कहलाते हैं। एक समय में अधिक से अधिक कितने मोक्ष जा सकते हैं। इसके लिए बतलाया गया है–

बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोद्धव्वा।
चुलसीई छन्नउई उ दुरहियमट्ठुत्तर सयं च ॥

भावार्थ– एक समय से आठ समय तक एक से लेकर बत्तीस तक जीव मोक्ष जा सकते हैं इसका तात्पर्य यह है कि पहले समय में जघन्य एक, दो और उत्कृष्ट बत्तीस जीव सिद्ध हो सकते हैं। इसी तरह दूसरे समय में भी जघन्य एक, दो और उत्कृष्ट बत्तीस और तीसरे, चौथे यावत् आठवें समय तक जघन्य एक, दो, उत्कृष्ट बत्तीस जीव सिद्ध हो सकते हैं। आठ समयों के पश्चात् निश्चित रूप से अन्तरा पड़ता है।

तेतीस से लेकर अड़तालीस जीव निरन्तर सात समय तक मोक्ष जा सकते हैं। इसके पश्चात् निश्चित रूप से अन्तरा पड़ता है। उनपचास से लेकर साठ तक जीव निरन्तर छः समय तक मोक्ष जा सकते हैं इसके बाद अवश्य अन्तरा पड़ता है। इकसठ से बहत्तर तक जीव निरन्तर पाँच समय तक, तिहत्तर से चौरासी तक निरन्तर चार समय तक, पचासी से छयानवें तक निरन्तर तीन समय पर्यन्त, सत्तानवें से एक सौ दो तक निरन्तर दो समय तक मोक्ष जा सकते हैं इसके बाद निश्चित रूप से अन्तरा पड़ता है। एक सौ तीन से लेकर एक सौ आठ तक जीव निरन्तर एक समय तक मोक्ष जा सकते हैं अर्थात् एक समय में उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं। इसके पश्चात् अवश्य अन्तरा पड़ता है। दो तीन आदि समय तक निरन्तर उत्कृष्ट सिद्ध नहीं हो सकते।

लिङ्ग की अपेक्षा सिद्धों का अल्प बहुत्व इस प्रकार है–

थोवा नपुंसकसिद्धा, थीनर सिद्धा कमेण संखगुणा ।

सब से थोड़े नपुँसक लिङ्ग सिद्ध हैं क्योंकि एक समय में उत्कृष्ट दस मोक्ष जा सकते हैं। नपुँसक लिङ्ग सिद्धों से स्त्रीलिङ्ग सिद्ध संख्यातगुणे अधिक हैं क्योंकि एक समय में उत्कृष्ट बीस सिद्ध हो सकते हैं। स्त्रीलिङ्ग सिद्धों से पुरुष लिङ्ग सिद्ध संख्यात गुणे अधिक हैं क्योंकि एक समय में उत्कृष्ट १०८ मोक्ष जा सकते हैं।

(पन्नवणा पद १ जीवप्रज्ञापना प्रकरण)

८५०–मोक्ष के पन्द्रह अंग

अनादि काल से जीव निगोदादि गतियों में परिभ्रमण कर रहा है। कई जीव ऐसे भी हैं जिन्होंने स्थावर अवस्था को छोड़ कर त्रस अवस्था को भी प्राप्त नहीं किया। त्रसत्व (त्रस अवस्था) आदि मोक्ष के पन्द्रह अंग हैं। इनकी प्राप्ति होना बहुत कठिन है।

(१) जंगमत्व (त्रसपना)– निगोद तथा पृथ्वीकाय आदि को छोड़ कर द्वीन्द्रियादि जङ्गम कहलाते हैं। बहुत थोड़े जीव स्थावर अवस्था से त्रस अवस्था को प्राप्त करते हैं।

(२) पञ्चेन्द्रियत्व– जंगम अवस्था को प्राप्त करके भी बहुत से जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय होकर ही रह जाते हैं, पंचेन्द्रियपना प्राप्त होना फिर भी कठिन है।

(३) मनुष्यत्व– पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करके भी बहुत से जीव नरक, तिर्यञ्च गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं। मनुष्य भव मिलना बहुत दुर्लभ है।

(४) आर्यदेश– मनुष्य भव को प्राप्त करके भी बहुत से जीव अनार्य देश में उत्पन्न हो जाते हैं जहाँ धर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। इस लिए मनुष्य भव में भी आर्य देश का मिलना कठिन है।

(५) उत्तम कुल–आर्य देश में उत्पन्न होकर भी बहुत से जीव

नीच कुल में उत्पन्न हो जाते हैं। वहाँ उन्हें धर्मक्रिया करने की यथासाध्य सामग्री प्राप्त नहीं होती। इस लिये आर्य देश के पश्चात् उत्तम कुल का मिलना बड़ा मुश्किल है।

(६) उत्तम जाति--पितृपक्ष कुल और मातृपक्ष जाति कहलाता है। विशुद्ध एवं उत्तम जाति का मिलना भी बहुत कठिन है।

(७) रूपसमृद्धि-- आँख, कान आदि पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता रूपसमृद्धि कहलाती है। सारी सामग्री मिल जाने पर भी यदि पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता न हो अर्थात् कोई इन्द्रिय हीन हो तो धर्म का यथावत् आराधन नहीं हो सकता। श्रोत्रेन्द्रिय में किसी प्रकार की हीनता होने पर शास्त्र श्रवण का लाभ नहीं लिया जा सकता। चक्षुरिन्द्रिय में हीनता होने पर जीवों के दृष्टि गोचर न होने से उनकी रक्षा नहीं हो सकती। शरीर के हाथ पैर आदि अवयव पूर्ण न होने से तथा शरीर के पूर्ण स्वस्थ न होने से भी धर्म का सम्यक् आराधन नहीं हो सकता। इस लिए पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता का प्राप्त होना भी बहुत कठिन है।

(८) बल (पुरुषार्थ)--उपरोक्त सारी सामग्री प्राप्त हो जाने पर भी यदि शरीर में बल न हो तो त्याग और तप कुछ भी नहीं हो सकता। अतः शरीर में सामर्थ्य का होना भी परमावश्यक है।

(९) जीवित--बहुत से प्राणी जन्म लेते ही मर जाते हैं या अल्प-वय में ही मर जाते हैं। लम्बी आयुष्य मिले बिना प्राणी धर्म क्रिया नहीं कर सकता। अतः जीवित अर्थात् दीर्घ आयु का मिलना भी मोक्ष का अंग है।

(१०) विज्ञान-- लम्बी आयुष्य प्राप्त करके भी बहुत से जीव विवेकविकल होते हैं। उन्हें सद् असद् एवं हिताहित का ज्ञान नहीं होता इसी लिये जीवादि नव तत्त्व के ज्ञान के प्रति उनकी रुचि नहीं होती। नव तत्त्वों का यथावत् ज्ञान कर आत्महित की

ओर प्रवृत्ति करना ही सच्चा विज्ञान है ।

(११) सम्यक्त्व– सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित पारमार्थिक जीवाजीवादि पदार्थों पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बिना जीव को मोक्ष पद की प्राप्ति नहीं होती।

(१२) शील सम्प्राप्ति– बहुत से जीव सम्यक्त्व प्राप्त करके भी चारित्र प्राप्त नहीं करते। चारित्र प्राप्ति के बिना जीव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। विज्ञान, सम्यक्त्व और शील सम्प्राप्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों मोक्ष के प्रधान अंग हैं। श्री उमास्वाति आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि–

'सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'

अर्थात्– सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों मिल कर मोक्ष का मार्ग हैं। इन तीनों की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

(१३) क्षायिक भाव– कर्मों के सर्वथा क्षय होने पर प्रकट होने वाला परिणाम क्षायिक भाव कहलाता है। बहुत से जीव चारित्र प्राप्त करके भी क्षायिक भाव प्राप्त नहीं करते। क्षायिक भाव के नौ भेद हैं–(१) केवलज्ञान (२) केवल दर्शन (३) दान लब्धि (४) लाभ लब्धि (५) भोग लब्धि (६) उपभोग लब्धि (७) वीर्य लब्धि (८) सम्यक्त्व (९) चारित्र। चार सर्वघाती कर्मों के क्षय होने पर ये नौ भाव प्रकट होते हैं। ये नौ सादि अनन्त हैं।

(१४) केवलज्ञान– क्षायिक भाव की प्राप्ति के पश्चात् घाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। केवलज्ञान हो जाने पर जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है।

(१५) मोक्ष–आयुष्य पूर्ण होने पर अव्याबाध मोक्ष सुख की प्राप्ति हो जाती है।

उपरोक्त पन्द्रह मोक्ष के अङ्ग (उपाय) हैं। इन में से बहुत से अंग इस जीव को प्राप्त हो गये हैं। इस लिये अब शील सम्प्राप्ति

(चारित्र प्राप्ति) के लिये प्रयत्न करना चाहिये। चारित्र चिन्तामणि के तुल्य है। इसकी प्राप्ति के बाद दूसरी बातें शीघ्र ही प्राप्त हो जाती हैं। अतः प्रमाद रहित होकर सदा काल चारित्र प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये। (पच वस्तुक, गाथा १५६-१६३)

८५१- दीक्षा देने वाले गुरु के पन्द्रह गुण

गृहस्थावास छोड़ कर पाँच महाव्रत रूप मुनि व्रत अंगीकार करने को दीक्षा कहते हैं। नीचे लिखे पन्द्रह गुणों से युक्त साधु परिव्राजक पद अर्थात् दीक्षा देने वाले गुरु के पद के लिये योग्य होता है--

(१) विधिप्रपन्न प्रव्रज्य- दीक्षा देने वाला गुरु ऐसा होना चाहिए जिसने स्वयं विधि पूर्वक दीक्षा ली हो।

(२) आसेवित गुरुक्रम-जिसने गुरु की चिर काल तक सेवा की हो अर्थात् जो गुरु के समीप रहा हो।

(३) अखण्डित व्रत- दीक्षा अंगीकर करने के दिन से लेकर जिसने कभी चारित्र की विराधना न की हो।

(४) विधिपठितागम- सूत्र, अर्थ और तदुभय रूप आगम को जिसने गुरु के पास रह कर विधिपूर्वक पढ़ा हो।

(५) तत्त्ववित्- शास्त्रों के अध्ययन से निर्मल ज्ञान वाला होने से जो जीवाजीवादि तत्त्वों को अच्छी तरह जानता हो।

(६) उपशान्त-मन, वचन और काया के विकार से रहित हो।

(७) वात्सल्ययुक्त- साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप संघ में वत्सलता अर्थात् प्रेम रखने वाला हो।

(८) सर्वसत्त्वहितान्वेषी-संसार के सभी प्राणियों का हित चाहने वाला और उसके लिए प्रयत्न करने वाला हो।

(९) आदेय- जिसकी बात दूसरे लोग मानते हों।

(१०) अनुवर्तक- विचित्र स्वभाव वाले प्राणियों को ज्ञान,

दर्शन, चारित्र की शिक्षा देकर उनका पालन पोषण करने वाला हो।

(११) गम्भीर– रोष अर्थात् क्रोध और तोष अर्थात् प्रसन्न अवस्था में भी जिसके दिल की बात को कोई न समझ सके ।

(१२) अविषादी– किसी भी प्रकार का उपसर्ग होने पर जो दीनता न दिखावे अर्थात् न घबरावे ।

(१३) उपशम लब्ध्यादि युक्त– उपशम लब्धि आदि लब्धियों को धारण करने वाला हो। जिस लब्धि अर्थात् शक्ति से दूसरे को शान्त कर दिया जाय उसे उपशम लब्धि कहते हैं।

(१४) सूत्रार्थभाषक– आगमों के अर्थ को ठीक ठीक बताने वाला हो।

(१५) स्वगुर्वनुज्ञातगुरुपद– अपने गुरु से जिसे गुरु बनने की अनुमति मिल गई हो।

इन पन्द्रह में से जिस गुरु में जितने गुण कम हों वह उनकी अपेक्षा मध्यम या जघन्य गुरु कहा जाता है ।

(धर्मसंग्रह अधिकार ३ श्लोक ८०–८४

८५२– विनीत के पन्द्रह लक्षण

गुरु आदि बड़े पुरुषों की सेवा शुश्रूषा करने वाला विनीत कहलाता है। विनीत के पन्द्रह लक्षण हैं–

(१) विनीत शिष्य नीचवृत्ति (नम्र) होता है अर्थात् विनीत शिष्य गुरु आदि के सामने नम कर रहता है, नीचे आसन पर बैठता है, हाथ जोड़ता है और चरणों में झुक देता है।

(२) प्रारम्भ किए हुए काम को नहीं छोड़ता, चञ्चलता नहीं करता, जल्दी जल्दी नहीं चलता किन्तु विनय पूर्वक धीरे धीरे चलता है। कई लोग एक जगह बैठे हुए भी हाथ पैर आदि शरीर के अङ्गों को हिलाया करते हैं किन्तु विनीत शिष्य ऐसा नहीं करता। असत्य, कठोर और अविचारित वचन नहीं बोलता, एक काम

को पूरा किए बिना दूसरा काम शुरू नहीं करता।

(३) अमायी (सरल) होता है अर्थात् गुरु आदि से छल, कपट नहीं करता।

(४) अकुतूहली अर्थात् क्रीड़ा से सदा दूर रहता है। खेल, तमाशे आदि देखने की लालसा नहीं करता।

(५) विनीत शिष्य अपनी छोटी सी भूल को भी दूर करने की कोशिश करता है। वह किसी का अपमान नहीं करता।

(६) वह क्रोध नहीं करता तथा क्रोधोत्पत्ति के कारणों से भी सदा दूर रहता है।

(७) मित्र का प्रत्युपकार करता है अर्थात् अपने साथ किए हुए उपकार का बदला चुकाता है। वह कभी कृतघ्न नहीं बनता।

(८) विद्या पढ़ कर अभिमान नहीं करता किन्तु जैसे फलों के आने पर वृक्ष नीचे की ओर झुक जाता है उसी प्रकार विद्या रूपी फल को प्राप्त कर वह नम्र बन जाता है।

(९) किसी समय आचार्यादि द्वारा किसी प्रकार की स्खलना (गल्ती) हो जाने पर उनका तिरस्कार तथा अपमान नहीं करता अथवा वह पाप की उपेक्षा नहीं करता।

(१०) बड़े से बड़ा अपराध होने पर भी कृतज्ञता के कारण मित्रों पर क्रोध नहीं करता।

(११) अप्रिय मित्र का भी पीठ पीछे दोष प्रकट नहीं करता अर्थात् जिसके साथ एक बार मित्रता कर ली है, यद्यपि वह इस समय सैकड़ों अपकार (बुराई) भी कर रहा हो, तथापि उसके पहले के उपकार (भलाई) का स्मरण कर उसके दोष प्रकट नहीं करता अपितु उसके लिए भी कल्याणकारी वचन ही कहता है।

(१२) कलह और डमर (लड़ाई) से सदा दूर रहता है।

(१३) कुलीनपने को नहीं छोड़ता अर्थात् अपने को सौंपे हुए

कार्य को नहीं छोड़ता।

(१४) विनीत शिष्य ज्ञानवान् होता है। किसी समय बुरे विचारों के आजाने पर भी वह कुकार्य में प्रवृत्ति नहीं करता।

(१५) बिना कारण गुरु के निकट या दूसरी जगह इधर उधर नहीं घूमता फिरता।

उपरोक्त गुणों वाला पुरुष विनीत कहलाता है।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ११ गाथा १०-१३)

८५३-पूज्यता को बतलाने वाली पन्द्रह गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र के विनय समाधि नामक नवें अध्ययन के तीसरे उद्देशे में पूज्यता को बतलाने वाली पन्द्रह गाथाएं आई हैं। उन गाथाओं में बतलाया गया है कि किन किन गुणों के धारण करने से साधु पूज्य (पूजनीय) बन जाता है। उन गाथाओं का भावार्थ क्रमशः नीचे दिया जाता है-

(१) जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि की पूजा करता है उसी प्रकार बुद्धिमान् शिष्य को आचार्य की पूजा यानी सेवा शुश्रूषा करनी चाहिये क्योंकि जो आचार्य की दृष्टि एवं इंगिताकार आदि को जान कर उनके भावानुकूल चलता है वह पूजनीय होता है।

(२) जो आचारप्राप्ति के लिये विनय करता है, जो भक्ति-पूर्वक गुरु वचनों को सुन कर स्वीकार करता है तथा गुरु के कथनानुसार शीघ्र ही कार्य सम्पन्न कर देता है, जो कभी भी गुरु महाराज की आशातना नहीं करता वह शिष्य संसार में पूज्य होता है।

(३) अपने से गुणों में श्रेष्ठ एवं लघुवयस्क होने पर भी दीक्षा में बड़े मुनियों की विनय भक्ति करने वाला, विनय की शिक्षा से सदा नम्र एवं प्रसन्नमुख रहने वाला, मधुर और सत्य बोलने वाला, आचार्य को वन्दना नमस्कार करने वाला एवं उनके वचनों को कार्य्यरूप से स्वीकार करने वाला शिष्य पूजनीय होता है।

(४) संयम यात्रा के निर्वाहार्थ जो सदा विशुद्ध, भिक्षा लब्ध एवं अज्ञात कुलों से थोड़ा थोड़ा ग्रहण किया हुआ आहार पानी भोगता है और जो आहार के मिलने तथा न मिलने पर स्तुति और निन्दा नहीं करता वह साधु संसार में पूजनीय होता है।

(५) संस्तारक, शय्या, आसन, भोजन और पानी आदि के अधिक लाभ हो जाने पर भी जो अल्प इच्छा और अमूर्च्छा भाव रखता है और सदा काल सन्तोषभाव में रत रहता है, तथा अपनी आत्मा को सभी प्रकार से सन्तुष्ट रखता है वह साधु संसार में पूजनीय होता है।

(६) धन प्राप्ति आदि की अभिलाषा से मनुष्य लोहमय तीक्ष्ण बाणों को सहन करने में समर्थ होता है परन्तु जो साधु बिना किसी लोभ लालच के कर्णकटु वचन रूपी कण्टकों को सहन करता है वह निःसन्देह पूजनीय हो जाता है।

(७) शरीर में चुभे हुए लोह कण्टक तो मर्यादित समय तक ही दुःख पहुँचाने वाले होते है और फिर वे सुयोग्य वैद्य द्वारा सुख पूर्वक निकाले जा सकते हैं किन्तु वचन रूपी कण्टक अतीव दुरुद्धर हैं अर्थात् हृदय मे चुभ जाने के बाद वे बड़ी कठिनता से निकलते हैं। कठोर वचन रूपी कण्टक परम्परया वैर भाव को बढ़ाने वाले एवं महा भय को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

(८) समूह रूप से सन्मुख आते हुए कटुवचन प्रहार श्रोत्र मार्ग से हृदय में प्रविष्ट होते ही दौर्मनस्य भाव उत्पन्न कर देते हैं अर्थात् कटु वचनों को सुनते ही हृदय में दुष्ट भावना उत्पन्न हो जाती है परन्तु जो संयम मार्ग में शूरवीर, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला पुरुष इन कटु वचनों के प्रहार को शान्ति से समभाव पूर्वक सहन कर लेता है वह संसार में पूजनीय हो जाता है।

(९) जो मुनि पीठ पीछे या सामने किसी की निन्दा नहीं करता

और परपीड़ाकारी, निश्चयकारी एवं अप्रियकारी वचन भी नहीं बोलता वह साधु पूजनीय हो जाता है।

(१०) जो साधु किसी प्रकार का लोभ लालच नहीं करता, मंत्र तंत्रादि ऐन्द्रजालिक झगड़ों में नहीं पड़ता, माया के फन्दे में नहीं फंसता, किसी की चुगली नहीं करता, संकट से घबरा कर दीनता धारण नहीं करता, दूसरों से अपनी स्तुति नहीं करवाता और न अपने मुंह से अपनी स्तुति करता है तथा खेल, तमाशे आदि कलाओं में कौतुक नहीं रखता है वह साधु पूजनीय हो जाता है।

(११) हे शिष्य! गुणों से साधु और अगुणों से असाधु होता है अतएव तुझे साधु गुणों को तो ग्रहण करना चाहिये और अगुणों को सर्वथा छोड़ देना चाहिये क्योंकि अपनी आत्मा को अपनी आत्मा से ही समझाने वाला तथा राग द्वेष में समभाव रखने वाला गुणी साधु ही पूजनीय होता है।

(१२) जो साधु बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, दीक्षित और गृहस्थ आदि की हीलना (निन्दा), खिंसना (बारम्बार निन्दा) नहीं करता तथा क्रोधादि कषायों से दूर रहता है वह पूजनीय हो जाता है।

(१३) जो शिष्य आचार्य को विनय भक्ति आदि से सम्मानित करते हैं वे स्वयं भी आचार्य से विद्यादान द्वारा सम्मानित होते हैं। जिस प्रकार माता पिता अपनी कन्या को सुशिक्षित कर योग्य वर के साथ पाणिग्रहण द्वारा श्रेष्ठ स्थान में पहुँचा देते हैं, उसी प्रकार आचार्य भी अपने विनीत शिष्यों को सूत्रार्थ का ज्ञाता बना कर आचार्यपद जैसे ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। जो सत्यवादी, जितेन्द्रिय और तपस्वी साधु ऐसे सम्मान योग्य आचार्यों का सम्मान करता है वह संसार में पूज्य हो जाता है।

(१४) जो मुनि पूर्ण बुद्धिमान्, पाँच महाव्रतों का पालक, तीन गुप्तियों का धारक और चारों कषायों पर विजय प्राप्त करने

वाला होता है और गुणों के सागर गुरुजनों के वचनों को विनय पूर्वक सुन कर तदनुसार आचरण करने वाला होता है वह मुनि संसार में पूजनीय हो जाता है।

(१५) जैनागम के तत्त्वों को पूर्णरूप से जानने वाला, अतिथि साधुओं की दत्तचित्त से सेवा-भक्ति करने वाला साधु अपने गुरु महाराज की निरन्तर सेवा भक्ति करके पूर्वकृत कर्मों को क्षय कर देता है और अन्त में दिव्य तेजोमयी, अनुपम सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है। (दशवैकालिक अध्ययन ६ उद्देशा ३)

८५४– अनाथता की पन्द्रह गाथाएँ

उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्ययन का नाम महानिर्ग्रन्थीय है। इसमें अनाथी मुनि का वर्णन है।

एक समय मगध देश का स्वामी राजा श्रेणिक सैर करने के लिए जंगल की ओर निकला। सैर करता हुआ राजा मंडितकुक्षि नामक उद्यान में आ पहुँचा। वहाँ एक वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाए हुए एक ध्यानस्थ मुनि को देखा। मुनि की प्रसन्न मुखमुद्रा, कान्तिमय देदीप्यमान विशाल भाल और सुन्दर रूप को देख कर राजा श्रेणिक विस्मित एवं आश्चर्यचकित हो गया। वह विचार करने लगा कि अहा ! कैसी इनकी कान्ति है ? कैसा इनका अनुपम रूप है ? अहा ! इस योगीश्वर की कैसी अपूर्व सौम्यता, क्षमा, निर्लोभता तथा भोगों से निवृत्ति है! उस योगीश्वर के दोनों चरणों को नमस्कार करके प्रदक्षिणा देकर न अति दूर और न अति पास इस तरह खड़ा होकर, दोनों हाथ जोड़ कर राजा श्रेणिक विनय पूर्वक इस प्रकार पूछने लगा–

हे आर्य ! इस तरुणावस्था में भोग विलास के समय आपने दीक्षा क्यों ली है? आपको ऐसी क्या प्रेरणा मिली जिससे आपने

इस तरुण वय में यह कठोर व्रत (मुनिव्रत) धारण किया है ? इन बातों का उत्तर मैं आपके मुख से सुनना चाहता हूँ।

राजा के प्रश्न को सुन कर मुनि कहने लगे कि हे राजन् ! मैं अनाथ हूँ, मेरा रक्षक कोई नहीं है और न मेरा कोई कृपालु मित्र ही है। इसी लिए मैंने मुनिव्रत धारण कर लिया है।

योगीश्वर का उत्तर सुन कर मगध देश के अधिपति राजा श्रेणिक को हँसी आ गई। वह योगीश्वर से कहने लगा कि क्या आप जैसे प्रभावशाली तथा समृद्धिशाली पुरुष को अभी तक कोई स्वामी नहीं मिल सका है ? हे योगीश्वर ! यदि सचमुच आपका कोई सहायक नहीं है तो मैं सहायक होने को तैयार हूँ। मनुष्यभव (जन्म) अत्यन्त दुर्लभ है इस लिए आप मित्र तथा स्वजनों से युक्त होकर सुखपूर्वक हमारे पास रहो और यथेच्छ भोगों को भोगो।

योगीश्वर कहने लगे कि हे मगधेश्वर श्रेणिक ! तू स्वयं ही अनाथ है। जो स्वयं अनाथ है वह दूसरों का नाथ कैसे हो सकता है ? मुनि के वचन सुन कर राजा को अति विस्मय एवं आश्चर्य हुआ क्योंकि राजा के लिए ये वचन अश्रुतपूर्व थे। इससे पहले राजा ने ऐसे वचन कभी किसी से नहीं सुने थे। अतः उसे व्याकुलता और संशय दोनों ही हुए। राजा को यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह योगी मेरी शक्ति, सामर्थ्य तथा सम्पत्ति को नहीं जानता है। इसी लिए ऐसा कहता है। राजा अपना परिचय देता हुआ योगीश्वर से कहने लगा कि मैं अनेक हाथी, घोड़ों, करोड़ों आदमियों, शहरों एवं देशों (अंगदेश और मगध देश) का स्वामी हूँ। सुन्दर अन्तःपुर में मनुष्य सम्बन्धी सर्वोत्तम भोग भोगता हूँ। मेरी सत्ता (आज्ञा) और ऐश्वर्य अनुपम हैं। इतनी विपुल सम्पत्ति होने पर भी मैं अनाथ कैसे हूँ ? हे मुनीश्वर ! कहीं आपका कथन असत्य तो नहीं है ? मुनि कहने लगे कि राजन् ! तू अनाथ और

सनाथ के परमार्थ एवं असली रहस्य को न तो जान ही सका है और न समझ ही सका है। इसीसे तुझे सन्देह हो रहा है। मुझे अनाथता का ज्ञान कहाँ और किस प्रकार हुआ और मैंने दीक्षा क्यों ली, हे राजन्! इस सर्व वृत्तान्त को तू ध्यान पूर्वक सुन–

प्राचीन नगरों में सर्वोत्तम कोशांबी नाम की एक नगरी थी। वहाँ प्रभूतधनसञ्चय नाम के मेरे पिता रहते थे। एक समय तरुण अवस्था में मुझे आँख की अतुल पीड़ा हुई और उस पीड़ा के कारण मेरे सारे शरीर में दाहज्वर हो गया। जैसे कुपित हुआ शत्रु मर्मस्थानों पर अति तीक्ष्ण शस्त्रों द्वारा प्रहार कर घोर पीड़ा पहुँचाता है वैसी ही तीव्र मेरी आँख की पीड़ा थी। वह दाहज्वर की दारुण पीड़ा इन्द्र के वज्र की तरह मेरी कमर, मस्तक तथा हृदय को पीड़ित करती थी। उस समय वैद्यक शास्त्र में अति प्रवीण, जड़ी बूटी तथा मंत्र तंत्र आदि विद्या में पारंगत, शास्त्र विचक्षण तथा औषधि करने में अति दक्ष अनेक वैद्याचार्य मेरे इलाज के लिये आये। उन्होंने अनेक प्रकार से मेरी चिकित्सा की किन्तु मेरी पीड़ा को शान्त करने में वे समर्थ न हुए। मेरे पिता मेरे लिए सब सम्पत्ति लगा देने को तय्यार थे किन्तु उस दुःख से छुड़ाने में तो वे भी असमर्थ ही रहे। मेरी माता भी मेरी पीड़ा को देख कर दुखित एवं अतिव्याकुल हो जाती थी किन्तु दुःख दूर करने में वह भी असमर्थ थी। मेरे सगे छोटे और बड़े भाई तथा सगी बहनें भी मुझे उस दुःख से न बचा सकीं। मुझ पर अत्यन्त स्नेह रखने वाली पतिपरायणा मेरी पत्नी ने सब शृङ्गारों का त्याग कर दिया था। रात दिन वह मेरी सेवा में लगी रहती, एक क्षण के लिये भी वह मेरे से दूर न होती थी किन्तु अपने आँसुओं से मेरे हृदय को सिंचन करने के सिवाय वह भी कुछ न कर सकी। मेरे सज्जन स्नेही और कुटुम्बी जन भी मुझे उस दुःख से न छुड़ा सके यही मेरी अनाथता थी।

इस प्रकार चारों तरफ से असहायता और अनाथता का अनुभव होने से मैंने सोचा कि इस अनन्त संसार में ऐसी वेदनाएं सहन करनी पड़ें यह बात बहुत असह्य है इस लिए अब की बार यदि मैं इस दारुण वेदना से छूट जाऊँ तो क्षांत (क्षमाशील), दान्त तथा निरारम्भी होकर तत्क्षण ही संयम धारण करूँगा। हे राजन्! रात्रि को ऐसा निश्चय करके मैं सो गया। ज्यों ज्यों रात्रि व्यतीत होती गई त्यों त्यों वह मेरी दारुण वेदना भी क्षीण होती गई। प्रातः काल तो मैं बिलकुल नीरोग हो गया। अपने माता पिता से आज्ञा लेकर क्षान्त, दान्त और निरारम्भी होकर संयमी (साधु) बन गया। संयम धारण करने के बाद मैं अपने आपका तथा समस्त त्रस और स्थावर जीवों का नाथ (रक्षक) हो गया।

हे राजन्! यह आत्मा ही आत्मा के लिये वैतरणी नदी तथा कूटशाल्मली वृक्ष के समान दुःखदायी है और यही कामधेनु तथा नन्दन वन के समान सुखदायी भी है। यह आत्मा ही सुख दुःख का कर्त्ता और भोक्ता है। यदि सुमार्ग पर चले तो यह आत्मा ही अपना सब से बड़ा मित्र है और यदि कुमार्ग पर चले तो आत्मा ही अपना सब से बड़ा शत्रु है।

इस प्रकार अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को अपना पूर्व वृत्तान्त सुना कर यह बतलाया कि मुझे किस प्रकार वेदना सहन करनी पड़ी और किस प्रकार मुझे अनाथता का अनुभव हुआ। छः काय जीवों के रक्षक महाव्रतधारी मुनिराज ही सच्चे सनाथ (रक्षक) हैं किन्तु मुनिवृत्ति धारण करके जो उसका सम्यक् प्रकार से पालन नहीं कर सकते वे भी अनाथ ही हैं। यह दूसरे प्रकार की अनाथता है। इसका वर्णन इस अध्ययन की अड़तीसवीं गाथा से लेकर तरेपनवीं गाथा तक किया गया है। अतः उन पन्द्रह गाथाओं का भावार्थ क्रमशः नीचे दिया जाता है -

(१) हे राजन् ! बहुत से पुरुष निर्ग्रन्थ धर्म को अंगीकार तो कर लेते हैं किन्तु परीषह और उपसर्गों के आने पर कायर बन जाते हैं और साधु धर्म का सम्यक् पालन नहीं कर सकते । यह उनकी अनाथता है ।

(२) जो कोई पहले महाव्रतों को ग्रहण करके बाद में अपनी असावधानता एवं प्रमादवश उनका यथोचित पालन नहीं करता और अपनी आत्मा का निग्रह न कर सकने के कारण इन्द्रियों के विषयों में आसक्त बन कर रसलोलुप बन जाता है । ऐसा भिक्षु रागद्वेष रूपी संसार के बन्धनों का मूलोच्छेदन नहीं कर सकता क्योंकि किसी भी वस्तु को छोड़ देना सरल है किन्तु उसकी आसक्ति को दूर करना बहुत मुश्किल है ।

(३) ईर्या (उपयोग पूर्वक चलना), भाषा (उपयोग पूर्वक निर्दोष भाषा बोलना), एषणा (निर्दोष भिक्षा आदि ग्रहण करने की वृत्ति), पात्र, कम्बल, वस्त्रादि को यतनापूर्वक उठाना, रखना तथा कारणवशात् बची हुई अधिक वस्तु को तथा मल मूत्र आदि त्याज्य वस्तुओं को यतना पूर्वक निर्दोष स्थान में परठना, इन पाँच समितियों का जो साधु पालन नहीं करता वह वीतराग प्ररूपित धर्म का आराधन नहीं कर सकता ।

(४) जो बहुत समय तक साधुव्रत की क्रिया करके भी अपने व्रत नियमों में अस्थिर हो जाता है तथा तपश्चर्या आदि अनुष्ठानों से भ्रष्ट हो जाता है ऐसा साधु बहुत वर्षों तक त्याग, संयम, केश-लोच आदि कष्टों द्वारा अपने शरीर को सुखाने पर भी संसार सागर को पार नहीं कर सकता ।

(५) ऐसा साधु पोली मुट्ठी अथवा खोटे रुपये की तरह सार (मूल्य) रहित हो जाता है, जैसे वैडूर्यमणि के सामने काच का टुकड़ा निरर्थक (व्यर्थ) है वैसे ही ज्ञानी पुरुषों के सामने वह साधु

निर्मूल्य हो जाता है अर्थात् गुणवानों में उसका आदर नहीं होता।

(६) जो रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि मुनि के बाह्य चिन्ह मात्र रखता है और केवल आजीविका के लिए ही वेशधारी साधु बनता है ऐसा पुरुष त्यागी नहीं है और त्यागी न होते हुए भी अपने को झूठमूठ ही साधु कहलवाता है। ऐसे वेशधारी ढोंगी साधु को बहुत काल तक नरक और तिर्यञ्च योनि के अन्दर असह्य दुःख भोगने पड़ते हैं।

(७) जैसे– तालपुट विष (ऐसा दारुण विष जो तत्काल प्राणों का नाश करता है) खाने से, उल्टी रीति से शस्त्र ग्रहण करने से तथा अविधिपूर्वक मंत्र जाप करने से स्वयं धारण करने वाले का ही नाश हो जाता है वैसे ही चारित्र धर्म को अंगीकार करके जो साधु विषय वासनाओं की आसक्ति में फंस कर इन्द्रिय लोलुप हो जाता है वह अपने आप का पतन कर डालता है।

(८) सामुद्रिक शास्त्र, स्वप्नविद्या, ज्योतिष तथा विविध कौतूहल (जादूगरी) आदि विद्याओं को सीख कर उनके द्वारा आजीविका चलाने वाले कुसाधु को अन्त समय में वे कुविद्याएँ शरणभूत नहीं होतीं।

विद्या वही है जिससे आत्मा का विकास हो। जिससे आत्मा का पतन हो वह विद्या, विद्या नहीं किन्तु कुविद्या है।

(९) वह वेशधारी साधु अपने अज्ञान रूपी अन्धकार से सदा दुखी होता है। चारित्रधर्म का यथावत् पालन न कर सकने के कारण वह इस भव में अपमानित होता है और परलोक में नरक आदि के असह्य दुःख भोगता है।

(१०) जो साधु अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन कर अपने निमित्त बनाई गई, मोल ली गई अथवा केवल एक ही घर से प्राप्त सदोष भिक्षा ग्रहण किया करता है वह कुसाधु अपने पापों के कारण

दुर्गति में जाता है।

(११) शिर का छेदन करने वाला शत्रु भी इतना अपकार नहीं कर सकता जितना कुमार्ग पर चल कर यह आत्मा अपना अपकार कर लेती है। जब यह आत्मा कुमार्ग पर चलती है तब अपना भान भी भूल जाती है। जब मृत्यु आकर गला दबाती है तब उसको अपना भूतकाल याद आता है और फिर उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है।

(१२) साधु वृत्ति अंगीकार करके उसका यथावत् पालन न करने वाले वेशधारी साधु का सारा कष्ट सहन भी व्यर्थ हो जाता है और उसका सारा पुरुषार्थ विपरीत फल देने वाला होता है। ऐसे भ्रष्टाचारी साधु का इस लोक में अपमान होता है और परलोक में महान् दुखों का भोक्ता बनता है।

(१३) जैसे भोगरस (जिह्वा स्वाद) में लोलुप (मांस खाने वाला) पक्षी स्वयं दूसरे हिंसक पक्षी द्वारा पकड़ा जाकर खूब परिताप पाता है वैसे ही दुराचारी तथा स्वच्छंदी साधु को जिनेश्वर देव के मार्ग की विराधना करके मृत्यु के समय बहुत पश्चात्ताप करना पड़ता है।

(१४) ज्ञान तथा गुण से युक्त हितशिक्षा को सुन कर बुद्धिमान् पुरुष दुराचारियों के मार्ग को छोड़ कर महातपस्वी मुनीश्वरों के मार्ग पर गमन करे।

(१५) इस प्रकार चारित्र के गुणों से युक्त बुद्धिमान् साधक श्रेष्ठ संयम का पालन कर निष्पाप हो जाते हैं तथा वे पूर्व संचित कर्मों का नाश कर अन्त में अक्षय मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार कर्म शत्रुओं के घोर शत्रु, दान्त, महातपस्वी, विपुल यशस्वी, दृढव्रती महामुनीश्वर अनाथी ने अनाथता का सच्चा अर्थ राजा श्रेणिक को सुनाया। इसे सुन कर राजा श्रेणिक अत्यन्त

प्रसन्न हुआ। दोनों हाथ जोड़ कर राजा श्रेणिक उन महामुनीश्वर से इस प्रकार अर्ज करने लगा- हे भगवन्! आपने मुझे सच्ची अनाथता का स्वरूप बड़ी ही सुन्दरता के साथ समझा दिया। आपका मानव जन्म पाना धन्य है। आपकी यह दिव्य कान्ति, दिव्य प्रभाव, शान्त मुखमुद्रा, उज्ज्वल सौम्यता धन्य हैं। जिनेश्वर भगवान् के सत्यमार्ग में चलने वाले आप वास्तव में सनाथ हैं, सबान्धव हैं। हे संयमिन्! अनाथ जीवों के आप ही नाथ हैं। सब प्राणियों के आप ही रक्षक हैं। हे क्षमा सागर महापुरुष! मैंने आपके ध्यान में विघ्न (भंग) डाल कर और भोग भोगने के लिए आमन्त्रित करके आपका जो अपराध किया है उसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।

इस प्रकार राजाओं में सिंह के समान श्रेणिक राजा ने श्रमण सिंह (साधुओं में सिंह के समान) अनाथी मुनि की परम भक्ति पूर्वक स्तुति की। मुनि का धर्मोपदेश सुन कर राजा श्रेणिक अपने अन्तःपुर (सब रानियाँ और दास दासियाँ) और सकल कुटुम्बी जनों सहित मिथ्यात्व का त्याग कर शुद्ध धर्मानुयायी बन गया।

अनाथी मुनि के इस अमृतोपम समागम से राजा श्रेणिक का रोम रोम प्रफुल्लित हो गया। परम भक्ति पूर्वक मुनीश्वर को वन्दना नमस्कार करके अपने स्थान को चला गया।

तीन गुप्तियों से गुप्त, तीन दण्डों (मनदण्ड, वचन दण्ड और कायदण्ड) से विरक्त, गुणों के भण्डार अनाथी मुनि अनासक्त भाव से अप्रतिबन्ध विहार पूर्वक इस पृथ्वी पर विचरने लगे।

साधुता में ही सनाथता है। आदर्श त्याग में ही सनाथता है। आसक्ति में अनाथता है। भोगों में आसक्त होना अनाथता है और इच्छा तथा वासना की परतन्त्रता में भी अनाथता है। अनाथता को छोड़ कर सनाथ होना अपने आप ही अपना मित्र बनना प्रत्येक

मुमुक्षु का कर्तव्य है। (उत्तराध्ययन महानिर्ग्रन्थीय नामक २० वां अध्ययन)

८५५- योग अथवा प्रयोगगति पन्द्रह

मन, वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से मन वचन और कायवर्गणा के पुद्गलों का आलम्बन लेकर आत्म प्रदेशों में होने वाले परिस्पंद, कंपन या हलन चलन को भी योग कहते हैं। आलम्बन के भेद से इसके तीन भेद हैं-मन, वचन और काया। इनमें मन के चार। वचन के चार और काया के सात, इस प्रकार कुल पन्द्रह भेद हो जाते हैं। पन्नवणा सूत्र में योग के स्थान पर प्रयोग शब्द है। इन्हीं को प्रयोगगति भी कहा जाता है-

(१) सत्य मनोयोग- मन का जो व्यापार सत् अर्थात् सज्जन-पुरुष या साधुओं के लिये हितकारी हो, उन्हें मोक्ष की ओर ले जाने वाला हो उसे सत्यमनोयोग कहते हैं अथवा जीवादि पदार्थों के अनेकान्त रूप यथार्थ विचार को सत्य मनोयोग कहते हैं।

(२) असत्य मनोयोग- सत्य से विपरीत अर्थात् संसार की ओर ले जाने वाले मन के व्यापार को असत्य मनोयोग कहते हैं अथवा जीवादि पदार्थ नहीं हैं, एकान्त सत् हैं इत्यादि एकान्त रूप मिथ्या विचार असत्य मनोयोग है।

(३) सत्यमृषा मनोयोग- व्यवहार नय से ठीक होने पर भी निश्चय नय से जो विचार पूर्ण सत्य न हो, जैसे- किसी उपवन में धव, खैर, पलाश आदि के कुछ पेड़ होने पर भी अशोकवृक्ष अधिक होने से उसे अशोक वन कहना। वन में अशोकवृक्षों के होने से यह बात सत्य है और धव आदि के वृक्ष होने से मृषा(असत्य)भी है।

(४) असत्यामृषा मनोयोग- जो विचार सत्य नहीं है और असत्य भी नहीं है उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं। किसी प्रकार का विवाद खड़ा होने पर वीतराग सर्वज्ञ के बताए हुए

सिद्धान्त के अनुसार विचार करने वाला आराधक कहा जाता है उसका विचार सत्य है। जो व्यक्ति सर्वज्ञ के सिद्धान्त से विपरीत विचरता है, जीवादि पदार्थों को एकान्त नित्य आदि बताता है वह विराधक है। उसका विचार असत्य है। जहाँ वस्तु को सत्य या असत्य किसी प्रकार सिद्ध करने की इच्छा न हो केवल वस्तु का स्वरूप मात्र दिखाया जाय, जैसे- देवदत्त ! घड़ा लाओ इत्यादि चिन्तन में वहाँ सत्य या असत्य कुछ नहीं होता। आराधक विराधक की कल्पना भी वहाँ नहीं होती। इस प्रकार के विचार को असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं। यह भी व्यवहार नय की अपेक्षा है। निश्चय नय से तो इसका सत्य या असत्य में समावेश हो जाता है।

(५-६-७-८) ऊपर लिखे मनोयोग के अनुसार वचन योग के भी चार भेद हैं- (५) सत्य वचन योग (६) असत्य वचन योग (७) सत्यमृषा वचन योग (८) असत्यामृषा वचन योग।

काय योग के सात भेद

(९) औदारिक शरीर काय योग- काय का अर्थ है समूह। औदारिक शरीर पुद्गल स्कन्धों का समूह है, इस लिए काय है। इस में होने वाले व्यापार को औदारिक शरीर काय योग कहते हैं। यह योग पर्याप्त तिर्यश्च और मनुष्यों के ही होता है।

(१०) औदारिक मिश्र शरीर काय योग- वैक्रिय, आहारक और कार्मण के साथ मिले हुए औदारिक को औदारिक मिश्र कहते हैं। औदारिक मिश्र के व्यापार को औदारिक मिश्र शरीर काय योग कहते हैं।

(११) वैक्रिय शरीर काय योग- वैक्रिय शरीर पर्याप्ति के कारण पर्याप्त जीवों के होने वाला वैक्रिय शरीर का व्यापार वैक्रिय शरीर काय योग है।

(१२) वैक्रिय मिश्र शरीर काय योग–देव और नारकी जीवों के अपर्याप्त अवस्था में होने वाला काय योग वैक्रिय मिश्र शरीर काययोग है। यहाँ वैक्रिय और कार्मण की अपेक्षा मिश्र योग होता है।

(१३) आहारक शरीर काययोग– आहारक शरीर पर्याप्ति के द्वारा पर्याप्त जीवों को आहारक शरीर काययोग होता है।

(१४) आहारक मिश्र शरीर काययोग–जिस समय आहारक शरीर अपना कार्य करके वापिस आकर औदारिक शरीर में प्रवेश करता है उस समय आहारक मिश्र शरीर काय योग होता है।

(१५) तैजस कार्मण शरीर योग–विग्रह गति में तथा सयोगी केवली को समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में तैजस कार्मण शरीर योग होता है। तैजस और कार्मण सदा एक साथ रहते हैं, इस लिए उन के व्यापार रूप काय योग को भी एक ही माना है।

काय योग के सात भेदों का विशेष स्वरूप इसी के दूसरे भाग के बोल नं० ५४७ में दिया गया है।

(पन्नवणा पद १६) (भगवती शतक २५ उद्देशा १)

८५६– बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद

जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थ दो वस्तुओं को आपस में जोड़ देते हैं उसी प्रकार जो कर्म शरीरनामकर्म के बल से वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले पुद्गलों को पहले ग्रहण किए हुए पुद्गलों के साथ जोड़ देता है, उसे बन्धन नामकर्म कहते हैं। इसके बल से औदारिक आदि शरीरों द्वारा ग्रहण होने वाले नए पुद्गल शरीर के साथ चिपक कर एकमेक हो जाते हैं।

पाँच शरीरों में औदारिक, वैक्रिय और आहारक ये प्रत्येक भव में नए पैदा होते हैं इस लिए प्रथम उत्पत्ति के समय इनका सर्वबन्ध और बाद में देशबन्ध होता है अर्थात् उसी शरीर में नए नए पुद्गल आकर चिपकते रहते हैं। तैजस और कार्मण शरीर

जीव के साथ अनादि काल से लगे हुए हैं इस लिए उन दोनों का सर्वबन्ध नहीं होता, केवल देशबन्ध ही होता है। बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद हैं–

(१) औदारिक-औदारिक बन्धन– जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत अर्थात् पहले ग्रहण किए हुए औदारिक पुद्गलों के साथ गृह्यमाण अर्थात् जिन का वर्तमान समय में ग्रहण किया जा रहा हो ऐसे औदारिक पुद्गलों का आपस में मेल हो जावे उसे औदारिक औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म कहते हैं।

(२) औदारिक तैजस बन्धन–जिस कर्म के उदय से औदारिक पुद्गलों का तैजस पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो उसे औदारिक तैजस बन्धन नामकर्म कहते हैं।

(३) औदारिक कार्मण बन्धन– जिस कर्म के उदय से औदारिक पुद्गलों का कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है उसे औदारिक कार्मण बन्धन नामकर्म कहते हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं। बन्धन नामकर्म के शेष भेद निम्न लिखित हैं–

(४) वैक्रिय वैक्रिय बन्धन।
(५) वैक्रिय तैजस बन्धन।
(६) वैक्रिय कार्मण बन्धन।
(७) आहारक-आहारक बन्धन।
(८) आहारक तैजस बन्धन।
(९) आहारक कार्मण बन्धन।
(१०) औदारिक तैजस कार्मण बन्धन।
(११) वैक्रिय तैजस कार्मण बन्धन।
(१२) आहारक तैजस कार्मण बन्धन।

(१३) तैजस तैजस बन्धन ।
(१४) तैजस कार्मण बन्धन ।
(१५) कार्मण कार्मण बन्धन ।

(कर्मग्रन्थ पहला गाथा ३५ और ३७) (कर्मप्रकृति गाथा १)

८५७– तिथियों के नाम पन्द्रह

एकम से लेकर पूर्णिमा या अमावस्या तक पन्द्रह तिथियाँ हैं। चन्दपण्णत्ति में इनके नाम नीचे लिखे अनुसार दिए हैं–

प्रचलित नाम	दिन का नाम	रात्रि का नाम
(१) प्रतिपदा	पूर्वांग	उत्तमा
(२) द्वितीया	सिद्धमनोरम	सुनक्षत्रा
(३) तृतीया	मनोहर	एलावची
(४) चतुर्थी	यशोभद्र	यशोधरा
(५) पंचमी	यशोधर	सौमनसा
(६) षष्ठी	सर्वकाम समेध	श्रीभूता
(७) सप्तमी	इन्द्रमूर्धाभिषेक	विजया
(८) अष्टमी	सौमनस	वैजयन्ती
(९) नवमी	धनञ्जय	जयन्ती
(१०) दशमी	अर्थसिद्ध	अपराजिता
(११) एकादशी	अभिजित्	स्त्री
(१२) द्वादशी	अत्यसन	समाहारा
(१३) त्रयोदशी	शतंजय	तेजा
(१४) चतुर्दशी	अग्निवेश	अतितेजा
(१५) पञ्चदशी (पूर्णिमा)	उपशम	देवानन्दा

(चन्द्रप्रज्ञप्ति प्राभृत १० प्रतिप्राभृत १४)

८५८– कर्मभूमि पन्द्रह

जिन क्षेत्रों में असि (शस्त्र और युद्धविद्या) मसि (लेखन और

पठनपाठन) और कृषि (खेती) तथा आजीविका के दूसरे साध
रूप कर्म अर्थात् व्यवसाय हों उन्हें कर्मभूमि कहते हैं। कर्मभूमिय
पन्द्रह हैं अर्थात् पन्द्रह क्षेत्रों में उपरोक्त कर्म होते हैं– पाँच भरत
पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह।

(१-५) पाँच भरत– जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड में दो औ
पुष्करार्द्ध द्वीप मे दो। इस प्रकार पाँच भरत हो जाते हैं।

(६-१०) पाँच ऐरवत– जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड में द
और पुष्करार्द्ध में दो। इस प्रकार पाँच ऐरवत हो जाते हैं।

(११-१५) पाँच महाविदेह– जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण
में दो और पुष्करार्द्ध में दो। इस प्रकार कुल ५ महाविदेह हो जाते है

उपरोक्त पन्द्रह क्षेत्रों में से जम्बूद्वीप में तीन क्षेत्र हैं– १ भर
१ ऐरवत और १ महाविदेह। धातकीखण्ड में छः क्षेत्र हैं– २ भर
२ ऐरवत और दो महाविदेह। इसी प्रकार पुष्करार्द्ध में भी
क्षेत्र हैं। कुल मिलाकर पन्द्रह हो जाते हैं।

(पन्नवणा पद १ सूत्र ६३) (भगवती शतक २० उद्देशा

८५६– परमाधार्मिक पन्द्रह

पापाचरण और क्रूर परिणामों वाले असुरजाति के देव ज
तीसरी नरक तक नारकी जीवों को विविध प्रकार के दुःख देते
वे परमाधार्मिक कहलाते हैं। वे पन्द्रह प्रकार के होते हैं–

(१) अम्ब (२) अम्बरीष (३) श्याम (४) शबल (५) रौ
(६) उपरौद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनु
(११) कुम्भ (१२) वालुका (१३) वैतरणी (१४) खरस्वर औ
(१५) महाघोष।

इनके भिन्न भिन्न कार्य दूसरे भाग, बोल नं० ५६० (नर
सात पृष्ठ ३२४ प्रथमावृत्ति) में दिए जा चुके हैं।

(समवायांग १५ समवा

८६०- कर्मादान पन्द्रह

अधिक हिंसा वाले धन्धों से आजीविका कमाना कर्मादान है अथवा जिन कार्यों से अधिक कर्मबन्ध हो उन्हें कर्मादान कहते हैं।

शास्त्र में श्रावकों का वर्णन करते हुए कहा है-

अप्पारंभा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया,
धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मप्पलोइया, धम्मप्पज्जलणा,
धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।

(उववाई सूत्र ४१) (सूयगडाग श्रुतस्कन्ध २ अध्ययन २)

अर्थात् - श्रावक अल्प आरम्भ वाले, अल्प परिग्रह वाले, धार्मिक, धर्म के अनुसार चलने वाले, धर्म में स्थिर, धर्म के कथक (धर्मोपदेशक), धर्म में होशियार, धर्म के प्रकाश वाले, धार्मिक आचार वाले और धर्म से ही आजीविका उपार्जन करने वाले होते हैं।

इस लिए श्रावक को पापकारी व्यापार न करने चाहिए। श्रावक को कर्मादान जानने चाहिए किन्तु आचरण न करना चाहिए। कर्मादान पन्द्रह हैं-

(१) इंगाल कम्मे (अंगार कर्म)- कोयले बना कर उनके धन्धे से आजीविका कमाना। ईंट वगैरह पकाना भी अंगार कर्म है क्योंकि उसमें भी अग्निकाय का महारम्भ होता है।

(२) वणकम्मे (वन कर्म)- जंगल के वृक्ष काट कर उन्हें बेचना और इस प्रकार आजीविका चलाना। (उपासकदशाग)

भगवती सूत्र के आठवें शतक के पाँचवें उद्देशे की टीका में दिया है-'एवं बीजपेषणाद्यपि' अर्थात् इसी प्रकार बीजों का पीसना वगैरह भी वनकर्म है।

(३) साडी कम्मे (शाकट कर्म)- गाड़ियों के बनाने, बेचने और भाड़े पर चलाने का धन्धा।

(४) भाडी कम्मे (भाटक कर्म)–भाड़ा कमाने के लिए गाड़ी आदि से दूसरे के समान को ढोना। आवश्यकनिर्युक्ति में पशु को भाड़े पर देना भी भाडीकर्म बतलाया है।

(५) फोडी कम्मे (स्फोटन कर्म) – कुदाली, हल वगैरह से भूमि को फोड़ना और उसमें से निकले हुए पत्थर, मिट्टी, धातु आदि पदार्थों को बेच कर आजीविका चलाना।

(६) दंत वाणिज्जे (दन्तवाणिज्य)– हाथी दाँत, शंख, केश, नख, चर्म आदि का धंधा करना अर्थात् हाथी दाँत आदि निकालने वालों से इन चीजों को खरीदना, पेशगी रकम या आर्डर देकर उन्हें निकलवाना और उन्हें बेच कर आजीविका चलाना दंतवाणिज्य है। (आवश्यकनिर्युक्ति)

(७) लक्खवाणिज्जे (लाक्षावाणिज्य)– लाख का व्यापार करना। जिन वस्तुओं को तैयार करने में त्रस जीवों की हिंसा हो ऐसी खान, वृक्ष, या त्रस जीवों से पैदा होने वाली सभी वस्तुएं यहाँ लाक्षा शब्द से ले ली जाती हैं। उन में से किसी का व्यापार करना लाक्षावाणिज्य है।

नोट–रेशम बनाने का धन्धा भी लाक्षावाणिज्य में आ जाता है।

(८) रसवाणिज्जे (रसवाणिज्य)– मदिरा वगैरह का व्यापार अर्थात् कलाल का धन्धा करना।

(९) विसवाणिज्जे (विषवाणिज्य)–अफीम, संखिया आदि विषैली वस्तुओं का व्यापार करना। विष शब्द से वे सभी शस्त्र भी ले लिए जाते हैं जिनका प्रयोजन जीवों की हिंसा करना है।

(१०) केसवाणिज्जे (केशवाणिज्य)– केशवाले प्राणी अर्थात् दास, दासी, गाय, हाथी, घोड़ा आदि को बेचने का धन्धा करना।

(११) जंतपीलणयाकम्मे (यन्त्रपीड़नकर्म) – तिल और ईख आदि को घानी या कोल्हू में पील कर तेल या रस निकालने का

धन्धा करना।

(१२) निल्लंछणकम्मे (निर्लाञ्छनकर्म)– पशुओं को खसी करने (नपुँसक बनाना) आदि का धन्धा करना।

(१३) दवग्गिदावणया (दवाग्निदापनता)– खेत या भूमि साफ करने के लिए जंगलों में आग लगाना।

(१४) सरदहतलायसोसणया (सरोद्रहतडागशोषणता)– खेती आदि करने के लिए झील, नदी, तालाब आदि को सुखाना।

(१५) असईजणपोसणया (असतीजनपोषणता)– आजीविका कमाने के लिए दुश्चरित्र स्त्रियों तथा हिंसक प्राणियों को पालना।

(उपासकदशांग सूत्र, अध्ययन १) (भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा ५)

(आवश्यकनिर्युक्ति प्रत्याख्यानाध्ययन सूत्र ७)

सोलहवाँ बोल संग्रह

८६१– दशवैकालिक सूत्र द्वितीय चूलिका की सोलह गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र में दस अध्ययन और दो चूलिकाएं हैं। पहली चूलिका में १८ गाथाएं हैं। उनमें धर्म में स्थिर होने का मार्ग बताया गया है। दूसरी चूलिका का नाम विविक्तचर्या है। इस में सोलह गाथाएं हैं और साधु के लिए विहार आदि का उपदेश दिया गया है। गाथाओं का भावार्थ क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है–

(१) केवली द्वारा भाषित श्रुत स्वरूप चूलिका को कहूँगा, जिसे सुन कर धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

(२) जब काठ नदी के प्रवाह में गिर जाता है तो वह नदी के वेग के साथ समुद्र की ओर बहने लगता है इसी प्रकार जो जीव विषय रूपी नदी के प्रवाह में पड़े हुए हैं वे संसार समुद्र की ओर बहे जा रहे हैं। जो जीव संसार सागर से विमुख होकर मुक्ति जाने की इच्छा रखते हैं उन्हें विषय रूपी प्रवाह से हट कर अपने को संयम रूपी सुरक्षित स्थान में स्थापित करना चाहिए।

(३) जिस प्रकार काठ नदी में अनुस्रोत (बहाव के अनुसार) बिना किसी कठिनाई के सरलता पूर्वक चला जाता है किन्तु प्रतिस्रोत (बहाव के विपरीत) चलने में कठिनाई होती है उसी प्रकार संसारी जीव भी स्वाभाविक रूप से अनुस्रोत अर्थात् विषय भोगों की ओर बढ़े चले जाते हैं। प्रतिस्रोत अर्थात् विषय भोगों से विमुख होकर संयम की ओर बढ़ना बहुत कठिन है। सांसारिक कार्यों के लिए बड़े बड़े वीर कहलाने वाले व्यक्ति भी संयम के लिए अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं।

नदियाँ समुद्र की ओर जाती हैं इस लिए नदी में अनुस्रोत बहती हुई वस्तु समुद्र में जा पहुँचती है। इसी को अनुस्रोत गति कहते हैं। इसी प्रकार विषय भोग रूपी नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ जीव संसार समुद्र में जा पहुँचता है। इस लिए विषय भोगों की ओर जाने को अनुस्रोत कहा है। उनके विरुद्ध संयम या दीक्षा की ओर प्रवृत्त होना प्रतिस्रोत है। इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(४) जो साधु ज्ञानादि आचारों में पराक्रम करता है तथा इन्द्रिय जय रूप संयम का धनी है अर्थात् चित्त की अव्याकुलता रूप समाधि वाला है उसे योग्य है कि वह अनियतवास आदि रूप चर्या, मूल गुण, उत्तरगुण, पिंडविशुद्धि आदि शास्त्र में बताए हुए मार्ग के अनुसार आचरण करे, अर्थात् शास्त्र में जिस समय जो जो क्रियाएं करने के लिए जैसा विधान किया गया है उसी के अनुसार आचरण करे।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक की गई चारित्र की आराधना मोक्ष रूप फल देने वाली होती है।

(५) इस गाथा में साधु की विहार चर्या का स्वरूप बताया गया है। नीचे लिखी सात बातें साधुओं के लिए आचरणीय और प्रशस्त अर्थात् कल्याणकारी मानी गई हैं–

(क) अनियतवास– बिना किसी विशेष कारण के एक ही स्थान पर अधिक न ठहरना अनियतवास है। एक ही स्थान पर अधिक दिन ठहरने से स्थान में ममत्व हो जाने की सम्भावना है।

(ख) समुदानचर्या– अनेक घरों से गोचरी द्वारा भिक्षा ग्रहण करना समुदानचर्या है। एक ही घर से भिक्षा लेने में दोष लगने की सम्भावना है।

(ग) अज्ञात– हमेशा नए घरों से भिक्षा तथा उपकरण लेने चाहिए। एक ही घर से सदा भिक्षा आदि लेने में आधाकर्म आदि

दोष लगने की सम्भावना है।

(घ) उञ्छ– मधुकरी या गोचरी वृत्ति के अनुसार प्रत्येक घर से थोड़ा थोड़ा आहार तथा दूसरी वस्तुएं लेना।

(ङ) प्रतिरिक्त– भीड़ रहित एकान्त स्थान में ठहरना। भीड़ भड़क्के वाले स्थान में कोलाहल होने से चित्त स्थिर नहीं रहता।

(च) अल्पोपधि– उपधि अर्थात् भण्डोपकरण आदि धर्म साधन थोड़े रखना। वस्त्र, पात्रादि उपकरण अधिक होने से ममत्व हो जाता है और संयम की विराधना होने का डर रहता है।

(छ) कलहविवर्जना– किसी के साथ कलह न करना।

मुनियों के लिए उपरोक्त विहारचर्या प्रशस्त मानी गई है।

(६) इस गाथा में भी साधुचर्या का वर्णन है।

(क) राज कुल आदि में या जहाँ कोई बड़ा भोज हो रहा हो, आने जाने का मार्ग लोगों से भरा हो, ऐसे स्थान में साधु को भिक्षा के लिए न जाना चाहिए। वहाँ स्त्री तथा सचित्त वस्तु आदि का संघटा हो जाने की सम्भावना है तथा भीड़ भड़क्के में धक्का लग जाने से गिर जाने आदि का डर भी है, इस लिए साधु को ऐसे स्थान में न जाना चाहिए।

(ख) स्वपक्ष या परपक्ष की ओर से अपना अपमान हो रहा हो तो उसे शान्ति पूर्वक सहन करना चाहिए। क्रोध न करके क्षमाभाव धारण करना चाहिए।

(ग) उपयोग पूर्वक शुद्ध आहार पानी ग्रहण करना चाहिए।

(घ) हाथ या कड़छी आदि के किसी अचित्त द्रव्य द्वारा संसृष्ट (खरड़े हुए) होने पर ही उनसे आहार पानी लेना चाहिए नहीं तो पुरःकर्म दोष की सम्भावना है। भिक्षा देने के लिए हाथ या कड़छी आदि को सचित्त पानी से धोना पुरःकर्म कहलाता है। यदि हाथ वगैरह पहले से ही शाक वगैरह से संसृष्ट अर्थात् भरे हुए हों तो

उनसे वही वस्तु परोसने में धोने की आवश्यकता नहीं रहती इस लिए वहाँ पुरःकर्म दोष की सम्भावना नहीं है।

(ङ) जिस पदार्थ के लेने की इच्छा हो यदि उसी से हाथ या परोसने का बर्तन संसृष्ट हो तभी उसे लेना चाहिए।

(७) मोक्षार्थी को मद्य मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन न करना चाहिए। किसी से ईर्ष्या न करनी चाहिए। पौष्टिक पदार्थों का अधिक सेवन न करना चाहिए। प्रतिदिन बार बार कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग में आत्मचिन्तन और धर्मध्यान करने से आत्मा निर्मल होती है। सदा वाचना पृच्छना आदि स्वाध्याय में लगे रहना चाहिए। स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है और चित्त में स्थिरता आती है।

(८) विहार करते समय साधु श्रावकों से शयन, आसन, निषद्या, भक्त, पानी आदि किसी भी वस्तु के लिए प्रतिज्ञा न करावे अर्थात् किसी भी वस्तु के लिए यह न कहे कि अमुक वस्तु लौटने पर मुझे वापिस दे देना और किसी को मत देना इत्यादि। गाँव, कुल, नगर या देश किसी भी वस्तु में साधु को ममत्व न करना चाहिए।

(९) मुनि गृहस्थों का वेयावच, अभिवादन, वन्दन, पूजन तथा सत्कार आदि न करे। ऐसे संक्लेश रहित साधुओं के संसर्ग में रहे जिन के साथ रहने में संयम की विराधना न हो।

(१०) यदि अपने से अधिक या बराबर गुणों वाला तथा संयम में निपुण कोई साधु न मिले तो मुनि पाप रहित तथा विषयों में अनासक्त होता हुआ अकेला ही विचरे किन्तु शिथिलाचारी और पासत्थों के साथ न रहे।

(११) एक स्थान पर चतुर्मास में चार महीने और दूसरे समय में उत्कृष्ट एक महीना रहने का शास्त्र में विधान है। जिस स्थान पर एक बार मासकल्प या चतुर्मास करे, दो या तीन चतुर्मास

अथवा मासकल्प दूसरी जगह बिना किए फिर उसी स्थान पर मासकल्प आदि करना नहीं कल्पता अर्थात् साधु जिस स्थान पर जितने समय रहे उससे दुगुना समय दूसरी जगह बिताने के बाद ही फिर पूर्वस्थान पर निवास कर सकता है। जिस स्थान पर चतुर्मास करे, दो चतुर्मास दूसरी जगह करने के बाद ही फिर उस स्थान पर चतुर्मास कर सकता है। इसी प्रकार जहाँ मासकल्प करे उसी जगह फिर मासकल्प दो महीनों के बाद ही कल्पता है।

इस लिए साधु को एक स्थान पर चतुर्मास या मासकल्प के बाद फिर उसी जगह चतुर्मास या मासकल्प नहीं करना चाहिए। साधु को शास्त्र में बताए हुए मार्ग के अनुसार चलना चाहिए। शास्त्र में जैसी आज्ञा है वैसा ही करना चाहिए।

(१२) जो साधु रात्रि के पहले तथा पिछले पहर में आत्म-चिन्तन करता है और विचारता है, मैंने क्या कर लिया है, क्या करना बाकी है और ऐसी कौनसी बात है जिसे मैं कर सकता हूँ फिर भी नहीं कर रहा हूँ, वही साधु श्रेष्ठ होता है।

(१३) आत्मार्थी साधु शान्त चित्त से विचार करे– जब मेरे से कोई भूल हो जाती है तो दूसरे लोग क्या सोचते हैं। मेरी आत्मा स्वयं उस समय क्या कहती है। मेरे से भूल होना क्यों नहीं छूटता है इस प्रकार सम्यक् विचार करता हुआ साधु भविष्य में दोषों से छुटकारा पा जाता है।

(१४) साधु जब कभी मन, वचन या काया को पाप की ओर झुकता हुआ देखे तो शीघ्र ही खींच कर सन्मार्ग में लगादे, जैसे लगाम खींचकर कुमार्ग में चलते हुए घोड़े को सन्मार्ग में चलाया जाता है।

(१५) जिसने चंचल इन्द्रियों को जीत लिया है। जो संयम में पूरे धैर्य वाला है। मन, वचन और काया रूप तीनों योग जिस के वश में हैं, ऐसे सत्पुरुष को प्रतिबुद्ध जीवी (सदा जागता रहने वाला)

कहा जाता है, क्योंकि वह अपने जीवन को संयम में बिताता है।

(१६) सब इन्द्रियों को वश में रख कर समाधि पूर्वक आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। जो आत्मा सुरक्षित नहीं है वह जातिपथ अर्थात् जन्म मरण रूप संसार को प्राप्त होती है और सुरक्षित अर्थात् पापों से बचाई हुई आत्मा सब दुःखों का अन्त करके मोक्ष रूप सुख को प्राप्त होती है। (दशवैकालिक सूत्र २ चूलिका)

८६२—स भिक्खु अध्ययन की सोलह गाथाएं

संसार में पतन के निमित्त बहुत हैं, इस लिए साधक को सदा सावधान रहना चाहिए। जिस प्रकार साधु को वस्त्र, पात्र, आहार आदि आवश्यक वस्तुओं में संयम की रक्षा का ध्यान रखना आवश्यक है उसी प्रकार मान प्रतिष्ठा की लालसा को रोकना भी साधु के लिए परमावश्यक है। त्यागी जीवन के लिए जो विद्याएं उपयोगी न हों, उनके सीखने में अपने समय का दुरुपयोग न करना चाहिए। तपश्चर्या और सहिष्णुता ये आत्मविकास के मुख्य साधन हैं। इनका कथन उत्तराध्ययन सूत्र के 'स भिक्खु' नामक पन्द्रहवें अध्ययन की १६ गाथाओं में विस्तार के साथ किया गया है। उन गाथाओं का भावार्थ क्रमशः यहाँ दिया जाता है—

(१) विवेक पूर्वक सच्चे धर्म का पालन करने वाला, कामभोगों से विरक्त, अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों में आसक्ति न रखते हुए अज्ञात घरों से भिक्षावृत्ति करके आनन्द पूर्वक संयम धर्म का पालन करने वाला ही सच्चा भिक्षु (साधु) है।

(२) राग से निवृत्त, पतन एवं असंयम से अपनी आत्मा को बचाने वाला, परीषह और उपसर्गों को सहन कर समस्त जीवों को आत्मतुल्य जानने वाला और किसी भी वस्तु में मूर्च्छित न होने वाला ही भिक्षु (साधु) है।

(३) यदि कोई पुरुष साधु को कठोर वचन कहे या मारे पीटे तो उसे अपने पूर्वसंचित कर्मों का फल जान कर समभाव पूर्वक सहन करे, अपनी आत्मा को वश में रख कर चित्त में किसी प्रकार की व्याकुलता न लाते हुए संयम मार्ग में आने वाले कष्टों को जो समभाव पूर्वक सह लेता है वही भिक्षु (साधु) कहलाता है।

(४) जो अल्प तथा जीर्ण शय्या आदि से सन्तुष्ट रहता है, शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषहों को जो समभाव से सहन कर लेता है वही भिक्षु है।

(५) जो सत्कार या पूजा आदि की लालसा नहीं रखता, यदि कोई उसे प्रणाम करे अथवा उसके गुणों की प्रशंसा करे तो भी मन में अभिमान नहीं लाता ऐसा संयमी, सदाचारी, तपस्वी, ज्ञानवान्, क्रियावान् और आत्मशोधक पुरुष ही सच्चा भिक्षु है।

(६) संयमी जीवन के बाधक कार्यों का त्यागी, दूसरों की गुप्त बात को प्रकाशित न करने वाला, मोह और राग को उत्पन्न करने वाले सांसारिक बन्धनों में न फंसने वाला और तपस्वी जीवन बिताने वाला ही सच्चा भिक्षु है।

(७) नाक, कान आदि छेदने की क्रिया, रागविद्या, भूगोल विद्या, खगोल विद्या (ग्रह नक्षत्र देख कर शुभाशुभ बतलाना), स्वप्नविद्या (स्वप्नों का फल बतलाना), सामुद्रिक शास्त्र (शरीर के लक्षणों द्वारा सुख दुःख बतलाना) अंगस्फुरण विद्या, दण्डविद्या भूगर्भविद्या (जमीन में गड़े हुए धन को जानने की विद्या), पशु, पक्षियों की बोली जानना आदि कुत्सित विद्याओं द्वारा जो अपना संयमी जीवन दूषित नहीं बनाता वही सच्चा भिक्षु है।

(८) मन्त्र प्रयोग करना, जड़ी बूटी तथा अनेक प्रकार के वैद्यक उपचारों को सीख कर काम में लाना, जुलाब देना, वमन कराना, अञ्जन बनाना, रोग आने पर आक्रन्दन करना आदि क्रियाएं

योगियों के लिए योग्य नहीं हैं इस लिए जो इनका त्याग करता है वही सच्चा भिक्षु है।

(९) जो साधु क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण आदि की भिन्न भिन्न प्रकार की वीरता तथा शिल्प कला आदि की पूजा या झूठी प्रशंसा करके संयमी जीवन को कलुषित नहीं करता वही सच्चा भिक्षु है।

(१०) गृहस्थाश्रम में रहते हुए तथा मुनि होने के बाद जिन जिन गृहस्थों से परिचय हुआ हो उनमें से किसी के भी साथ ऐहिक सुख के लिए जो सम्बन्ध नहीं जोड़ता वही सच्चा भिक्षु है। मुनि का सब के साथ केवल पारमार्थिक भाव से ही सम्बन्ध होना चाहिए।

(११) साधु के लिए आवश्यक शय्या (घास फूस आदि) पाट, आहार, पानी अथवा अन्य कोई खाद्य और स्वाद्य पदार्थ गृहस्थ के घर में मौजूद हों किन्तु मुनि द्वारा उन पदार्थों की याचना करने पर यदि वह न दे तो उसको जरा भी द्वेष युक्त वचन न कहे और न मन में बुरा ही माने वही सच्चा भिक्षु है क्योंकि मुनि को मान और अपमान दोनों में समान भाव रखना चाहिये।

(१२) जो अनेक प्रकार के आहार, पानी, खादिम, स्वादिम आदि पदार्थ गृहस्थों से प्राप्त हुए हैं उनको पहले अपने साथी साधुओं में बाँट कर पीछे स्वयं आहार आदि करता है तथा अपने मन, वचन, काया को जो वश में रखता है वही सच्चा भिक्षु है।

(१३) गृहस्थ के घर से ओसामण, पतली दाल, जौ का दलिया, ठंडा भोजन, जौ या कांजी का पानी आदि आहार प्राप्त कर जो उसकी निन्दा नहीं करता तथा सामान्य स्थिति के घरों में भी जाकर जो भिक्षावृत्ति करता है वही साधु है क्योंकि साधु को अपने संयमी जीवन के निर्वाह के लिए ही आहारादि ग्रहण करने चाहिये, जिह्वा की लोलुपता शांत करने के लिए नहीं।

(१४) लोक में देव, मनुष्य और पशुओं के अनेक प्रकार के

अत्यन्त भयंकर तथा द्वेषोत्पादक शब्द होते हैं उन्हें सुन कर जो नहीं डरता या विकार को प्राप्त नहीं होता वही सच्चा भिक्षु है।

(१५) लोक में प्रचलित भिन्न भिन्न प्रकार के वादों (तन्त्रादि शास्त्रों) को समझ कर जो अपने आत्मधर्म में स्थिर रहता हुआ संयम में दत्तचित्त रहता है, सब परीषहों को जीत कर समस्त जीवों पर आत्मभाव रखता हुआ कषायों पर विजय प्राप्त करता है तथा किसी जीव को पीड़ा नहीं पहुंचाता है वही सच्चा भिक्षु है।

(१६) जो शिल्प विद्या द्वारा अपना जीवन निर्वाह न करता हो, जितेन्द्रिय, आन्तरिक तथा बाह्य बन्धनों से मुक्त, अल्प कषाय वाला थोड़ा (परिमित) भोजन करने वाला, सांसारिक बन्धनों को छोड़ कर राग द्वेष रहित विचरने वाला ही सच्चा भिक्षु है।

(उत्तराध्ययन १५ वां स भिक्खु अध्ययन)

८६३–बहुश्रुत साधु की सोलह उपमाएं

निरभिमानी, निर्लोभी संयम मार्ग में सावधान, विनयवान्, बहुत शास्त्रों के ज्ञाता साधु को बहुश्रुत कहते हैं। बहुश्रुत साधु की सोलह उपमाएं दी गई हैं–

(१) जिस तरह शंख में रखा हुआ दूध दो तरह से शोभित होता है अर्थात् दूध भी सफेद होता है और शंख भी सफेद होता है, अत: शंख में रखा हुआ दूध देखने में सौम्य लगता है और वह उसमें कभी नहीं बिगड़ता। उसी तरह ज्ञानी साधु धर्मकीर्ति तथा शास्त्र इन दोनों द्वारा शोभित होता है अर्थात् ज्ञान स्वयं सुन्दर है और धारण करने वाले ज्ञानी का आचरण जब शास्त्रानुकूल हो तब उसकी आत्मा की उन्नति होती है और धर्म की भी कीर्ति बढ़ती है इस तरह ज्ञान और ज्ञानी दोनों शोभित होते हैं।

(२) जिस प्रकार कंबोज देश के घोड़ों में आकीर्ण जाति का घोड़ा सब प्रकार की गति (चाल) में प्रवीण, सुलक्षण और अति

वेगवान् होने से उत्तम माना जाता है उसी तरह बहुश्रुत ज्ञानी भी उत्तम माना जाता है।

(३) जैसे आकीर्ण जाति के उत्तम घोड़े पर चढ़ा हुआ दृढ़ पराक्रमी, शूरवीर पुरुष जब संग्राम में जाता है तब दोनों प्रकार से शोभित होता है अर्थात् आगे और पीछे से, बांई तरफ से और दाहिनी तरफ से अथवा वृद्ध पुरुषों द्वारा कहे गये आशीर्वाद रूप वचनों से और बन्दी जनों द्वारा कहे गये स्तुति रूप वचनों से तथा संग्राम के लिये बजाये जाने वाले बाजों के शब्दों से वह शूरवीर पुरुष शोभित होता है उसी तरह बहुश्रुत ज्ञानी दोनों प्रकार से अर्थात् आन्तरिक शान्ति और बाह्य आचरण से शोभित होता है, अथवा दिन और रात के दोनों समय में की जाने वाली स्वाध्याय के घोष (ध्वनि) से बहुश्रुत ज्ञानी शोभित होता है अथवा स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों द्वारा 'यह बहुश्रुत ज्ञानी बहुत काल तक जीवित रहे जिससे प्रवचन की बहुत प्रभावना हो' इस प्रकार कहे जाने वाले आशीर्वादों से युक्त बहुश्रुत ज्ञानी शोभित होता है।

(४) जिस प्रकार अनेक हथिनियों से सुरक्षित ६० वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुआ बलवान् हाथी दूसरों से पराभूत नहीं हो सकता उसी प्रकार परिपक्व बुद्धि वाला बहुश्रुत ज्ञानी विचार एवं विवाद के अवसर पर किसी से अभिभूत नहीं होता।

(५) जैसे तीक्ष्ण सींगों वाला और अच्छी तरह भरी हुई ककुद् वाला तथा पुष्ट अंग वाला सांड पशुओं के टोले में शोभित होता है वैसे ही नैगमादि नय रूप तीक्ष्ण शृङ्गों से परपक्ष को भेदन करने वाला और प्रतिभादि गुणों से युक्त बहुश्रुत ज्ञानी साधुओं के समूह में शोभित होता है।

(६) जिस प्रकार अति उग्र तथा तीक्ष्ण दांतों वाला पराक्रमी सिंह किसी से भी पराभूत नहीं होता वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानी भी

किसी से भी पराजित नहीं होता।

(७) जिस प्रकार पाञ्चजन्य शंख, सुदर्शन चक्र और कौमुदकी गदा से युक्त वासुदेव सदा ही अप्रतिहत और अखण्ड बलशाली होता हुआ शोभित होता है उसी प्रकार बहुश्रुत ज्ञानी भी अहिंसा, संयम और तप से शोभित होता है।

(८) जैसे हाथी, घोड़ा, रथ और प्यादे वाली चतुरंगिनी सेना से समस्त शत्रुओं का नाश करने वाला, चारों दिशाओं का जय करने वाला, नवनिधि, चौदह रत्न और छः खण्ड पृथ्वी का अधिपति, महान् ऋद्धि का धारक, सब राजाओं में श्रेष्ठ चक्रवर्ती शोभित होता है वैसे ही चार गतियों का अन्त करने वाला तथा चौदह विद्या रूपी लब्धियों का स्वामी बहुश्रुत ज्ञानी साधु शोभित होता है।

(६) जैसे एक हजार नेत्रों वाला, हाथ में वज्र धारण करने वाला, महाशक्तिशाली, पुर नामक दैत्य का नाश करने वाला देवों का अधिपति इन्द्र शोभित होता है उसी प्रकार बहुश्रुत ज्ञान रूपी सहस्र नेत्रों वाला, क्षमा रूपी वज्र को धारण करने वाला और मोह रूपी दैत्य का नाश करने वाला बहुश्रुत ज्ञानी साधु शोभित होता है।

(१०) जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने वाला, उगता हुआ सूर्य तेज से देदीप्यमान होता हुआ शोभित होता है उसी प्रकार आत्मज्ञान के तेज से दीप्त बहुश्रुत ज्ञानी शोभित होता है।

(११) जैसे नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा, ग्रह तथा नक्षत्रों से घिरा हुआ पूर्णिमा की रात्रि में पूर्ण शोभा से प्रकाशित होता है वैसे ही आत्मिक शीतलता से बहुश्रुत ज्ञानी शोभायमान होता है।

(१२) जिस प्रकार विविध धान्यों से परिपूर्ण सुरक्षित भण्डार शोभित होता है उसी तरह अङ्ग, उपाङ्ग रूप शास्त्र ज्ञान से पूर्ण बहुश्रुत ज्ञानी शोभायमान होता है।

(१३) जैसे जम्बूद्वीप के अधिपति अनादृत नामक देव का जम्बू वृक्ष सब वृक्षों में शोभित होता है वैसे ही सब साधुओं में बहुश्रुत ज्ञानी साधु शोभित होता है।

(१४) नीलवान् पर्वत से निकल कर सागर में मिलने वाली सीता नाम की नदी जिस प्रकार सब नदियों में श्रेष्ठ है उसी प्रकार सब साधुओं में बहुश्रुत ज्ञानी श्रेष्ठ है।

(१५) जिस प्रकार सब पर्वतों में ऊंचा, सुन्दर और अनेक औषधियों से शोभित मेरु पर्वत उत्तम है उसी प्रकार आमर्षौषधि आदि लब्धियों से युक्त अनेक गुणों से अलंकृत बहुश्रुत ज्ञानी भी सब साधुओं में उत्तम है।

(१६) जैसे अक्षय उदक (जिसका जल कभी नहीं सूखता) स्वयम्भूरमण नामक समुद्र नाना प्रकार की मरकत आदि मणियों से परिपूर्ण है वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानी भी सम्यग् ज्ञान रूपी अक्षय जल से परिपूर्ण और अतिशयवान होता है इसलिये वह सब साधुओं में उत्तम और श्रेष्ठ है।

उपरोक्त गुणों से युक्त, समुद्र के समान गम्भीर, परीषह उपसर्गों को समभाव से सहन करने वाला, कामभोगों में अनासक्त, श्रुत से परिपूर्ण तथा समस्त प्राणियों का रक्षक महापुरुष बहुश्रुत ज्ञानी शीघ्र ही कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त करता है।

ज्ञान अमृत है। वह शास्त्रों द्वारा, सत्संग द्वारा और महापुरुषों की कृपा द्वारा प्राप्त होता है, अतः मोक्षाभिलाषी प्रत्येक प्राणी को श्रुत (ज्ञान) प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ११ गाथा १५ से ३२)

८६४- दीक्षार्थी के सोलह गुण

गृहस्थ पर्याय छोड़ कर पाँच महाव्रत रूप संयम अंगीकार करने को दीक्षा कहते हैं। दीक्षा अर्थात् मुनिव्रत अंगीकार करने वाले

में नीचे लिखे सोलह गुण होने चाहिएं।

(१) आर्यदेशसमुत्पन्न– जिन देशों में तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि उत्तम पुरुष होते हैं उन्हें आर्य देश कहते हैं। धर्मभावना भी आर्यदेश में ही होती है, इस लिए दीक्षा अङ्गीकार करके संयम का पालन वही कर सकता है जो आर्यदेशों में उत्पन्न हुआ हो। जैसे मरुस्थल में कल्पवृक्ष नहीं लग सकता वैसे ही अनार्य देश में उत्पन्न व्यक्ति धर्म में सच्ची श्रद्धा वाला नहीं हो सकता, अतः दीक्षार्थी का पहला गुण यह है कि उसकी उत्पत्ति आर्यदेश में हुई हो।

(२) शुद्धजातिकुलान्वित– जिसके जाति अर्थात् मातृपक्ष और कुल अर्थात् पितृपक्ष दोनों शुद्ध हों। शुद्ध जाति और कुल वाला संयम का निर्दोष पालन करता है। किसी प्रकार की भूल होने पर भी कुलीन होने के कारण रथनेमि की तरह सुधार लेता है।

(३) क्षीणप्रायाशुभकर्मा– जिस के अशुभ अर्थात् चारित्र में बाधा डालने वाले कर्म क्षीण अर्थात् नष्ट हो गए हों। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षय, क्षयोपशम या उपशम हुए बिना कोई भाव चारित्र अंगीकार नहीं कर सकता। ऊपर से दीक्षा ले लेने पर भी शुद्ध संयम का पालन करना उसके लिए असम्भव है।

(४) विशुद्धधी– अशुभ कर्मों के दूर हो जाने से जिसकी बुद्धि निर्मल हो गई हो। निर्मल बुद्धि वाला धर्म के तत्त्व को अच्छी तरह समझ कर उसका शुद्ध पालन करता है।

(५) विज्ञातसंसारनैर्गुण्य– जिस व्यक्ति ने संसार की निर्गुणता अर्थात् व्यर्थता को जान लिया हो। मनुष्य जन्म दुर्लभ है, जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है, धन सम्पत्ति चञ्चल है, सांसारिक विषय दुःख के कारण हैं, जिनका संयोग

होता है उनका वियोग भी अवश्य होता है, प्राणियों की मृत्यु प्रति क्षण होती रहती है। कहा भी है–

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति, गर्भे वसत्यै नरवीर! लोकः।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः, स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति॥

अर्थात्– महर्षि व्यास युधिष्ठिर को कह रहे हैं– हे नरवीर! प्राणी पहले पहल जिस रात को गर्भ में वसने के लिए आता है उसी रात से वह दिन रात प्रयाण करता हुआ मृत्यु के समीप जा रहा है।

मृत्यु का फल बहुत ही दारुण अर्थात् भयङ्कर होता है क्योंकि उस समय सब तरह की चेष्टाएं अर्थात् हलन चलन बन्द हो जाती हैं और जीव सभी प्रकार से असमर्थ तथा लाचार हो जाता है।

इस प्रकार संसार के स्वभाव को जानने वाला व्यक्ति दीक्षा का अधिकारी होता है।

(६) विरक्त– जो व्यक्ति संसार से विरक्त हो गया हो क्योंकि सांसारिक विषयभोगों में फंसा हुआ व्यक्ति उन्हे नहीं छोड़ सकता।

(७) मन्दकषायभाक्– जिस व्यक्ति के क्रोध, मान आदि चारों कषाय मन्द हो गए हों। स्वयं अल्प कषाय वाला होने के कारण वह अपने और दूसरे के कषाय आदि को शान्त कर सकता है।

(८) अल्प हास्यादि विकृति– जिसके हास्यादि नोकषाय कम हों। अधिक हँसना आदि गृहस्थों के लिए भी निषिद्ध है।

(९) कृतज्ञ– जो दूसरे द्वारा किए हुए उपकार को मानने वाला हो। कृतघ्न व्यक्ति लोक में निन्दा प्राप्त करता है इस लिए भी वह दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(१०) विनयान्वित– दीक्षार्थी विनयवान् होना चाहिए क्योंकि विनय ही धर्म का मूल है।

(११) राजसम्मत– दीक्षार्थी राजा, मन्त्री आदि के सम्मत अर्थात् अनुकूल होना चाहिए। राजा आदि से विरोध करने वाले

को दीक्षा देने से अनर्थ होने की सम्भावना रहती है।

(१२) अद्रोही– जो झगड़ालू तथा ठग, धूर्त न हो।

(१३) सुन्दराङ्गभृत्– सुन्दर शरीर वाला हो अर्थात् उस का कोई अंग हीन या गया हुआ न होना चाहिए। अपाङ्ग या नष्ट अवयव वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(१४) श्राद्ध– श्रद्धा वाला। दीक्षित भी यदि श्रद्धा रहित हो तो अङ्गारमर्दक के समान वह त्यागने योग्य हो जाता है।

(१५) स्थिर– जो अङ्गीकार किए हुए व्रत में स्थिर रहे। प्रारम्भ किए हुए कार्य को बीच में छोड़ने वाला न हो।

(१६) समुपसम्पन्न– पूर्वोक्त गुणों वाला होकर भी जो दीक्षा लेने के लिए पूरी इच्छा से गुरु के पास आया हो।

उपरोक्त सोलह गुणों वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य होता है।

(धर्म संग्रह अधिकार ३ गाथा ७३–७८)

८६५– गवेषणा (उद्गम) के १६ दोष

आहाकम्मुद्देसिय पूईकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे॥१॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्न मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे॥२॥

(१) आधाकर्म– किसी खास साधु को मन में रख कर उस के निमित्त से सचित्त वस्तु को अचित्त करना या अचित्त को पकाना आधाकर्म कहलाता है। यह दोष चार प्रकार से लगता है। प्रतिसेवन– आधाकर्मी आहार का सेवन करना। प्रतिश्रवण– आधाकर्मी आहार के लिये निमंत्रण स्वीकार करना। संवसन– आधाकर्मी आहार भोगने वालों के साथ रहना। अनुमोदन– आधाकर्मी आहार भोगने वालों की प्रशंसा करना।

(२) औद्देशिक– सामान्य याचकों को देने की बुद्धि से जो

आहारादि तैयार किये जाते हैं, उन्हें औद्देशिक कहते हैं। इनके दो भेद हैं- ओघ और विभाग। भिक्षुकों के लिये अलग तैयार न करते हुए अपने लिये बनते हुए आहारादि में ही कुछ और मिला देना ओघ है। विवाहादि में याचकों के लिये अलग निकाल कर रख छोड़ना विभाग है। यह उद्दिष्ट, कृत और कर्म के भेद से तीन प्रकार का है। फिर प्रत्येक के उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश इस तरह चार चार भेद हैं। इन सब की विस्तृत व्याख्या नीचे लिखे हुए ग्रन्थों से जाननी चाहिए। किसी खास साधु के लिये बनाया गया आहार अगर वही साधु ले तो आधाकर्म, दूसरा ले तो औद्देशिक है। आधाकर्म पहिले से ही किसी खास निमित्त से बनाया जाता है। औद्देशिक साधारण दान के लिये पहिले या बाद में कल्पित किया जाता है।

(३) पूतिकर्म- शुद्ध आहार में आधाकर्मादि का अंश मिल जाना पूतिकर्म है। आधाकर्मी आहार का थोड़ा सा अंश भी शुद्ध और निर्दोष आहार को सदोष बना देता है। शुद्ध चारित्र पालने वाले संयमी के लिये वह अकल्पनीय है। जिसमें ऐसे आहार का अंश लगा हो ऐसे बर्तन को भी टालना चाहिये।

(४) मिश्रजात- अपने और साधु के लिये एक साथ पकाया हुआ आहार मिश्रजात कहलाता है। इसके तीन भेद हैं- यावदर्थिक, पाखंडिमिश्र और साधुमिश्र। जो आहार अपने लिये और सभी याचकों के लिये इकट्ठा बनाया जाय वह यावदर्थिक है। जो अपने और साधु सन्यासियों के लिये इकट्ठा बनाया जाय वह पाखण्डिमिश्र है। जो सिर्फ अपने और साधुओं के लिये इकट्ठा किया जाय वह साधुमिश्र है।

(५) स्थापन- साधु को देने की इच्छा से कुछ काल के लिये आहार को अलग रख देना स्थापन है।

(६) प्राभृतिका– साधु को विशिष्ट आहार बहराने के लिये जीमनवार या निमंत्रण के समय को आगे पीछे करना।

(७) प्रादुष्करण– देय वस्तु के अन्धेरे में होने पर अग्नि, दीपक आदि का उजाला करके या खिड़की वगैरह खोल कर वस्तु को प्रकाश में लाना अथवा आहारादि को अन्धेरी जगह से प्रकाश वाली जगह में लाना प्रादुष्करण है।

(८) क्रीत– साधु के लिये मोल लिया हुआ आहारादि क्रीत है।

(९) प्रामित्य (पामिच्चे)– साधु के लिये उधार लिया हुआ आहारादि प्रामित्य कहलाता है।

(१०) परिवर्तित– साधु के लिए अट्टा सट्टा करके लिया हुआ आहार परिवर्तित कहलाता है।

(११) अभिहृत (अभिहडे)– साधु के लिये गृहस्थ द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया हुआ आहार।

(१२) उद्भिन्न– साधु को घी वगैरह देने के लिये कुप्पी आदि का मुंह (छाणन) खोल कर देना।

(१३) मालापहृत– ऊपर नीचे या तिरछी दिशा में जहाँ आसानी से हाथ न पहुँच सके वहाँ पंजों पर खड़े होकर या निःसरणी आदि लगा कर आहार देना। इसके चार भेद हैं– ऊर्ध्व, अधः, उभय और तिर्यक्। इनमें से भी हर एक के जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम रूप से तीन २ भेद हैं। एड़ियाँ उठा कर हाथ फैलाते हुए छत में टंगे छींके वगैरह से कुछ निकालना जघन्य ऊर्ध्व-मालापहृत है। सीढ़ी वगैरह लगा कर ऊपर के मंजिल से उतारी गई वस्तु उत्कृष्ट मालापहृत है। इनके बीच की वस्तु मध्यम है। इसी तरह अधः, उभय और तिर्यक् के भेद भी जानने चाहिये।

(१४) आच्छेद्य– निर्बल व्यक्ति या अपने आश्रित रहने वाले नौकर चाकर और पुत्र वगैरह से छीन कर साधुजी को

देना। इसके तीन भेद हैं– स्वामिविषयक, प्रभुविषयक और स्तेनविषयक। ग्राम का मालिक स्वामी और अपने घर का मालिक प्रभु कहलाता है। चोर और लुटेरे को स्तेन कहते हैं। इनमें से कोई किसी से कुछ छीन कर साधुजी को दे तो क्रमशः तीन दोष लगते हैं।

(१५) अनिसृष्ट– किसी वस्तु के एक से अधिक मालिक होने पर सब की इच्छा के बिना देना अनिसृष्ट है।

(१६) अध्यवपूरक– साधुओं का आगमन सुन कर आधण में अधिक ऊर देना अर्थात् अपने लिये बनते हुए भोजन में साधुओं का आगमन सुन कर उनके निमित्त से और मिला देना।

नोट– उद्गम के सोलह दोषों का निमित्त गृहस्थ अर्थात् देने वाला होता है।

(प्रवचन सारोद्धार गाथा ५६५, ५६६) (धर्मसंग्रह अधिकार ३ गाथा २२) (पिंडनिर्युक्ति गाथा ९२, ९३) (पचाशक १३ वाँ गाथा ५, ६) (पिण्डविशुद्धि)

८६६– ग्रहणैषणा (उत्पादना) के १६ दोष

धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस ए ए॥ १॥
पुव्विंपच्छासंथव विज्जा मंते य चुण्ण जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य॥ २॥

(१) धात्री– बच्चे को खिलाना पिलाना आदि धाय का काम करके या किसी घर में धाय की नौकरी लगवा कर आहार लेना।

(२) दूती– एक दूसरे का सन्देशा गुप्त या प्रकट रूप से पहुँचा कर दूत का काम करके आहारादि लेना।

(३) निमित्त– भूत और भविष्यत् को जानने के शुभाशुभ निमित्त बतला कर आहारादि लेना।

(४) आजीव– स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से अपनी जाति और कुल आदि प्रकट करके आहारादि लेना।

(५) वनीपक– श्रमण, शाक्य, सन्यासी आदि में जो जिसका भक्त हो उसके सामने उसी की प्रशंसा करके या दीनता दिखा कर आहारादि लेना।

(६) चिकित्सा– औषधि करना या बताना आदि चिकित्सक का काम करके आहारादि ग्रहण करना।

(७) क्रोध– क्रोध करके या गृहस्थ को शापादि का भय दिखा कर भिक्षा लेना।

(८) मान– अभिमान से अपने को प्रतापी, तेजस्वी, बहुश्रुत बताते हुए अपना प्रभाव जमा कर आहारादि लेना।

(९) माया– वञ्चना या छलना करके आहारादि ग्रहण करना।

(१०) लोभ– आहार में लोभ करना अर्थात् भिक्षा के लिए जाते समय जीभ के लालच से यह निश्चय करके निकलना कि आज तो अमुक वस्तु ही खाएंगे और उसके अनायास न मिलने पर इधर उधर ढूँढना तथा दूध आदि मिल जाने पर जिह्वास्वादवश चीनी आदि के लिए इधर उधर भटकना लोभपिण्ड है।

(११) प्राक्पश्चात्संस्तव (पुव्विपच्छा संथव)– आहार लेने के पहले या पीछे देने वाले की प्रशंसा करना।

(१२) विद्या– स्त्रीरूप देवता से अधिष्ठित या जप, होम आदि से सिद्ध होने वाली अक्षरों की रचना विशेष को विद्या कहते हैं। विद्या का प्रयोग करके आहारादि लेना विद्यापिण्ड है।

(१३) मन्त्र– पुरुषरूप देवता के द्वारा अधिष्ठित ऐसी अक्षर रचना जो पाठ मात्र से सिद्ध हो जाय उसे मन्त्र कहते हैं। मन्त्र के प्रयोग से लिया जाने वाला आहारादि मन्त्र पिण्ड है।

(१४) चूर्ण– अदृश्य करने वाले सुरमे आदि का प्रयोग करके जो आहारादि लिए जायँ उन्हें चूर्णपिण्ड कहते हैं।

(१५) योग– पाँव लेप आदि सिद्धियाँ बता कर जो आहारादि

लिए जायँ उन्हें योग पिण्ड कहते हैं।

(१६) मूलकर्म–गर्भस्तम्भ, गर्भाधान, गर्भपात आदि संसार सागर में भ्रमण कराने वाली सावद्य क्रियाएं करना मूलकर्म है।

नोट– उत्पादना के दोष साधु से लगते हैं। इनका निमित्त साधु ही होता है।

(प्रवचनसारोद्धार गाथा ५६७, ५६८) (धर्मसंग्रह अधिकार ३ गाथा २२) (पिण्डनिर्युक्ति गाथा ४०८, ४०९) (पंचाशक १३वाँ, गाथा १८–१९) (पिण्डविशुद्धि)

८६७– साधु को कल्पनोय ग्रामादि १६ स्थान

विहार करते हुए साधु या साध्वी को नीचे लिखे सोलह स्थानों में रहना कल्पता है।

(१) ग्राम– जहाँ राज्य की तरफ से अठारह प्रकार का कर (महसूल) लिया जाता हो उसे ग्राम कहते हैं।

(२) नगर– जहाँ गाय बैल आदि का कर न लिया जाता हो ऐसी बड़ी आबादी को नगर कहते हैं।

(३) खेड (खेटक)– जिस आबादी के चारों ओर मिट्टी का परकोटा हो उसे खेड़ या खेड़ा कहते हैं।

(४) कब्बड (कर्बट)– थोड़ी आबादी वाला गाँव।

(५) मण्डप– जिस स्थान से गाँव अढ़ाई कोस की दूरी पर हो उसे मण्डप कहते है। ऐसे स्थान में वृक्ष के नीचे या प्याऊ आदि में साधु ठहर सकता है।

(६) पाटण (पत्तन)– व्यापार वाणिज्य का बड़ा स्थान, जहाँ सब वस्तुएं मिलती हों उसे पाटण कहते हैं।

(७) आगर (आकर)– सोना चाँदी आदि धातुओं के निकलने की खान को आगर कहते हैं।

(८) द्रोणमुख– समुद्र के किनारे की आबादी जहाँ जाने के लिए जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्ग हों। आज कल इसे

बन्दरगाह कहते हैं।

(९) निगम– जहाँ अधिकतर वाणिज्य करने वाले महाजनों की आबादी हो उसे निगम कहते हैं।

(१०) राजधानी– जहाँ राजा स्वयं रहता हो।

(११) आश्रम– जंगल में तपस्वी, सन्यासी आदि के ठहरने का स्थान आश्रम कहलाता है।

(१२) संनिवेश– जहाँ सार्थवाह अर्थात् बड़े बड़े व्यापारी बाहर से आकर उतरते हों।

(१३) संवाह–पर्वत गुफा आदि में जहाँ किसानों की आबादी हो अथवा गाँव के लोग अपने धन माल आदि की रक्षा के लिए जहाँ जाकर छिप जाते हैं उसे संवाह कहते हैं।

(१४) घोष– जहाँ गाय चराने वाले गूजर लोग रहते हैं।

(१५) अंसियं– गाँव के बीच की जगह को अंसियं कहते हैं।

(१६) पुरभय– दूसरे दूसरे गाँवों के व्यापारी जहाँ अपनी वस्तु बेचने के लिए इकट्ठे होते हैं उसे पुरभय कहते हैं। आजकल इसे मण्डी कहा जाता है।

उपर लिखे सोलह ठिकानों में से जहाँ आबादी के चारों ओर परकोटा है और परकोटे के बाहर आबादी नहीं है वहाँ गरमी अथवा सरदी में साधु को एक मास ठहरना कल्पता है।

ऊपर लिखे ठिकानों में से परकोटे वाले स्थान में यदि परकोटे के बाहर भी आबादी है तो वहाँ साधु गरमी तथा सरदी में दो महीने ठहर सकता है, एक महीना कोट के अन्दर और एक महीना बाहर। अन्दर रहते समय गोचरी भी कोट के अन्दर ही करनी चाहिए और बाहर रहते समय बाहर।

साध्वी के लिए साधु से दुगुने काल तक रहना कल्पता है अर्थात् कोट के बाहर बिना आबादी वाले स्थान में दो मास और आबादी

वाले में चार मास।

ऊपर लिखे कोट वाले स्थानों में जहाँ बाहर आने जाने के लिए एक ही द्वार हो उस स्थान में साधु और साध्वी को एक साथ रहना नहीं कल्पता अर्थात् ऐसे स्थान में साधु रहे तो साध्वी को न रहना चाहिए और साध्वी रहे तो साधु को न रहना चाहिए।

अगर ग्रामादि में आने जाने के लिए कई द्वार हों तो उसमें साधु साध्वी एक ही काल में सुख पूर्वक रह सकते हैं।

किसी बड़ी दुकान के ऊपर या आस पास जहाँ, बहुत लोगों का आना जाना हो ऐसे किसी सार्वजनिक स्थान के पास, किसी गली की नुक्कर पर, तिराहे या चौराहे पर, पञ्चायती के चौतरे आदि के पास, राजमार्ग में अथवा जहाँ बहुत से मार्ग इकट्ठे होते हों ऐसे स्थानों में साध्वी को रहना नहीं कल्पता। साधु को उपरोक्त स्थानों में रहना कल्पता है।

साध्वी को बिना द्वार या बिना किवाड़ वाले मकान में रहना नहीं कल्पता। अगर कारणवश बिना किवाड़ वाले किसी स्थान में रहना पड़ जाय तो चद्दर का एक परदा सोने की जगह और एक उस मकान के द्वार पर बाँध देना चाहिए। ऐसा प्रबन्ध करके ही साध्वी को वहाँ सोना कल्पता है।

साधु खुले किवाड़ वाले या बिना किवाड़ वाले मकान में ठहर सकता है। (बृहत्कल्प उद्देशा १ सूत्र ६-१४)

८६८- आश्रव आदि के सोलह भांगे

जीवों के शुभाशुभ परिणामों के अनुसार आश्रव, क्रिया, वेदना और निर्जरा ये चार बातें होती हैं। परिणामों की तीव्रता और मन्दता के कारण ये चारों बातें महान् और अल्प रूप में परिणत होती हैं। किन जीवों में किसकी अल्पता और किसकी महत्ता पाई जाती है यह बताने के लिये आश्रव, क्रिया, वेदना और निर्जरा

इन चार के चतुःसंयोगी सोलह भंग बनते हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) महास्रव महाक्रिया महावेदना महानिर्जरा।
(२) महास्रव महाक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा।
(३) महास्रव महाक्रिया अल्पवेदना महानिर्जरा।
(४) महास्रव महाक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा।
(५) महास्रव अल्पक्रिया महावेदना महानिर्जरा।
(६) महास्रव अल्पक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा।
(७) महास्रव अल्पक्रिया अल्पवेदना महानिर्जरा।
(८) महास्रव अल्पक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा।
(९) अल्पास्रव महाक्रिया महावेदना महानिर्जरा।
(१०) अल्पास्रव महाक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा।
(११) अल्पास्रव महाक्रिया अल्पवेदना महानिर्जरा।
(१२) अल्पास्रव महाक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा।
(१३) अल्पास्रव अल्पक्रिया महावेदना महानिर्जरा।
(१४) अल्पास्रव अल्पक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा।
(१५) अल्पास्रव अल्पक्रिया अल्पवेदना महानिर्जरा।
(१६) अल्पास्रव अल्पक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा।

उपरोक्त सोलह भांगों में से नारकी जीवों में सिर्फ दूसरा भांगा (महास्रव महाक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा) पाया जाता है। नारकी जीवों के बहुत कर्मों का बन्ध होता रहता है इस लिये वे महास्रव वाले हैं। कायिकी आदि बहुत क्रिया वाले होने से महाक्रिया वाले हैं तथा असातावेदनीय का तीव्र उदय होने से नारकी जीव महावेदना वाले होते हैं। इतनी तीव्र वेदना सहन करने पर भी अविरति होने के कारण नारकी जीवों के अल्प निर्जरा होती है, इस लिये महास्रव महाक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा रूप दूसरा भांगा उनमें घटित होता है।

असुरकुमारों से स्तनितकुमारों तक दस भवनपति देवों में सिर्फ एक चौथा भांगा (महास्रव महाक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा) पाया जाता है। इनमें असातावेदनीय का उदय प्रायः नहीं होने से वेदना भी अल्प है और निर्जरा भी अल्प है। इसी प्रकार वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों में भी सिर्फ एक चौथा भांगा पाया जाता है।

एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य सभी में ये सोलह ही भांगे पाये जाते हैं।

(भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशा ४)

८६६- वचन के सोलह भेद

मन में रहा हुआ अभिप्राय प्रकट करने के लिए भाषावर्गणा के परमाणुओं को बाहर निकालना अर्थात् वाणी का प्रयोग करना वचन कहलाता है। इसके सोलह भेद हैं--

(१) एकवचन-किसी एक के लिये कहा गया वचन एक वचन कहलाता है। जैसे- पुरुषः (एक पुरुष)।

(२) द्विवचन- दो के लिए कहा गया वचन द्विवचन कहलाता है। जैसे-पुरुषौ (दो पुरुष)।

(३) बहुवचन- दो से अधिक के लिए कहा गया वचन, जैसे- पुरुषाः (तीन या उससे अधिक पुरुष)।

(४) स्त्रीवचन- स्त्रीलिंग वाली किसी वस्तु के लिए कहा गया वचन। जैसे- इयं स्त्री (यह औरत)।

(५) पुरुषवचन- किसी पुल्लिंग वस्तु के लिए कहा गया वचन। जैसे- अयं पुरुषः (यह पुरुष)।

(६) नपुंसकवचन - नपुंसकलिंग वाली वस्तु के लिए कहा गया वचन। जैसे- इदं कुण्डम् (यह कुण्ड)। कुण्ड शब्द संस्कृत में नपुंसक लिंग है। हिन्दी में नपुंसकलिंग नहीं होता।

(७) अध्यात्मवचन– मन में कुछ और रख कर दूसरे को ठगने की बुद्धि से कुछ और कहने की इच्छा होने पर भी शीघ्रता के कारण मन में रही हुई बात का निकल जाना अध्यात्मवचन है।

(८) उपनीतवचन– प्रशंसा करना, जैसे अमुक स्त्री सुन्दर है।

(९) अपनीतवचन–निन्दात्मक वचन जैसे यह स्त्री कुरूपा है।

(१०) उपनीतापनीत वचन– प्रशंसा करके निन्दा करना, जैसे– यह स्त्री सुन्दर है किन्तु दुष्ट स्वभाव वाली है।

(११) अपनीतोपनीत वचन– निन्दा के बाद प्रशंसा करना। जैसे यह स्त्री कुरूपा है किन्तु सुशील है।

(१२) अतीतवचन– भूत काल की बात कहना अतीत वचन है। जैसे मैंने अमुक कार्य किया था।

(१३) प्रत्युत्पन्न वचन– वर्तमान काल की बात कहना प्रत्युत्पन्न वचन है। जैसे– वह करता है। वह जाता है।

(१४) अनागत वचन– भविष्य काल की बात कहना अनागत वचन है। जैसे– वह करेगा। वह जायगा।

(१५) प्रत्यक्ष वचन–प्रत्यक्ष अर्थात् सामने की बात कहना। जैसे सामने उपस्थित व्यक्ति के लिए कहना 'यह'।

(१६) परोक्ष वचन– परोक्ष अर्थात् पीठ पीछे हुई बात को कहना, जैसे सामने अनुपस्थित व्यक्ति के लिए कहना 'वह' इत्यादि।

ये सोलह वचन यथार्थ वस्तु के सम्बन्ध में जानने चाहिएं। इन्हें सम्यक् उपयोग पूर्वक कहे तो भाषा प्रज्ञापनी होती है। इस प्रकार की भाषा मृषाभाषा नहीं कही जाती।

(पन्नवणा पद ११ सूत्र ३२) (आचारांग श्रुत० २ चूलिका १ अध्य० १३ उद्देशा १)

८७०– मेरु पर्वत के सोलह नाम

मेरु पर्वत मध्य लोक के बीच में है। उसके सोलह नाम हैं–

(१) मंदर (२) मेरु (३) मनोरम (४) सुदर्शन (५) स्वयंभ

(६) गिरिराज (७) रत्नोच्चय (८) प्रियदर्शन (९) लोकमध्य (१०) लोकनाभि (११) अर्थ (१२) सूर्यावर्त (१३) सूर्यावरण (१४) उत्तर (भरत आदि सब क्षेत्रों से मेरु पर्वत उत्तर दिशा में पड़ता है) (१५) दिगादि (सब दिशाओं का निश्चय कराने वाला) (१६) अवतंस।

(समवायांग १६ समवाय) (जम्बूद्वीप पण्णत्ति मेरु अधिकार)

८७१- महायुग्म सोलह

राशि अर्थात् संख्याविशेष को युग्म कहते हैं। छोटी राशि को क्षुद्रयुग्म और बड़ी को महायुग्म कहते हैं। महायुग्म सोलह हैं। इन्हें समझने के लिए नीचे लिखे पदों का अर्थ जानना आवश्यक है।

(क) कृतयुग्म- जिस संख्या को चार से भाग देने पर कुछ बाकी न बचे अर्थात् भाग चार पर समाप्त होजाय उसे कृतयुग्म कहते हैं।

(ख) त्र्योज- जिस संख्या को चार से भाग देने पर तीन बाकी बचें उसे त्र्योज कहते हैं।

(ग) द्वापर- जिस संख्या को चार से भाग देने पर दो बाकी बचें उसे द्वापर कहते हैं।

(घ) कल्योज- जिस संख्या को चार से भाग देने पर एक बाकी बचे उसे कल्योज कहते हैं।

(ङ) अपहार समय- जितनी बार घटाया जाय उन्हें अपहार समय कहते हैं।

(च) अपह्रियमाण वस्तु- वह संख्या जिसमें से भाग दिया जाय।

महायुग्मों में ऊपर लिखी बातें ही घुमा फिरा कर आती हैं। सोलह महायुग्म नीचे लिखे अनुसार हैं-

(१) कृतयुग्म कृतयुग्म- जिस राशि में चार का अपहार करते हुए चार पर पर्यवसान हो जाय अर्थात् शेष कुछ न रहे, यदि उस राशि के अपहार समय भी कृतयुग्म हों तो उसे कृतयुग्म कृतयुग्म कहते हैं। जैसे- १६। सोलह में से चार संख्या को चार ही बार

घटाया जा सकता है और अपहार (घटाना) भी चार पर समाप्त हो जाता है, शेष कुछ नहीं बचता, इस लिए यह कृतयुग्म कृतयुग्म है ।

इनमें पहला पद अपहारसमय की अपेक्षा और दूसरा अपह्रियमाण वस्तु की अपेक्षा है । १६ में अपहारसमय ४ हैं इस लिए कृतयुग्म हैं । घटाई जाने वाली संख्या भी कृतयुग्म है ।

(२) कृतयुग्मत्र्योज– जो राशि त्र्योज हो अर्थात् जिसमें चार चार घटाने पर शेष तीन बच जायँ और अपहार समय कृतयुग्म अर्थात् चार हों उसे कृतयुग्म त्र्योज कहते हैं । जैसे– १९ । १९ में से चार संख्या चार ही बार घटाई जा सकती है, इस लिए अपहार समय कृतयुग्म हैं तथा चार चार घटाने पर शेष तीन बच जाते हैं इस लिए अपह्रियमाण वस्तु त्र्योज है ।

(३) कृतयुग्मद्वापरयुग्म– जो राशि द्वापर हो अर्थात् जिस में चार चार घटाने पर दो बच जायँ तथा जिसमें अपहारसमय कृतयुग्म अर्थात् चार हों तो उसे कृतयुग्म द्वापर युग्म कहते हैं । जैसे– १८ । अठारह में अपहार समय कृतयुग्म अर्थात् चार हैं, संख्या द्वापर है ।

(४) कृतयुग्मकल्योज– जो राशि कल्योज हो अर्थात् जिसमें चार चार घटाने पर एक बाकी बच जाय तथा जिसमें अपहार समय चार हों उसे कृतयुग्मकल्योज कहते हैं । जैसे– १७ । सतरह में अपहार समय कृतयुग्म अर्थात् चार हैं और संख्या कल्योज है ।

(५) त्र्योजकृतयुग्म– जो राशि कृतयुग्म हो अर्थात् जिस में चार चार घटाने पर कुछ बाकी न बचे तथा अपहार समय त्र्योज अर्थात् तीन हों उसे त्र्योजकृतयुग्म कहते हैं । जैसे १२ । बारह संख्या में चार को तीन ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय त्र्योज हैं और चार चार घटाने पर शेष कुछ नहीं रहता इस लिए राशि कृतयुग्म है ।

(६) त्र्योज त्र्योज– जो राशि त्र्योज हो और उसके अपहार

समय भी त्र्योज हों तो उसे त्र्योजत्र्योज कहते हैं। जैसे– १५। पन्द्रह में से चार को तीन ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय त्र्योज हैं और चार चार घटाने पर तीन बचते हैं इस लिए राशि भी त्र्योज है।

(७) त्र्योज द्वापर युग्म– जो राशि द्वापर हो अर्थात् चार चार घटाने पर दो बाकी बचें और अपहार समय त्र्योज हों अर्थात् तीन हों तो उसे त्र्योजद्वापरयुग्म कहते हैं। जैसे– १४। चौदह में चार चार को तीन ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय त्र्योज हैं और चौदह संख्या द्वापर है।

(८) त्र्योज कल्योज-- जो राशि कल्योज हो अर्थात् जिसमें चार चार घटाने पर एक बाकी बचता हो और अपहार समय त्र्योज हों उसे त्र्योज कल्योज कहते हैं। जैसे १३। तेरह में चार चार को तीन ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय त्र्योज हैं और तेरह संख्या कल्योज है।

(९) द्वापरयुग्म कृतयुग्म– जो राशि कृतयुग्म हो अर्थात् चार चार घटाने पर अन्त में चार ही रहें कुछ बाकी न बचे तथा अपहार समय द्वापर हों अर्थात् अन्त में दो बचें तो उसे कृतयुग्म द्वापरयुग्म कहते हैं। जैसे– ८। आठ में से चार चार कम करने पर शेष कुछ नहीं बचता इस लिए यह कृतयुग्म है और दो ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय द्वापरयुग्म हैं।

(१०) द्वापरयुग्म त्र्योज– जो राशि त्र्योज हो अर्थात् जिसमें चार चार घटाने पर बाकी तीन बच जायँ और अपहार समय द्वापरयुग्म हों तो उसे द्वापर युग्म त्र्योज कहते हैं। जैसे– ११। ग्यारह में चार को दो ही बार घटाया जा सकता है, इस लिए अपहार समय द्वापर है और चार चार घटाने पर तीन बाकी बच जाते हैं इस लिए अपह्रियमाण वस्तु त्र्योज है।

(११) द्वापरयुग्म द्वापरयुग्म– जो राशि द्वापर युग्म हो और अपहार समय भी द्वापरयुग्म हों तो उसे द्वापरयुग्म द्वापर युग्म कहते हैं। जैसे– १०। दस में से चार चार को दो ही बार कम किया जा सकता है इस लिए अपहार समय द्वापरयुग्म हैं और चार चार कम करने पर दो बचते हैं अतः अपह्रियमाण वस्तु भी द्वापरयुग्म है।

(१२) द्वापरयुग्मकल्योज– जो राशि कल्योज हो अर्थात् जिस में से चार चार कम करने पर एक बाकी बचे और अपहार समय द्वापर युग्म हों तो उसे द्वापरयुग्म कल्योज कहते हैं। जैसे– ६। नौ में से चार,चार दो ही बार कम किए जा सकते हैं इस लिए अपहार समय द्वापरयुग्म हैं तथा चार चार कम करने पर शेष एक बचता है इस लिए अपह्रियमाण वस्तु कल्योज है।

(१३) कल्योजकृतयुग्म–जो राशि कृतयुग्म हो और अपहार समय कल्योज हो तो उसे कल्योजकृतयुग्म कहते हैं। जैसे– ४। चार में से चार घटाने पर शेष कुछ नहीं बचता इस लिए राशि कृतयुग्म है तथा चार को एक ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय कल्योज है।

(१४) कल्योजत्र्योज– जो राशि त्र्योज हो और अपहार समय कल्योज हों तो उसे कल्योजत्र्योज कहते हैं। जैसे– ७। सात में से चार को एक ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय कल्योज है और चार घटाने पर शेष तीन बच जाते हैं इस लिए अपह्रियमाण वस्तु त्र्योज है।

(१५) कल्योजद्वापरयुग्म– जो राशि द्वापरयुग्म हो और अपहार समय कल्योज हो तो उसे कल्योजद्वापरयुग्म कहते हैं। जैसे– ६। छः में से चार को एक ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय कल्योज है और चार घटाने पर शेष दो बच जाते हैं इस लिए अपह्रियमाण वस्तु द्वापरयुग्म है।

(१६) कल्योज-कल्योज यदि अपहियमाण वस्तु और अपहार समय दोनों कल्योज हों तो उसे कल्योजकल्योज कहते हैं। जैसे- ५। पाँच में से चार को एक ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय कल्योज है तथा चार घटाने पर एक बच जाता है इसलिए अपहियमाण वस्तु भी कल्योज है।

नोट- ऊपर उदाहरण में दी गई संख्याएं जघन्य हैं। इसी क्रम को लेकर बड़ी संख्याओं को भी यथासम्भव महायुग्मों में बाँटा जा सकता है। (भगवती सूत्र, शतक ३५ उद्देशा १)

८७२- द्रव्यावश्यक के सोलह विशेषण

जिस व्यक्ति ने आगम सीख लिया हो या कण्ठस्थ कर लिया हो वह जिस समय उपयोग रहित हो, उस समय उसे द्रव्यावश्यक कहते हैं। द्रव्यावश्यक के सोलह विशेषण हैं-

(१) शिक्षित- सारे आवश्यक सूत्र को सीख लिया हो।

(२) स्थित-हृदय में स्थिर कर लिया हो अर्थात् जमा लिया हो।

(३) जित- जीत लिया हो अर्थात् शीघ्र स्मरण में आने वाला बना लिया हो।

(४) मित- आवश्यक में कितने अक्षर हैं कितने पद हैं इत्यादि संख्या द्वारा उसके परिमाण को जान लिया हो।

(५) परिजित- इस प्रकार कण्ठस्थ कर लिया हो कि उल्टा फेरने पर भी तत्काल सारा स्मरण में आ जाय।

(६) नामसम- जिस प्रकार अपना नाम स्थिर अर्थात् जमा हुआ होता है उसी प्रकार यदि आवश्यक भी स्थिर हो जाय तो वह नामसम है।

(७) घोषसम- गुरु द्वारा बताए गए उदात्त, अनुदात्त और स्वरित आदि घोष अर्थात् स्वरों का उन्हीं के समान उच्चारण करके जो ग्रहण किया गया हो उसे घोषसम कहते हैं।

(८) प्रशस्त– जिसमें कोई अक्षर न्यून या अधिक न हो।

(९) अव्याविद्धाक्षर– किसी गँवार स्त्री द्वारा उल्टी सीधी गूँथी हुई माला की तरह जो सूत्र उलट पलट वर्णों वाला हो उसे व्याविद्धाक्षर कहते हैं। जिस सूत्र में वर्णों की रचना ठीक हो उसे अव्याविद्धाक्षर कहते हैं। यह बात अक्षर की अपेक्षा है, पद या वाक्य की अपेक्षा नहीं।

(१०) अस्खलित– पथरीली भूमि में चलाए गए हल के समान जिस सूत्र पाठ में कहीं स्खलना अर्थात् भूल न हो उसे अस्खलित कहते हैं।

(११) अमिलित– भिन्न भिन्न धान्यों के ढेर के समान जहाँ सूत्र पाठ आपस में मिला हुआ न हो उसे अमिलित कहते हैं अथवा जहाँ पद, वाक्य और श्लोक आपस में मिले हुए न हों, सभी जुदे जुदे और स्पष्ट हों वह अमिलित है।

(१२) अव्यत्याम्रेडित– एक ही शास्त्र में भिन्न भिन्न स्थानों पर कहे गए भिन्न भिन्न अर्थ वाले सूत्रों को एक जगह लाकर पढ़ना व्यत्याम्रेडित है। अथवा आचार आदि में अपने आप सूत्र बना कर उन्हें आगमों में डाल कर पढ़ना व्यत्याम्रेडित है, अथवा वाक्य में कही गई बातों को उचित क्रम से न रखना व्यत्याम्रेडित है, जैसे– राज्य करते हुए राम के शत्रु राक्षस नष्ट हो गए। वास्तव में राक्षसों का नाश होने के बाद राम को राज्य प्राप्त हुआ था। इस लिए ऊपर वाला वाक्य व्यत्याम्रेडित है। जो वाक्य व्यत्याम्रेडित न हो उसे अव्यत्याम्रेडित कहते हैं।

(१३) परिपूर्ण– जिस सूत्र में गाथाओं का परिमाण छन्द, मात्रा आदि से ठीक हो उसे सूत्र से परिपूर्ण कहते हैं। जिसमें आकांक्षा आदि दोष न हों उसे अर्थ से परिपूर्ण कहते हैं अर्थात् जो वाक्य कर्ता, कर्म या क्रिया आदि आवश्यक पदों की हीनता

के कारण अधूरा न हो उसे परिपूर्ण कहते हैं।

(१४) परिपूर्णघोष– आवृत्ति करते समय जिसमें उदात्त आदि स्वर पूर्ण हों। सीखते समय उदात्त आदि स्वरों का गुरु के कथनानुसार उच्चारण करना घोषसम है। सीखने के बाद पुनरावृत्ति करते समय स्वरों का ठीक ठीक उच्चारण करना परिपूर्णघोष है।

(१५) कण्ठोष्ठविप्रमुक्त– बालक अथवा गूंगे के समान जो स्वर अव्यक्त न हो। कण्ठ या ओठों में ही शब्द को न रख कर स्पष्ट उच्चारण किया गया हो।

(१६) गुरुवाचनोपगत– गुरु के द्वारा सिखाया गया हो, स्वयं पुस्तक आदि बाँच कर या स्वतन्त्र रूप से सीखा हुआ न हो अथवा छिप कर सुना हुआ न हो।

नोट– अनुयोगद्वार सूत्र में प्रशस्त के स्थान पर अहीनाक्षर और अनधिकाक्षर दोनों अलग अलग दिए हैं इसलिए उस अपेक्षा से १७ विशेषण हो जाते हैं। यहाँ विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार सोलह दिए गए हैं।

(अनुयोगद्वार १३ वाँ सूत्र) (विशेषावश्यक भाष्य गाथा ८५१–८५७)

८७३– चन्द्रगुप्त राजा के सोलह स्वप्न

पाँचवें आरे के प्रारम्भ में पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) नगर में चन्द्रगुप्त राजा राज्य करता था। उसी समय चौदह पूर्वों के धारण करने वाले श्री भद्रबाहु स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते हुए धर्म का प्रचार कर रहे थे।

चन्द्रगुप्त राजा के प्रियदर्शना नाम की भार्या थी। राजा श्रमणोपासक था। जीव अजीव आदि तत्त्वों का जानकार था। उसकी रग रग में धर्म व्याप रहा था।

एक बार वह पाक्षिक पौषध ग्रहण करके धर्म जागरणा कर रहा था। रात्रि के तीसरे पहर में जब कुछ जग रहा था और कुछ

सो रहा था, उसने सोलह स्वप्न देखे। स्वप्न देख कर वह जग गया और उन पर विचार करने लगा।

उन्हीं दिनों ग्रामानुग्राम विचर कर धर्म का प्रचार करते हुए श्री भद्रबाहु स्वामी पाँच सौ शिष्यों के साथ पाटलिपुत्र में पधारे और नगर के बाहर एक उद्यान में उतर गए।

चन्द्रगुप्त उन्हें वन्दना करने गया और विनय पूर्वक स्वप्नों का फल पूछा। भद्रबाहु स्वामी ने सभी का ठीक ठीक अर्थ बताया।

स्वप्न और उनके फल नीचे लिखे अनुसार हैं–

(१) पहले स्वप्न में राजा चन्द्रगुप्त ने कल्पवृक्ष की शाखा को टूटी हुई देखा।

भद्रबाहु स्वामी ने उसका फल बताया–भविष्य में कोई राजा संयम ग्रहण नहीं करेगा।

(२) दूसरे स्वप्न में सूर्य को अकाल में अस्त होते हुए देखा।

फल– भविष्य में कोई केवलज्ञानी न होगा अर्थात् केवलज्ञान का विच्छेद हो जायगा।

(३) तीसरे स्वप्न में चन्द्रमा को छिद्र सहित देखा।

फल– दया धर्म अनेक मार्गों वाला हो जायगा अर्थात् एक आचार्य की परम्परा को छोड़ कर भिन्न भिन्न साधु आचार्य बन कर अपनी अपनी परम्परा चलाएंगे। अनेक प्रकार की समाचारी प्रचलित हो जायगी।

(४) चौथे स्वप्न में भयङ्कर अट्टहास तथा कौतूहल करते हुए और नाचते हुए भूतों को देखा।

फल– कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की मान्यता होगी। आगम और परम्परा से विरुद्ध चलने वाले, स्वच्छन्दाचारी, अपने आप दीक्षित होने वाले, आकाश से गिरे हुए की तरह बिना आधार के सूत्र विरुद्ध प्ररूपणा करने वाले, बिना आचार के द्रव्य लिङ्ग

धारण करने वाले, इधर उधर से सूत्र के कुछ पदों को सुन कर उनके वास्तविक अर्थ को न जानने वाले, तप के चोर, वचन के चोर, सूत्र के चोर, अर्थ के चोर अर्थात् इन सब में दोष लगाने वाले, ढोंगी तथा वेषधारी साधु बहुत माने जावेंगे।

(५) पाँचवें स्वप्न में बारह फणों वाले काले सांप को देखा।

फल– बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ेगा।

(६) छठे स्वप्न में आए हुए विमान को वापिस लौटता देखा।

फल– जंघाचारण लब्धि को धारण करने वाले साधु भारत वर्ष में नहीं होंगे अर्थात् जंघाचारण विद्या विच्छिन्न हो जाएगी।

(७) सातवें स्वप्न में कमल को कचरे के ढेर (ऊकरड़े) पर उगे हुए देखा।

फल– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में से वैश्य के पास धर्म रहेगा। सभी बनिए जुदे जुदे मत को पकड़ कर खींचा-तानी करेंगे और बहुत से विराधक हो जाएंगे। सूत्रों में रुचि वाले थोड़े रहेंगे। असली साधु तथा माता पिता के समान प्रजा पर प्रेम रखने वाले गुणी राजा भी थोड़े रह जाएंगे। सौतों की तरह एक दूसरे से लड़ने वाले होंगे। आचार्य, उपाध्याय तथा चतुर्विध संघ के प्रत्यनीक (विपरीत गामी), उनका अवर्णवाद करने वाले, अपयश फैलाने वाले तथा विनयरहित होंगे। अपनी प्रशंसा करने वाले, बड़ों की बात न मानने वाले होंगे। चौपई, ढाल, कथा, स्तवन आदि में रुचि ज्यादा रहेगी।

(८) आठवें स्वप्न में खद्योत (आगिया) के प्रकाश को देखा।

फल– द्रव्यलिङ्गी साधु धर्म के सच्चे मार्ग को छोड़ कर छोटी छोटी बाह्य क्रियाओं द्वारा आडम्बर रचेंगें अर्थात् बाह्य क्रियाओं पर अधिक ध्यान देंगे और क्षमा, अहिंसा आदि धर्म की मुख्य बातों में अँधेरा रहेगा। असली साधुओं का सत्कार कम हो जाएगा। ऊपर

का दिखावा करने वाले अधिक सन्मान प्राप्त करेंगे।

(६) नवें स्वप्न में तीनों दिशाओं में सूखे हुए तथा दक्षिण में थोड़े पानी वाले समुद्र को देखा।

फल– दक्षिण दिशा में थोड़ा धर्म रहेगा। बाकी तीनों दिशाओं में उसका विच्छेद हो जायगा। जहाँ जहाँ तीर्थङ्करों के पाँचों कल्याणक हुए हैं वहाँ वहाँ धर्म की हानि होगी।

(१०) दसवें स्वप्न में सोने की थाली में कुत्ते को खीर खाते देखा।

फल—उच्च कुल की लक्ष्मी नीच कुल में चली जायगी। चोर, चुगलखोर और मिथ्यात्वी अधिक होंगे, उन्हीं के पास लक्ष्मी रहेगी। कई उत्तम पुरुष भी उत्तम मार्ग को छोड़ कर नीच मार्ग में चलने लगेंगे।

(११) ग्यारहवें स्वप्न में बन्दर को हाथी पर बैठे हुए देखा।

फल– राजद्वार तथा दूसरे स्थानों में दुर्जन तथा नीच पुरुष ऊँचे स्थान प्राप्त करेंगे। उन्हीं को प्रतिष्ठा मिलेगी। सज्जन और भले लोगों का मान थोड़ा होगा। अशुद्ध कुल तथा अनार्य जाति वाले राजा होंगे। शुद्ध वंश वाले राजा अशुद्ध वंश वाले राजाओं के सेवक होंगे। सुधर्मा स्वामी से लेकर उत्तरोत्तर पाट पर होने वाले एक आचार्य की परम्परा टूट जायगी।

(१२) बारहवें स्वप्न में समुद्र को मर्यादा छोड़ते हुए देखा।

फल–राजा लोग विश्वासघाती होंगे अर्थात् वचन देकर उसका पालन नहीं करेंगे। कई साधु वेशधारी पाँच महाव्रत छोड़ कर झूठ बोलेंगे। कूड़ कपट करने में चतुर होंगे। उत्तम आचार के बहाने विश्वास घात करेंगे।

(१३) तेरहवें स्वप्न में दो बछड़ों को बड़े रथ में जुते हुए देखा।

फल– बालक अधिक संख्या में वैराग्य प्राप्त करके चारित्र ग्रहण करेंगे। वृद्धों में प्रमाद आ जायगा।

(१४) चौदहवें स्वप्न में महामूल्य रत्न को तेज हीन देखा।

फल– भारतवर्ष के साधुओं में चारित्र रूपी तेज घट जाएगा। वे कलह करने वाले, झगड़ालू, अविनीत, ईर्ष्यालु, संयम में दुःख समझने वाले, आपस में प्रेम भाव थोड़ा रखने वाले, लिंग, प्रवचन और साधर्मिकों का अवगुण निकालने वाले, दूसरे की निन्दा तथा अपनी प्रशंसा करने वाले, संवेगधारी श्रुतधारी तथा सच्चे धर्म के प्ररूपक साधुओं से ईर्ष्या करने वाले अधिक हो जाएंगे।

(१५) पन्द्रहवें स्वप्न में राजकुमार को बैल की पीठ पर चढ़े देखा।

फल– क्षत्रिय राजा जिनधर्म को छोड़ कर मिथ्यात्व स्वीकार कर लेंगे। न्यायी पुरुष को नहीं मानेंगे। नीच की बातें अच्छी लगेंगी। कुबुद्धि को अधिक मानेंगे तथा दुर्जनों का विश्वास करेंगे।

(१६) सोलहवें स्वप्न में दो काले हाथियों को युद्ध करते देखा।

फल– अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अकालवृष्टि अधिक होगी। पुत्र और शिष्य आज्ञा में नहीं रहेंगे। देव गुरु तथा माता पिता की सेवा नहीं करेंगे। (व्यवहारचूलिका)

८७४–महावीर की वसति विषयक १६ गाथाएं

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध, नवम अध्ययन दूसरे उद्देशे में सोलह गाथाएं हैं। उनमें भगवान् महावीर ने विहार करते हुए जिन जिन स्थानों पर निवास किया और जैसे आचरण किया उनका वर्णन है। गाथाओं का भावार्थ नीचे लिखे अनुसार है–

(१) 'विहार करते समय भगवान् महावीर ने जिन जिन स्थानों पर निवास किया तथा जिन शयन और आसनों का सेवन किया उन्हें बताइए।' जम्बू स्वामी द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर सुधर्मा स्वामी ने कहना शुरू किया–

(२) भगवान् किसी समय दीवार वाले सूने घरों में, सभा-गृह (गाँव में जो स्थान पञ्चायत आदि के लिए अथवा किसी आग-

न्तुक के ठहरने के लिए होता है) में, प्याऊ में या दुकानों में ठहर जाते थे। किसी समय लुहार, बढ़ई आदि के काम करने की दीवाल के नीचे या पलाल के बने हुए मञ्चों के नीचे निवास करते थे।

(३) कभी आगन्तार (गाँव या नगर से बाहर मुसाफिरों के ठहरने का स्थान) में, कभी उद्यान में बने हुए किसी मकान में, कभी श्मशान अथवा सूने घर में, कभी वृक्ष के नीचे उतर जाते थे।

(४) इस प्रकार के स्थानों में निवास करते हुए महामुनि महावीर कुछ अधिक साढ़े बारह वर्ष तक प्रमाद रहित तथा समाधि में लीन रहते हुए संयम में प्रयत्न करते रहे।

(५) दीक्षा लेने के बाद भगवान् ने प्रायः निद्रा का सेवन नहीं किया, सदा अपने को जागृत रक्खा। किसी जगह थोड़ी सी नींद आने पर भी वे इच्छापूर्वक कभी नहीं सोए।

नोट– अस्थिग्राम में व्यन्तरकृत उपसर्गों के बाद अन्तर्मुहूर्त के लिए भगवान् को नींद आगई थी इसके सिवाय वे कहीं नहीं सोए।

(६) निद्रा को कर्मबन्ध का कारण समझ कर वे सदा जागते रहते थे। यदि कभी नींद आने लगती तो शीतकाल की रात्रि में बाहर निकल कर मुहूर्त भर ध्यान में लीन रह कर नींद को टाल देतेथे।

(७) ऊपर बताए हुए स्थानों में भगवान् को अनेक प्रकार के भयङ्कर उपसर्ग उपस्थित हुए। साँप वगैरह जन्तु तथा गिद्ध वगैरह पक्षी उनके शरीर को नोचते थे।

(८) व्यभिचारी तथा चोर आदि उन्हें सूने घर में देख कर उपसर्ग देते थे। ग्रामरक्षक शक्ति तथा भाले आदि हथियारों द्वारा कष्ट पहुँचाते थे। बहुत से पुरुष तथा उनके रूप पर मोहित होकर विषयाभिलाष वाली स्त्रियाँ उन्हें सताती थी।

(९) इस प्रकार मनुष्य तथा पशुओं द्वारा किए गए, अनेक प्रकार की सुगन्धि तथा दुर्गन्धि वस्तुओं के तथा अनेक प्रकार के

शब्दों के भयङ्कर उपसर्ग भगवान् समितिपूर्वक सहन करते थे।

(१०) भगवान् विविध प्रकार के दुःख तथा रति अरति की परवाह न करते हुए, बिना अधिक बोले समिति पूर्वक सदा संयम में लीन रहते थे।

(११) निर्जन स्थान में भगवान् को खड़े देख कर लोग अथवा रात्रि के समय व्यभिचारी पुरुष पूछते थे– तुम कौन हो ? उस समय भगवान् कुछ नहीं बोलते थे। इस पर वे क्रुद्ध होकर भगवान को पीटने लगते, किन्तु भगवान् धर्मध्यान में लीन रहते हुए उसे सम-भाव पूर्वक सहन करते थे, किसी के प्रति वैर भावना नहीं रखते थे।

(१२) लोग पूछते थे, अरे ! यहाँ कौन खड़ा है ? कभी कभी भगवान् उत्तर देते– 'मैं भिक्षुक खड़ा हूँ।' यह सुन कर वे कहते- यहाँ से जल्दी चला जा। इसे सुन कर वहाँ से जाना उत्तम समझ कर भगवान् दूसरी जगह चले जाते। अगर वे कुछ न कहते और क्रोध करने लगते तो भगवान् मौन रह कर वहीं खड़े रहते।

(१३-१४-१५) शीत काल में जब ठण्डी हवा जोर से चलने लगती, लोग थर थर काँपने लगते, जब सामान्य साधु सरदी से तंग आकर बिना हवा वाले स्थान, अग्नि या कम्बल आदि की इच्छा करने लगते थे, इस प्रकार जब सरदी भयङ्कर कष्ट देने लगती उस समय भी संयमी भगवान् महावीर निरीह रह कर खुले स्थान में खड़े खड़े शीत को सहन करते थे। यदि रहने के स्थान में शीत अत्यन्त असह्य हो जाता तो रात्रि को थोड़ी देर के लिए बाहर चले जाते थे। मुहूर्तमात्र बाहर घूम कर फिर निवास स्थान में आकर समभाव पूर्वक शीत को सहते थे।

(१६) निरीह और मतिमान् भगवान् महावीर ने इस प्रकार कठोर आचार का पालन किया। दूसरे मुनियों को भी उन्हीं के समान बर्तना चाहिए। (आचारांग श्रुतस्कन्ध १ अध्य० ६ उद्देशा २)

८७५- सतियाँ सोलह

अपने सतीत्व (पतिव्रत) तथा दूसरे गुणों के कारण जिन महिलाओं ने स्त्री समाज के सामने महान् आदर्श रक्खा है उन्हें सती कहा जाता है। उन्होंने बाल्यावस्था में योग्य शिक्षा, यौवन में पतिव्रत या पूर्ण ब्रह्मचर्य और अन्त में संयम ग्रहण करके अपने जीवन को पूर्ण सफल बनाया है। सतीत्व की कठोर परीक्षाओं में वे पूर्ण सफल हुई हैं। इन सतियों में भी सोलह प्रधान मानी गई हैं। उन का नाम पवित्र और मङ्गलमय समझ कर प्रातःकाल स्मरण किया जाता है। इहलोक और परलोक दोनों में सुख समृद्धि प्राप्त करने के लिए नीचे लिखा श्लोक पढ़ा जाता है-

ब्राह्मी चन्दनबालिका भगवती राजीमती द्रौपदी ।
कौशल्या च मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा ॥
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता चूला प्रभावत्यपि ।
पद्मावत्यपि सुन्दरी प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

अर्थात्- ब्राह्मी, चन्दनबाला, राजीमती, द्रौपदी, कौशल्या, मृगावती, सुलसा, सीता, सुभद्रा, शिवा, कुन्ती, दमयन्ती, चूला, प्रभावती, पद्मावती और सुन्दरी प्रतिदिन हमारा मङ्गल करें।

उपरोक्त सोलह सतियों का संक्षिप्त जीवन चरित्र नीचे लिखे अनुसार है-

(१) ब्राह्मी

महाविदेह क्षेत्र में पुँडरीकिणी नाम की नगरी थी। वहाँ वैर नाम का चक्रवर्ती राजा राज्य करता था। उसने अपने चार छोटे भाइयों के साथ भगवान् वैरसेन नाम के तीर्थङ्कर के पास वैराग्य पूर्वक दीक्षा अंगीकार की।

महामुनि वैर कुछ दिनों में शास्त्र के पारंगत हो गए। भगवान्

के द्वारा गच्छपालन में नियुक्त किए जाने पर वे पाँच सौ साधुओं के साथ विहार करने लगे। उनके एक भाई का नाम बाहु था। बाहु मुनि लब्धि वाले और उद्यमी थे। वे दूसरे साधुओं की अशन पान आदि के द्वारा सेवा किया करते थे। दूसरे भाई का नाम सुबाहु था। सुबाहु मुनि मन में बिना ग्लानि के स्वाध्याय आदि से थके हुए साधुओं की पगचाँपी आदि द्वारा वैयावच्च किया करते थे। तीसरे और चौथे भाई का नाम पीठ और महापीठ था। वे दिन रात शास्त्रों के स्वाध्याय में लगे रहते थे।

एक दिन आचार्य ने बाहु और सुबाहु की प्रशंसा करते हुए कहा— ये दोनों साधु धन्य हैं जो दूसरे साधुओं की धार्मिक क्रियाओं को अच्छी तरह पूरा कराने के लिए सदा तैयार रहते हैं। यह सुन कर पीठ और महापीठ मन में सोचने लगे— आचार्य महाराज ने लोक व्यवहार के अनुसार यह बात कही है क्योंकि लोक में दूसरे का काम करने वाले की ही प्रशंसा होती है। बहुत बड़ा होने पर भी जो व्यक्ति दूसरे के काम नहीं आता वह कुछ नहीं माना जाता, मन में ऐसा विचार आने से उन्होंने स्त्री जातिनामकर्म को बाँध लिया। आयुष्य पूरी होने पर वे पाँचों भाई सर्वार्थसिद्ध विमान में गए। वहाँ से चव कर वैर चक्रवर्ती का जीव भगवान् ऋषभ देव के रूप में उत्पन्न हुआ। बाहु और सुबाहु भरत और बाहुबली के रूप में उत्पन्न हुए। बाकी दो अर्थात् पीठ और महापीठ ब्राह्मी और सुन्दरी के रूप में उत्पन्न हुए। (पंचाशक सोलहवाँ)

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में अयोध्या नाम की नगरी थी। वर्तमान हुंडावसर्पिणी के तीसरे आरे के अन्त में वहाँ नाभि राजा नाम के पंद्रहवें कुलकर हुए। उनके पुत्र भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर, प्रथम राजा, प्रथम धर्मोपदेशक और प्रथम धर्म चक्रवर्ती थे। उनकी माता का नाम मरु देवी था। युगलधर्म का उच्छेद

हो जाने पर पहले पहल उन्होंने ही व्यवस्था की थी। उन्होंने ही पहले पहल कर्ममार्ग का उपदेश दिया था। उन्हीं के शासन में यह देश अकर्मभूमि (भोग भूमि) से बदल कर कर्मभूमि बना।

उनके दो गुणवती रानियाँ थीं। एक का नाम था सुमंगला और दूसरी का नाम सुनन्दा।

एक बार रात के चौथे पहर में सुमंगला रानी ने चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्न देखते ही वह जग गई और सारा हाल पति को कहा। पति ने बताया कि इन स्वप्नों के फल स्वरूप तुम्हें चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होगी। यह सुन कर सुमंगला को बड़ी प्रसन्नता हुई। गर्भवती स्त्री के लिए बताए गए नियमों का पालन करती हुई वह प्रसन्नता पूर्वक दिन बिताने लगी।

वैद्यक शास्त्र में लिखा है– गर्भवती स्त्रियों को बहुत गरम, बहुत ठंडा, गरम मसालों वाला, तीखा, खारा, खट्टा, सड़ा गला, भारी और पतला भोजन न करना चाहिए। अधिक हँसना, बोलना, सोना, जागना, चलना, फिरना, ऐसी सवारी पर बैठना जिस पर शरीर को कष्ट हो, अधिक खाना, बार बार अंजन लगाना, थक जाय ऐसा काम करना, अयोग्य नाटक तथा खेल तमाशे देखना, प्रतिकूल हँसी खेल करना, ये सभी बातें गर्भवती के लिये वर्जित हैं। इनसे गर्भस्थ जीव में किसी प्रकार की खामी होने का डर रहता है।

गर्भवती स्त्री को मन की घबराहट और थकावट के बिना जितनी देर प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक हो सके ऐसी पुस्तकें या जीवन चरित्र पढ़ने चाहिएं जिन से शिक्षा मिले। सदा रुचिकारक और और गर्भ को पुष्ट करने वाला आहार करना चाहिए। धर्मध्यान, दया दान और सत्य वगैरह में रुचि रखनी चाहिए। शरीर पर स्वच्छ वस्त्र धारण करने चाहिए और चित्त में उत्तम विचार रखने

चाहिएं। माता के रहन सहन, भोजन और विचारों का गर्भ पर पूरा असर होता है, इस लिए माता को इस प्रकार रहना चाहिए जिससे स्वस्थ, सुन्दर और उत्तम गुणों वाली सन्तान उत्पन्न हो।

सुमंगला रानी ने अपनी सन्तान को श्रेष्ठ और सद्गुण सम्पन्न बनाने के लिए ऊपर कहे हुए नियमों का अच्छी तरह पालन किया। गर्भ का समय पूरा होने पर शुभ समय में सुमंगला रानी के पुत्र और पुत्री का जोड़ा उत्पन्न हुआ।

सुनन्दा रानी ने भी ऊपर कहे हुए चौदह स्वप्नों में से चार महा-स्वप्न देखे। गर्भकाल पूरा होने पर उसने भी पुत्र पुत्री के जोड़े को जन्म दिया। इसके बाद सुमंगला रानी ने पुत्रों के उनचास जोड़ों को जन्म दिया। इस प्रकार आदि राजा ऋषभदेव के सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं।

सुमंगला देवी ने जिस जोड़े को पहले पहल जन्म दिया उसमें पुत्र का नाम भरत और पुत्री का नाम ब्राह्मी रक्खा गया। सुनन्दा देवी के पुत्र का नाम बाहुबली और पुत्री का नाम सुन्दरी रक्खा गया।

पुत्र और पुत्री जब सीखने योग्य उमर के हुए तो उनके पिता ऋषभदेव ने अपने उत्तराधिकारी भरत को सभी प्रकार की शिल्प-कला, ब्राह्मी को १८ प्रकार की लिपिविद्या और सुन्दरी को गणित विद्या सिखाई। भरत को पुरुष की ७२ कलाएं और ब्राह्मी को स्त्री की ६४ कलाएं सिखाईं।

ऋषभदेव बीस लाख पूर्व कुमारावस्था में रहे। इसके बाद त्रेसठ लाख पूर्व तक राज्य किया। एक लाख पूर्व आयुष्य बाकी रहने पर अर्थात् तेरासी लाख पूर्व की आयु होने पर उन्होंने राज्य का कार्य भरत को सम्भला दिया। बाहुबली आदि निन्यानवें पुत्रों को भिन्न भिन्न देशों का राज्य दे दिया। एक वर्ष तक बरसी दान देकर दीक्षा अंगीकार की। एक वर्ष की कठोर तपस्या के

बाद उनके चारों घाती कर्म नष्ट होगए और उन्होंने केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया अर्थात् वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होगए। संसार का कल्याण करने के लिए उन्होंने धर्मोपदेश देना शुरू किया। भगवान् की पहली देशना में भरत महाराज के पाँच सौ पुत्र और सात सौ पौत्रों ने वैराग्य प्राप्त किया और भगवान् के पास दीक्षा अंगीकार कर ली।

विहार करते करते भगवान् अयोध्या में पधारे। भरत चक्रवर्ती को यह जान कर बड़ा हर्ष हुआ। ब्राह्मी, सुन्दरी तथा दूसरे परिवार के साथ भरत चक्रवर्ती भगवान् को वन्दना करने के लिए गए। धर्मकथा सुन कर सब के चित्त में अपार आनन्द हुआ। भगवान ने कहा– विषय भोगों में फंस कर अज्ञानी जीव अपने स्वरूप को भूल जाते हैं। जो प्राणी अपना स्वरूप समझ कर उसी में लीन रहता है, सांसारिक विषयों से विरक्त होकर धर्म में उद्यम करता है वही कर्मबन्ध को काट कर मोक्ष रूपी अनन्त सुख को प्राप्त करता है। सांसारिक सुख क्षणिक तथा भविष्य में दुःख देने वाले हैं। मोक्ष का सुख सर्वोत्कृष्ट तथा अनन्त है इस लिए भव्य प्राणियों को मोक्ष प्राप्ति के लिये उद्यम करना चाहिए।

ब्राह्मी भगवान् के उपदेश को बड़े ध्यान से सुन रही थी। उस के हृदय में उपदेश गहरा असर कर रहा था। धीरे धीरे उसका मन संसार से विरक्त होकर संयम की ओर झुक रहा था।

सभा समाप्त होने पर ब्राह्मी भगवान् के पास आई और वन्दना करके बोली– भगवन्! आपका उपदेश सुन कर मेरा मन संसार से विमुख हो गया है। मुझे अब किसी वस्तु पर मोह नहीं रहा है। इस लिये दीक्षा देकर मुझे कृतार्थ कीजिए। संसार के बन्धन मुझे बुरे लगते हैं। मैं उन्हें तोड़ डालना चाहती हूँ। भगवान् ने फरमाया– ब्राह्मी! इस कार्य के लिये भरत महाराज की आज्ञा लेना आवश्यक

है उनकी आज्ञा मिलने पर मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।

ब्राह्मी भरत के पास आई। उसके सामने अपनी दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। भरत ने साधुओं के कठिन मार्ग को बता कर ब्राह्मी को दीक्षा न लेने के लिये समझाना शुरू किया किन्तु ब्राह्मी अपने विचारों पर दृढ रही। भरत ने जब अच्छी तरह समझ लिया कि ब्राह्मी अपने निश्चय पर अटल है, उसे कोई भी विचलित नहीं कर सकता तो उसने प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दे दी। भरत महाराज ब्राह्मी को साथ लेकर भगवान् के पास आए और कहने लगे–

भगवन्! मेरी बहिन ब्राह्मी दीक्षा अंगीकार करना चाहती है। इसने योग्य शिक्षा प्राप्त की है। संसार में रहते हुए भी विषय वासना से दूर रही है। सब प्रकार की सुख सामग्री होने पर भी इसका मन विषय भोगों में नहीं लगता। आपका उपदेश सुन कर इसका संसार से मोह हट गया है। यह जन्म, जरा और मृत्यु के दुःखों से छुटकारा पाना चाहती है, इसी लिए इसने दीक्षा लेने का निश्चय किया है। दीक्षा का मार्ग कठोर है, यह बात इसे अच्छी तरह मालूम है। इसमें दुःख और कष्टों को सहन करने की पर्याप्त शक्ति है। संयम अंगीकार करने के बाद यह चारित्र का शुद्ध पालन करेगी, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। इसकी दीक्षा के लिए मेरी आज्ञा है। इसे दीक्षा देकर मुझे कृतार्थ कीजिए। मैं आपको अपनी बहिन की भिक्षा देता हूँ, इसे स्वीकार करके मुझे कृतकृत्य कीजिए।

सब के सामने भरत महाराज के ऐसा कहने पर भगवान् ने ब्राह्मी को दीक्षा दे दी।

(२) सुन्दरी

ब्राह्मी को दीक्षित हुई जान कर सुन्दरी की इच्छा भी दीक्षा लेने की हुई किन्तु अन्तराय कर्म के उदय से भरत ने उसे आज्ञा न दी। आज्ञा न मिलने से वह संयम अंगीकार न कर सकी।

द्रव्य संयम न लेने पर भी उसका अन्तः करण भाव संयममय था।

थोड़े दिनों बाद भरत छः खंड साधने के लिए दिग्विजय पर चले गए। सुन्दरी ने गृहस्थ वेश में रहते हुए भी कठोर तप करने का निश्चय किया। उसी दिन से छः विगयों का त्याग करके प्रति दिन आयम्बिल करने लगी। छः खंड साधने में भरत को साठ हजार वर्ष लग गए। सुन्दरी तब तक बराबर आयम्बिल करती रही। उसका शरीर बिल्कुल सूख गया। केवल अस्थिर पंजर रह गया।

भरत महाराज छः खंड साध कर वापिस लौटे। सुन्दरी के कृश शरीर को देख कर उन्हें निश्चय हो गया कि उसके हृदय में वैराग्य ने घर कर लिया है। वह अपने दीक्षा लेने के निश्चय पर अटल है। भरत चक्रवर्ती अपने मन में सोचने लगे–

बहिन सुन्दरी को धन्य है। आत्मकल्याण के लिए इसने घोर तप अंगीकार किया है। ऐसी सुलक्षणा देवियाँ अपने शरीर से मोक्ष रूपी परम पद को प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं और भोगों की इच्छा वाले भोले प्राणी इसी शरीर के द्वारा दुर्गति के कर्म बाँधते हैं। यह शरीर तो रोग, चिन्ता, मल,मूत्र,श्लेष्म वगैरह गन्दे पदार्थों का घर है। अतर वगैरह लगा कर इसे सुगन्धित बनाने का प्रयत्न करना मूर्खता है। गन्दे शरीर के लिये गर्व करना अज्ञानता है। मेरी बहिन को धन्य है जो शरीर और धन दौलत की अनित्यता का खयाल करके मायावी सांसारिक भोगों में नहीं फँसी और नित्य और अखंड सुख देने वाले संयम को अंगीकार करना चाहती है। सुन्दरी पहले भी दीक्षा लेने को तैयार हुई थी, किन्तु मैंने उसके इस कार्य में बाधा देकर उसे रोक दिया था किन्तु सुन्दरी ने अपने इस तप द्वारा अब मुझे भी सावधान कर दिया है। वास्तव में संसार के क्षणिक सुखों में कोई सार नहीं है। यह सब जानते हुए भी आज मेरी अवस्था ऐसी नहीं है कि मैं दीक्षा

अङ्गीकार कर सकूँ। सुन्दरी सहर्ष दीक्षा ले सकती है। सुन्दरी को इस सुकार्य से रोकना न तो उचित है और न इसकी कोई आवश्यकता ही है। अब मैं इसके लिए उसे सहर्ष आज्ञा दे दूँगा।

जिस समय भरत ने यह निश्चय किया, संयोग वश उसी समय तरण तारण, जगदाधार, प्रथम तीर्थङ्कर श्री आदि जिनेश्वर विचरते हुए अयोध्या में पधारे और नगर के बाहर एक उद्यान में ठहर गए।

वनपाल द्वारा भरत को यह समाचार मालूम होते ही वे स्वजन, परिजन और पुरजन सहित बड़े ठाठ बाट के साथ प्रभु को वन्दना करने के लिए उस उद्यान में गए। वहाँ पहुँचते ही छत्र, चमर शस्त्र, मुकुट और जूते इन पाँच वस्तुओं को अलग रख कर उन्होंने जिनेश्वर भगवान् को भक्ति पूर्वक वन्दन किया। इसके बाद उन का धर्मोपदेश सुनने के लिए वे भी अन्यान्य श्रोताओं के साथ वहीं बैठ गए। भगवान् उस समय बहुत ही मधुर शब्दों में धर्मो-पदेश दे रहे थे, उसे सुन कर भरत को बहुत ही आनन्द हुआ।

धर्मोपदेश समाप्त होने पर भरत ने भगवान् से नम्रतापूर्वक कहा– हे जगत्पिता ! मेरी बहिन सुन्दरी आज से साठ हजार वर्ष पहले दीक्षा लेने को तैयार हुई थी, किन्तु मैंने उसके इस कार्य में बाधा देकर उसे दीक्षा लेने से रोक दिया था। उस समय मुझे भले बुरे का ज्ञान न था। अब मुझे मालूम होता है कि मेरा वह कार्य बहुत ही अन्यायपूर्ण था। निःसन्देह अपने इस कार्य से मैं पाप का भागी हुआ हूँ। हे भगवन् ! मुझे बतलाइए कि मैं अब किस तरह इस पाप से मुक्त हो सकता हूँ।

जिनेश्वर भगवान् से यह निवेदन करने के बाद भरत ने सुन्दरी को दीक्षा लेने की आज्ञा देते हुए उससे क्षमा प्रार्थना की। सुन्दरी ने उनका यह पश्चात्ताप देख कर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा– मुझे दीक्षा लेने में जो विलम्ब हुआ है उसमें कर्मों का ही दोष है,

आपका नहीं, इस लिए आप को खिन्न होने या पश्चात्ताप करने की आवश्यकता नहीं है। वर्षा ऋतु में मूसलधार वृष्टि होने पर भी यदि पपीहा प्यासा ही रह जाता है तो यह उसके कर्मों का ही दोष है, मेघ का नहीं। वसन्त ऋतु में सभी लताएं और वृक्ष नए पत्ते और फल फूलों से लद जाते हैं। यदि उस समय करीर वृक्ष पल्लवित नहीं होता तो यह उसी का दोष है, वसन्त का नहीं। सूर्योदय होने पर सभी प्राणी देखने लगते हैं। यदि उस समय उल्लू की आँखें बन्द हो जाती हैं तो यह उसी का दोष है, सूर्य का नहीं। मेरे अन्तराय कर्म ने ही मेरी दीक्षा में बाधा दी थी, आपने नहीं। मैं इसमें आपका कुछ भी दोष नहीं मानती।

इस प्रकार के अनेक वचन कहकर सुन्दरी ने भरत को शान्त किया। इसके बाद उसने उसी समय जिनेश्वर भगवान् के निकट दीक्षा ले ली। सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर सुन्दरी शुद्ध चारित्र का पालन करते हुए दुष्कर तप करने लगी।

जिस समय भरत ने छह खंड जीतने के लिए प्रस्थान किया उनके छोटे भाई बाहुबली तक्षशिला में राज्य कर रहे थे। बाहुबली को अपनी शक्ति पर विश्वास था। भरत के अधीन रहना उसे पसन्द न था। उसने सोचा– पूज्य पिताजी ने जिस प्रकार भरत को अयोध्या का राज्य दिया है, उसी प्रकार मुझे तक्षशिला का राज्य दिया है। जो राज्य मुझे पिताजी से प्राप्त हुआ है, उसे छीनने का अधिकार भरत को नहीं है। यह सोच कर उस ने भरत के अधीन रहने से इन्कार कर दिया। चक्रवर्ती बनने की अभिलाषा से भरत ने बाहुबली पर चढ़ाई कर दी। बाहुबली ने भी अपनी सेना के साथ आकर सामना किया। एक दूसरे के रक्त की प्यासी बन कर दोनों सेनाएं मैदान में आकर डट गईं। एक दूसरे पर टूटने के लिए आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगीं।

इतने में इन्द्र ने स्वर्ग से आकर कहा– तुम लोग व्यर्थ सेना का संहार क्यों कर रहे हो? अगर तुम्हें लड़ना ही है तो तुम दोनों पत्र-युद्ध करो। दोनों भाइयों ने इन्द्र की बात को मान लिया। सेनाओं द्वारा लड़ने से होने वाले रक्तपात को व्यर्थ समझ कर पाँच प्रकार से मल्लयुद्ध करने का निश्चय किया। पहले के चार युद्धों में बाहुबली की जीत हुई, फिर मुष्टि युद्ध की बारी आई। बाहुबली की भुजाओं में बहुत बल था। उसे अपनी विजय पर विश्वास था। भरत के मुष्टिप्रहार को उसने समभाव से सह लिया। इसके बाद स्वयं प्रहार करने के लिए मुष्टि उठाई। उसी समय शक्रेन्द्र ने उसे पकड़ लिया और बाहुबली से कहा– बाहुबली! यह क्या कर रहे हो! बड़े भाई पर हाथ चलाना तुम्हें शोभा नहीं देता। तुच्छ राज्य के लिए क्रोध के वशीभूत होकर तुम कितना बड़ा अनर्थ कर रहे हो, यह मन में सोचो।

बाहुबली की मुष्टि उठी की उठी ही रह गई। उनके मन में पश्चात्ताप होने लगा। वे मन में सोचने लगे– 'जिस राज्य के लिए इस प्रकार का अनर्थ करना पड़े वह कभी सुखदायक नहीं हो सकता। इस लिए इसे छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। वास्तविक सुख तो संयम से प्राप्त हो सकता है।' यह सोच कर उन्होंने संयम लेने का निश्चय कर लिया।

उठाई हुई मुष्टि को वापिस लेना अनुचित समझ कर बाहुबली उसी मुष्टि द्वारा अपने सिर का पंचमुष्टि लोच करके वन में चले गए। वहाँ जाकर ध्यान लगा लिया। अभी तक उनके हृदय से अभिमान दूर न हुआ था। मन में सोचा– मेरे छोटे भाइयों ने भगवान् के पास पहले से दीक्षा ले रक्खी है। ~~उन्हें केवलज्ञान भी हो गया है।~~ यदि मैं अभी भगवान् के दर्शनार्थ गया तो उन्हें भी वन्दना करनी पड़ेगी। यह सोच कर वे भगवान् को वन्दना

करने नहीं गए।

वन में ध्यान लगा कर खड़े खड़े उन्हें एक वर्ष बीत गया। पक्षियों ने कन्धों पर घोंसले बना लिए। लताएं वृक्ष की तरह चारों ओर लिपट गईं। सिंह, व्याघ्र, हाथी तथा दूसरे जंगली जानवर गुर्राते हुए पास से निकल गए किन्तु वे अपने ध्यान से विचलित न हुए। काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि आभ्यन्तर शत्रु उनसे हार मान गए किन्तु अहंकार का कीड़ा उनके हृदय से न निकला। छोटे भाइयों को वन्दना न करने का अभिमान उन के मन में अभी जमा हुआ था। इसी अभिमान के कारण उन्हें केवलज्ञान नहीं हो रहा था।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने ज्ञान द्वारा बाहुबली का यह हाल जाना। उन्होंने ब्राह्मी और सुन्दरी को बुला कर कहा– तुम्हारे भाई बाहुबली अभिमान रूपी हाथी पर चढ़े हुए हैं। हाथी पर चढ़े केवलज्ञान नहीं हो सकता। इस लिए जाओ और अपने भाई को अहंकार रूपी हाथी से नीचे उतारो।

भगवान् की आज्ञा को प्राप्त कर दोनों सतियाँ बाहुबली के पास आईं और कहने लगीं–

वीरा म्हारा गज थकी हेठा उतरो, गज चढ्या केवल न होसी रे।।टेक।।
बन्धव गज थकी उतरो, ब्राह्मी सुन्दरी इम भाषे रे।
ऋषभ जिनेश्वर मोकली, बाहुबल तुम पासे रे ।।
लोभ तजी संयम लियो, आयो बली अभिमानो रे।
लघु बन्धव बन्दूं नहीं, काउसग्ग रह्यो शुभ ध्यानो रे ।।
बरस दिवस काउसग्ग रह्या, बेलड़ियां लिपटानी रे।
पंखी माला मांडिया, शीत ताप सुखानी रे ।।

भाई बाहुबली! भगवान् ने अपना सन्देश सुनाने के लिए

हमें आपके पास भेजा है। आप हाथी पर चढ़े बैठे हैं। जरा नीचे उतरिए। आपने राज्य का लोभ छोड़ कर संयम तो धारण किया किन्तु छोटे भाइयों को वन्दना न करने का अभिमान आ गया। इसी कारण इतने दिन ध्यान में खड़े रहने पर भी आपको केवल ज्ञान नहीं हुआ। इस लम्बे और कठोर ध्यान से आपका शरीर कैसा कृश हो गया है। पक्षियों ने आपके कन्धों पर घोंसले बना लिए। डाँसों, मच्छरों और मक्खियों ने शरीर को चलनी बना दिया किन्तु आप ध्यान से विचलित न हुए। ऐसा उग्र तप करते हुए भी आपने अभिमान को आश्रय क्यों दे रक्खा है? यह अभिमान आपकी महान् करणी को सफल नहीं होने देता।

साध्वी वचन सुनी करी, चमक्या चित्त मझारोरे।
हय, गय, रथ, पायक छांडिया, पर चढ़ियो अहंकारो रे॥
वैरागे मन वालियो, मूक्यो निज अभिमानो रे।
चरण उठायो वन्दवा, पाया केवल ज्ञानो रे॥

अपनी बहिनों के सन्देश को सुन कर बाहुवली चौंक पड़े। मन ही मन कहने लगे क्या मैं सचमुच हाथी पर बैठा हूँ? हाथी, घोड़े, राज्य, परिजन आदि सब को छोड़ कर ही मैंने दीक्षा ली थी। फिर हाथी की सवारी कैसी? हाँ अब समझ में आया। मैं अहंकार रूपी हाथी पर बैठा हूँ। मेरी बहिनें ठीक कह रही हैं। मैं कितने भ्रम में था। छोटे और बड़े की कल्पना तो सांसारिक जीवों की है। आत्मा अनादि और अनन्त है। फिर उसमें छोटा कौन और बड़ा कौन? आत्मजगत् में वही बड़ा है जिसने आत्मा का पूर्ण विकास कर लिया है। संसारावस्था में छोटे होने पर भी मेरे भाइयों ने आत्मा का पूर्ण विकास कर लिया है। मेरी आत्मा में अब भी अहङ्कार भरा हुआ है, बहुत से दोष हैं। इस लिए वास्तव में वे ही मुझ से बड़े हैं। मुझे उन्हें नमस्कार करना चाहिए।

यह सोच कर बाहुबली ने भगवान् ऋषभदेव के पास जाने के लिए एक पैर आगे रक्खा। इतने में उनके चार घाती कर्म नष्ट हो गए। उन्हें केवलज्ञान हो गया। देवों ने पुष्पवृष्टि की। चारों ओर जय जयकार होने लगा।

दोनों बहिनें अपने स्थान पर लौट गईं। पृथ्वी पर घूम घूम कर उन्होंने अनेक भव्य प्राणियों को प्रतिबोध दिया। अनेक भूले भटके जीवों को आत्मकल्याण का मार्ग बताया। कठोर तप और शुभ ध्यान द्वारा अपने कर्मों को नष्ट करने का भी प्रयत्न किया इस प्रकार आत्मा तथा दूसरों के कल्याण की साधना करते करते उनके घाती कर्म नष्ट हो गए। केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर आयुष्य पूर्ण होने पर दोनों ने मोक्ष रूपी परमपद को प्राप्त किया। इन दोनों महासतियों की सदा वन्दन हो।

(३) चन्दनबाला (वसुमती)

बिहार प्रान्त में जो स्थान आज कल चम्पारन के नाम से प्रसिद्ध है, प्राचीन समय में वहाँ चम्पापुरी नाम की विशाल नगरी थी वह अङ्गदेश की राजधानी थी। नगरी व्यापार का केन्द्र, धन धान्य आदि से समृद्ध तथा सब प्रकार से रमणीय थी।

वहाँ दधिवाहन नाम का राजा राज्य करता था। वा न्याय, नीति तथा प्रजा पालन आदि गुणों का भण्डार था। प्रजा पर पुत्र के समान प्रेम रखता था और प्रजा भी उसे पिता मानती थी। ऐसे राजा को प्राप्त करके प्रजा अपने को धन्य समझती थी

दधिवाहन राजा की धारिणी नाम की रानी थी। पतिसेवा धर्म पर श्रद्धा, उदारता, हृदय की कोमलता आदि जितने गुण राजरानी में होने चाहिएं वे सब धारिणी में विद्यमान थे। राजा तथा रानी दोनों धर्मपरायण थे। दोनों में परस्पर अगाध प्रेम था दोनों विलासिता से दूर थे। राज्य को भोग्य वस्तु न समझ

कर वे उसे कर्तव्य-भार मानते थे। परस्पर सहयोग से प्रजा का पालन करते हुए दोनों अपने जीवन को सुखपूर्वक बिता रहे थे।

कुछ दिनों बाद धारिणी ने एक महान् सुन्दरी कन्या को जन्म दिया। उज्ज्वल रूप तथा शुभ लक्षणों वाली उस पुत्री के जन्म से माता पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई। बड़े समारोह के साथ उसका जन्मोत्सव मनाया। माता पिता ने कन्या का नाम वसुमती रक्खा।

उसे देख कर धारिणी सोचा करती थी कि वसुमती को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे यह अपने कल्याण के साथ मानव समाज का भी हित कर सके। बचपन से ही उसे नम्रता, सरलता आदि गुणों की शिक्षा मिलने लगी। उसमें धर्म तथा न्याय के दृढ़ संस्कार जमाए जाने लगे। जैसे जैसे बड़ी हुई उसे दूसरी बातें भी सिखाई जाने लगीं। संगीत, पढ़ना, लिखना, सीना, पिरोना, भोजन बनाना, घर संवारना आदि स्त्री की सभी कलाओं में वह प्रवीण हो गई। उसकी बोली, उसका स्वभाव और उसका रहन सहन सभी को प्रिय लगता था। उसे देख कर सभी प्रसन्न हो उठते थे। सखियाँ उसे देवी मानती थीं। धारिणी उसे देख कर फूली न समाती थी।

धीरे धीरे वसुमती ने किशोरावस्था में प्रवेश किया। उसके शरीर पर यौवन के चिह्न प्रकट होने लगे। गुण और सौन्दर्य एक दूसरे की होड़ करने लगे। सखियाँ वसुमती के विवाह की बातें करने लगीं किन्तु उसके हृदय में अब भी वही कुमार-सुलभ सरलता तथा पवित्रता थी। वासना उसे छूई तक न थी। उसके मुख पर वही बचपन का भोलापन था। चेहरे पर निर्दोष हँसी थी। अपने गुणों से दूसरों को मोहित कर लेने पर भी उसका मन अभिमान से सर्वथा शून्य था, जैसे अपने उन गुणों से वह स्वयं अपरिचित थी॥

राजा दधिवाहन को वसुमती के लिए योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई किन्तु धारिणी वसुमती से जगत्कल्याण की आशा

रखती थी। विवाह बन्धन में पड़ जाने पर यह आशा पूरी होनी कठिन थी। इस लिए वह चाहती थी कि वसुमती आजन्म पूर्ण ब्रह्मचारिणी रह कर महिला समाज के सामने एक महान् आदर्श उपस्थित करे। इसी लिए वसुमती को शिक्षा भी इसी प्रकार की दी गई थी। उसके हृदय में भी यह भावना जम गई थी कि मैं गार्हस्थ्य के झंझटों में न पड़ कर संसार के सामने ब्रह्मचर्य, त्याग और सेवा का महान् आदर्श रक्खूँ। धारिणी वसुमती के इन विचारों से परिचित थी इस लिए राजा द्वारा विवाह की बात छेड़ी जाने पर धारिणी ने कहा– वसुमती विवाह न करेगी।

एक दिन राजा और रानी अपने महल में बैठे वसुमती के विवाह की बात सोच रहे थे। उसी समय अपने शयनागार में बैठी हुई वसुमती के मस्तिष्क में और ही तरंगें उठ रही थी। वह विचार रही थी– लोग स्त्रियों को अबला क्यों कहते हैं? क्या उनमें वही अनन्त आत्मशक्ति नहीं है जो पुरुषों में है? स्त्रियों ने भी अपने अज्ञान से अपने को अबला समझ लिया है। वे अपने को पराधीन मानती हैं। स्त्रियों की इस अज्ञानता को मैं दूर करूँगी। उन्हें बताऊँगी कि स्त्रियों में भी वही अनन्त शक्ति है जो पुरुषों में है। वे भी आत्मबल द्वारा मोक्ष की आराधना कर सकती हैं। फिर वे अबला क्यों हैं। प्रभो! मुझे वह शक्ति दो जिससे मैं अपनी बहिनों का उद्धार कर सकूँ।

इस प्रकार विचार करते हुए वसुमती को नींद आ गई। रात के चौथे पहर में उसने एक स्वप्न देखा– चम्पापुरी घोर कष्ट में पड़ी हुई है और मेरे द्वारा उसका उद्धार हुआ है। स्वप्न देखते ही वह जग गई और उसके फल पर विचार करने लगी। बहुत सोचने पर भी उसकी समझ में कोई बात न आई। इसी विचार में वह शय्या से उठ कर पास वाली अशोकवाटिका में चली गई

और एक वृक्ष के नीचे बैठ कर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगी।

प्रातःकाल होते ही वसुमती की सखियाँ उसे जगाने के लिए महल में आई किन्तु वसुमती वहाँ न मिली। ढूंढती ढूंढती वे अशोकवाटिका में चली आईं। वहाँ उसे चिन्तित अवस्था में बैठी हुई देख कर आपस में कहने लगीं– वसुमती को अब अकेली रहना अच्छा नहीं लगता। वह किसी योग्य साथी की चिन्ता कर रही है। वे सब मिल कर वसुमती से विवाह सम्बन्धी तरह तरह के मजाक करने लगीं।

वसुमती को उनकी अज्ञानता पर दया आ गई। वह सोचने लगी– स्त्री समाज का हृदय कितना विकृत हो गया है। उसे इतना भी ज्ञान नहीं है कि विवाह के सिवाय भी चिन्ता का कोई कारण हो सकता है। उसने सखियों को फटकारते हुए कहा– जन्म से एक साथ रहने पर भी तुम मुझे न समझ सकीं। मुझे भी अपने समान तुच्छ विचारों वाली समझ लिया है। विवाह न करने का तो मैं निश्चय कर चुकी हूँ फिर उससे सम्बन्ध रखने वाली कोई चिन्ता मेरे मन में आ ही कैसे सकती है?

मेरे विचार में प्रत्येक स्त्री पुरुष पर तीन व्यक्तियों के ऋण हैं– माता, पिता और धर्माचार्य। सासू, श्वसुर, पति आदि का ऋण भी स्त्री पर होता है किन्तु उसे करना या न करना अपने हाथ की बात है। पहले तीन ऋण तो प्रत्येक प्राणी पर होते हैं। उन्हें चुकाना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। मेरी माता ने मुझे शिक्षा दी है कि धर्म और समाज की सेवा द्वारा इन ऋणों को अवश्य चुकाना। मनुष्य जन्म बार बार नहीं मिलता। विषयभोग में उसे गँवा देना मूर्खता है। मानव जीवन का उद्देश्य परमार्थ साधन ही है। जो कन्या पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकती उसी के लिए विवाह का विधान है। जो ब्रह्मचर्य का पालन

करने में समर्थ है उसे विवाह की कोई आवश्यकता नहीं है। माता पिता और धर्म की सेवा करके मैं ऊपर लिखे तीनों ऋणों से मुक्त होना चाहती हूँ।

वसुमती की ये बातें सखियों को विचित्र सी मालूम पड़ीं। उन्होंने सोचा ये कोरी उपदेश की बातें हैं। दिल की बातें कुछ और हैं। उनके फिर पूछने पर वसुमती ने स्वप्न का सारा हाल सुना दिया। सखियाँ स्वप्न का वृत्तान्त महारानी को सुनाने चली गई। वसुमती फिर विचार में पड़ गई। मन में कहने लगी– इस स्वप्न ने मेरे द्वारा एक महान् कार्य के होने की सूचना दी है। मुझे अभी से उसके लिए तैयार रहना चाहिए। उसके लिए शक्ति का संचय करना चाहिए।

सखियों ने स्वप्न का हाल धारिणी को सुनाया। उसने कहा– अगर मेरी पुत्री ऐसे महान् कार्य को सम्पन्न कर सके तो मेरे लिए इससे बढ़ कर क्या सौभाग्य की बात होगी। वसुमती के इस स्वप्न के कारण उसके विवाह की बात अनिश्चित काल के लिए टाल दी गई। वसुमती जैसा चाहती थी वही हो गया।

चम्पापुरी के राज्य की सीमा पर कौशाम्बी नाम का दूसरा राज्य था। कौशाम्बी भी धन धान्य से समृद्ध तथा व्यापार के लिए प्रसिद्ध नगरी थी। वहाँ शतानीक नाम का राजा राज्य करता था। दधिवाहन की रानी पद्मावती और शतानीक की रानी मृगावती दोनों सगी बहनें थीं। इस लिए वे दोनों राजा आपस में साढ़ू थे सम्बन्धी होने पर भी दोनों राजाओं के स्वभाव में महान् अन्तर था। दधिवाहन सन्तोषी, शान्तिप्रिय और धार्मिक था, उसमें राज्यलिप्सा न थी। दूसरे को कष्ट में डाल कर ऐश्वर्य बढ़ाना उसकी दृष्टि में घोर पाप था। ऐश्वर्य पाकर धनसत्ता द्वारा दूसरों पर आतङ्क जमाना उसे पसन्द न था। सभी को सुख पहुँचा कर

वह प्राणिमात्र से मित्रता चाहता था, उन पर आधिपत्य नहीं।

शतानीक के विचार इसके सर्वथा विपरीत थे। वह दिन रात राज्य को बढाने की चिन्ता में लगा रहता था। न्याय और धर्म का गला घोट कर भी वह राज्य और वैभव बढ़ाना चाहता था। जनता पर आतङ्क जमा कर शासन करना अपना धर्म समझता था। अपनी राज्यलिप्सा को पूर्ण करने के लिए निर्दोष प्राणियों को कुचलना, उनके खून से होली खेलना खेल समझता था।

शतानीक की दृष्टि में समृद्ध चम्पापुरी सदा खटका करती थी। न्याय पूर्वक राज्य करने से फैलने वाली दधिवाहन की कीर्ति भी उसके लिए असह्य हो उठी थी। ईर्ष्यालु जब गुणों द्वारा अपने प्रतिस्पर्द्धी को नहीं जीत सकता तो वह उसे दूसरे उपायों से नुकसान पहुँचाने की चेष्टा करता है किन्तु उससे उसकी अपकीर्ति ही बढ़ती है, वह अपने स्वार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता।

दधिवाहन या चम्पापुरी पर किसी प्रकार का दोष मढ़ कर उस पर चढ़ाई कर देने की चालें शतानीक अपने मन्त्रिमण्डल के साथ सोचा करता था। अपनी बुरी कामना को पूर्ण करने के लिए दूसरे पर किसी प्रकार का अपवाद लगा देना, उसे अपराधी बता कर इच्छित वस्तु पर अधिकार जमा लेना, उसे नीचा दिखाने के लिए कोई झूठा दोष मढ़ देना तथा मनमानी करते हुए भी स्वयं निर्दोष बने रहना शतानीक की दृष्टि में राजनीति थी।

चम्पापुरी का राज्य हड़पने के लिए शतानीक कोई बहाना ढूँढ रहा था, किन्तु दधिवाहन के हृदय में युद्ध करने या किसी का राज्य छीनने की बिल्कुल इच्छा न थी। आस पास के सभी राजाओं से उसकी मित्रतापूर्ण सन्धि थी। इस लिए न उसे किसी शत्रु का डर था और न उससे किसी दूसरे को भय था। इसी कारण से उसने राज्य के आन्तरिक प्रबन्ध के लिए थोड़ी सी सेना रख

छोड़ी थी। युद्ध या किसी के आक्रमण को रोकने के लिए सैनिक शक्ति को बढ़ाना उसकी दृष्टि में व्यर्थ था, इसी से शतानीक का उत्साह बहुत बढ़ गया था। दधिवाहन की मुट्ठी भर सेना को हरा कर चम्पापुरी पर अधिकार जमा लेने में उसे किसी प्रकार की कठिनाई न जान पड़ती थी।

शतानीक ने किसी मामूली सी बात को लेकर चम्पापुरी पर चढ़ाई कर दी। दधिवाहन को इस बात का स्वप्न में भी खयाल न था कि कोई राजा उस पर भी चढ़ाई कर सकता है। युद्ध की घोषणा करती हुई शतानीक की सेना चम्पा के राज्य में घुस गई और प्रजा को सताने लगी। सीमा की रक्षा करने वाले दधिवाहन के थोड़े से सिपाही उसका सामना न कर सके। वे दौड़े हुए दधिवाहन के पास आए और चढ़ाई का समाचार सुनाया। शतानीक की सेना द्वारा सताई गई प्रजा ने भी राजा दधिवाहन के पास पुकार की।

दधिवाहन इस अप्रत्याशित समाचार को सुन कर विचार में पड़ गया। उसने अपने मन्त्रियों की सभा बुलाई और कहा– मित्रतापूर्ण सन्धि होने पर भी शतानीक ने चम्पा पर चढ़ाई कर दी है। हमारे खयाल में अभी कोई भी ऐसा कारण उपस्थित नहीं हुआ जिससे शतानीक के आक्रमण को उचित कहा जा सके। अब यह विचार करना है कि शतानीक ने चढ़ाई क्यों की और इस समय हमें क्या करना चाहिए?

प्रधान मन्त्री– इस समय ऐसा कोई भी कारण उपस्थित नहीं हुआ जिससे शतानीक को चढ़ाई करनी पड़े। शतानीक चम्पापुरी को हड़पने की दुर्भावना से प्रेरित होकर आया है। उसे किसी दूसरे कारण की आवश्यकता नहीं है। ऐसा व्यक्ति साधारण सी बात को युद्ध का कारण बना सकता है। चम्पापुरी पर चढ़ाई करने के लिए शतानीक ऐसी चालें बहुत दिनों से चल रहा था।

इसके लिए मैंने आप से पहले भी निवेदन किया था। हम लोगों ने सदा शान्ति के लिए प्रयत्न किया किन्तु वह हमारी इस इच्छा को कायरता समझता रहा। अब एक ही उपाय है कि शत्रु का सामना करके उसे बता दिया जाय कि चम्पा पर चढ़ाई कोई हँसी खेल नहीं है। जब तक शत्रु को पराजित न किया जाएगा वह मानने का नहीं। शान्ति की बातों से,उसका उत्साह दुगुना बढ़ता है। दूसरे मन्त्रियों ने भी युद्ध करने की ही सलाह दी।

मन्त्रियों की बात सुन कर राजा कहने लगा– वर्तमान राजनीति के अनुसार तो हमें युद्ध ही करना चाहिए, किन्तु इसके भयङ्कर परिणाम पर भी विचार करना आवश्यक है। शतानीक ने राज्य के लोभ में पड़ कर आक्रमण किया है। लोभी न्याय और अन्याय को भूल जाता है। अगर हम उसका सामना करें तो व्यर्थ ही लाखों मनुष्य मारे जाएंगे। अगर चम्पा का राज्य छोड़ देने पर यह नरहत्या बच जाय तो क्यों इस भयङ्कर पाप को किया जाय?

मन्त्री– महाराज! शत्रु द्वारा आक्रमण हो जाने पर धर्म की बातें करना कायरता है। ऐसे मौके पर क्षत्रिय का यह कर्तव्य है कि शत्रु का सामना करे।

राजा– क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना नहीं है। उसका धर्म न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करना है। अन्याय और अधर्म को हटाने के लिए जो अपने प्राणों को भी त्याग सकता है वही असली क्षत्रिय है। क्षात्रत्व हिंसा में नहीं है किन्तु अहिंसा में है। यदि शतानीक को न्याय और नीति के लिए समझाया जाय तो सम्भव है, वह मान जाय। इसके लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए मैं स्वयं शतानीक के पास जाऊँगा।

मन्त्रियों के विरोध करने पर भी दधिवाहन ने शतानीक के पास अकेले जाने का निश्चय कर लिया।

शतानीक में चम्पा का राज्य लेने की भावना दृढ़ हो चुकी थी और दधिवाहन में यथासम्भव हिंसा न होने देने की।

राजकर्मचारी तथा प्रजाजन द्वारा की गई प्रार्थना पर बिना ध्यान दिए दधिवाहन राजा घोड़े पर सवार होकर शतानीक के पास जा पहुँचे। उन्हें अकेला आया देख कर शतानीक बहुत प्रसन्न हुआ। उसका अभिमान और बढ़ गया। सोचने लगा- दधिवाहन डर कर मेरी शरण में चला आया है।

शतानीक के पास पहुँच कर दधिवाहन ने कहा- महाराज! हम दोनों में मित्रतापूर्ण सन्धि है। आप मेरे सम्बन्धी भी हैं। आज तक हम दोनों का पारस्परिक व्यवहार प्रेमपूर्ण रहा है। मेरे खयाल में हमारी तरफ से ऐसी कोई बात नहीं हुई जिससे आपको किसी प्रकार की हानि हुई हो फिर भी आपने अचानक चम्पापुरी पर आक्रमण कर दिया। मेरा खयाल है, आप भी प्रजा में शान्ति रखना पसन्द करते हैं। नरहत्या आपको भी पसन्द नहीं है। आप इस बात को समझते हैं कि क्षत्रिय का धर्म किसी को कष्ट देना नहीं किन्तु कष्ट देने वाले चोर और डाकुओं से प्रजा की रक्षा करना है। यदि राजा स्वयं कष्ट देने लगे तो उसे राजा नहीं लुटेरा कहा जाएगा।

क्या आप कोई ऐसा कारण बता सकते हैं जिससे आप के इस आक्रमण को न्यायपूर्ण कहा जा सके?

शतानीक- जब शत्रु ने आक्रमण कर दिया हो उस समय न्याय-अन्याय की बात करना कायरता है। अपनी कायरता को धर्म की आड़ में छिपाना वीर पुरुषों का काम नहीं है। इस समय न्याय और धर्म का बहाना निरा ढोंग है। युद्ध करना, नए नए देश जीतना, अपना राज्य बढ़ाना, क्षत्रियों के लिए यही न्याय है।

दधिवाहन- युद्ध से होने वाले भयङ्कर परिणाम पर आप

विचार कीजिए। लाखों निर्दोष मनुष्य आपस में कट कर समाप्त हो जाते हैं। हजारों बहनें विधवा हो जाती हैं। देश नवयुवकों से खाली हो जाता है। चारों ओर बालक, वृद्ध और अबलाओं की करुण पुकार रह जाती है। एक व्यक्ति की लिप्सा का परिणाम यह महान् संहार कभी न्याय नहीं कहा जा सकता। हिंसा राक्षसी वृत्ति है। उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। आपका जरासा सन्तोष इस भीषण हत्याकाण्ड को बचा सकता है।

शतानीक— मुझे सन्तोष की आवश्यकता नहीं है। राजनीति राजा को सन्तोषी होने का निषेध करती है। पृथ्वी पर वे ही शासन करते हैं जो वीर हैं, शक्तिशाली हैं। क्षत्रियों के लिए तलवार ही न्याय है और अपनी राज्यलिप्सा रूपी अग्नि को सदा प्रज्वलित रखना ही उनका धर्म है।

दधिवाहन को निश्चय हो गया कि शतानीक लोभ में पड़ कर अपनी बुद्धि को खो बैठा है। इस प्रकार की बातें करके वह मुझे युद्ध के लिए उत्तेजित करना चाहता है लेकिन इसके कहने पर क्रोध में आकर विवेक खो बैठना बुद्धिमत्ता नहीं है। गम्भीरतापूर्वक विचार करके मुझे किसी प्रकार युद्ध को रोकना चाहिए।

दधिवाहन को विचार में पड़ा देख कर शतानीक ने कहा— आप सोच क्या कर रहे हैं? यदि शक्ति हो तो हमारा सामना कीजिए। यदि युद्ध से डर लगता है तो आत्मसमर्पण करके हमारी अधीनता स्वीकार कर लीजिए। यदि दोनों बातें पसन्द नहीं हैं तो यहाँ क्यों आए? सीधा जंगल में भाग जाना चाहिए था। इस प्रकार न्याय की दुहाई देकर अपनी कायरता को छिपाने से क्या लाभ?

दधिवाहन ने निश्चय कर लिया कि जब तक शतानीक का लोभ शान्त न किया जाय, युद्ध नहीं टल सकता। इसके लिए यही उचित है कि मैं राज्य छोड़ कर वन में चला जाऊँ। यदि

इसकी अधीनता स्वीकार की गई तो इसका परिणाम और भी भयङ्कर होगा। इसके आदेशानुसार मुझे प्रजा पर अन्याय करना पड़ेगा और हर तरह से इसकी इच्छाओं को पूरा करना पड़ेगा। जिस प्रजा की रक्षा के लिए मैं इतना उत्सुक हूँ फिर उसी पर अत्याचार करना पड़ेगा।

वन जाने का निश्चय करके घोड़े पर सवार होते हुए दधिवाहन ने कहा— यदि आपकी इच्छा चम्पा पर राज्य करने की है तो आप सहर्ष कीजिए। अब तक चम्पापुरी की प्रजा का पालन मैंने किया अब आप कीजिए। मैं सोचा करता था—वृद्ध हुआ हूँ, कोई पुत्र नहीं है, राज्य का भार किसे सौंपूँगा! आपने मुझे चिन्ता-मुक्त कर दिया। यह मेरे लिए प्रसन्नता की बात है। यह कहकर दधिवाहन घोड़े पर बैठ कर वन को चला गया।

अपने राज्य की सीमा पर पहुँच कर उसने अपने मन्त्रियों के पास खबर भेज दी— शतानीक की सेना बहुत बड़ी है। उससे लड़ कर अपनी सेना तथा प्रजा का व्यर्थ संहार मत कराना। अब तक चम्पा की रक्षा मैंने की थी। अब शतानीक अपने ऊपर रक्षा का भार लेना चाहता है इस लिए मेरी जगह उसी को राजा मानना।

प्रधान मन्त्री को राजा की बात अच्छी न लगी। उसने सब मन्त्रियों की एक सभा करके निश्चय किया कि चम्पा नगरी का राज्य इस प्रकार सरलता पूर्वक शतानीक के हाथ में सौंपना ठीक नहीं है। युद्ध न करने पर सेना का क्या उपयोग होगा? उसने युद्ध की घोषणा कर दी।

दधिवाहन के चले जाने पर शतानीक के हर्ष का पारावार न रहा। बिना युद्ध के प्राप्त हुई विजय पर वह फूल उठा। उसने चम्पानगरी में तीन दिन तक लूट मचाने के लिए सेना को छुट्टी दे दी। शतानीक की सेना लूट की खुशी में चली आ रही थी।

चम्पा नगरी के पास पहुँचने पर उसे मालूम पड़ा कि दधिवाहन की सेना सामना करने के लिए तैयार खड़ी है। शतानीक ने भी अपनी सेना को युद्ध की आज्ञा दे दी। दोनों सेनाओं में घमासान संग्राम छिड़ गया। दधिवाहन की सेना बड़ी वीरता से लड़ी किन्तु शतानीक की सेना के सामने मुट्ठी भर बिना नायक की फौज कितनी देर ठहर सकती थी। शतानीक की सेना से परास्त हो कर उसे रणभूमि छोड़ कर भागना पड़ा।

चम्पानगरी के दरवाजे तोड़ दिए गए। शतानीक की सेना लूट मचाने लगी। सारे नगर में हाहाकार मच गया। सैनिकों का विरोध करना साक्षात् मृत्यु थी। पाशविकता का नग्न ताण्डव होने लगा किन्तु उसे देख कर शतानीक प्रसन्न हो रहा था। राक्षसी वृत्ति अपना भीषण रूप धारण करके उसके हृदय में पैठ चुकी थी।

चम्पापुरी में एक ओर तो यह नृशंस काण्ड हो रहा था दूसरी ओर महल में बैठी हुई महारानी धारिणी वसुमती को उपदेश दे रही थी। दधिवाहन का राज्य छोड़ कर चले जाना, अपनी सेना का हार जाना, शतानीक के सैनिकों का नगरी में प्रवेश तथा लूट मार आदि सभी घटनाएं धारिणी को मालूम हो चुकी थीं किन्तु उसने धैर्य नहीं छोड़ा। सेवकों ने आकर खबर दी कि राजमहल भी सिपाहियों द्वारा लूटा जाने वाला है, किन्तु धारिणी ने फिर भी धैर्य नहीं छोड़ा। वह वसुमती को कहने लगी– बेटी! तेरे स्वप्न का एक भाग तो सत्य हो रहा है। चम्पापुरी दुःखसागर में डूबी हुई है। तेरे पिता वन में चले गए हैं। यह समय हमारी परीक्षा का है। इस समय घबराना ठीक नहीं है। धर्म यह सिखाता है कि भयङ्कर विपत्ति को भी अपने कर्मों का फल समझ कर धैर्य रखना चाहिए। ऐसे समय में धैर्य त्याग देने वाला कभी जीवन में सफल नहीं हो सकता। अब स्वप्न का दूसरा भाग सत्य करने का उत्तर-

दायित्व तुम पर आ पड़ा है। तेरे पिता किसी ऊँची भावना को लेकर ही वन में गए होंगे। अपने धर्म की रक्षा करना हमारा सब से पहला कर्तव्य है। नष्ट हुई चम्पापुरी फिर बस सकती है, गया हुआ जीवन फिर मिल सकता है किन्तु गया हुआ धर्म फिर मिलना कठिन है। धर्म में दृढ़ रहने पर ही तुम अपने स्वप्न के बचे हुए भाग को सत्य कर सकोगी।

धारिणी वसुमती को यह उपदेश दे रही थी कि इतने में शतानीक की सेना का एक रथी (रथ से लड़ने वाला योद्धा) वहाँ आ पहुँचा। वह राजमहल को लूटने के लिए वहाँ आया था। चारों ओर विविध प्रकार के रत्नों को देख कर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। पहरेदार तथा नौकर चाकर डर के मारे पहले ही भाग चुके थे, इसलिए रानी के खास महल तक पहुँचने में उसे कोई कठिनाई न हुई।

धारिणी को देख कर रथी चकित रह गया। उसके सौन्दर्य को देख कर वह रत्नों को भूल गया। उसे मालूम पड़ने लगा, जैसे इस जीवित स्त्रीरत्न के सामने निर्जीव रत्न कङ्कर पत्थर ही हैं। उसे बल पूर्वक प्राप्त करने का निश्चय करके रथी तलवार निकाल कर धारिणी के पास जाकर कहने लगा– उठो और मेरे साथ चलो। अब यहाँ तुम्हारा कुछ नहीं है। चम्पापुरी पर शतानीक का राज्य है और यहाँ की सारी सम्पत्ति सैनिकों की है। मेरे साथ चलो, नहीं तो यह तलवार तुम्हारा भी खून पीने में न हिचकेगी।

धारिणी ने सोचा–यह सैनिक विचारहीन हो रहा है। इस समय इसे समझाना व्यर्थ है। सम्भव है, युद्ध का नशा उतरने पर समझाने से यह मान जाय। तब तक वसुमती को भी मैं अपनी बात पूरी कह सकूँगी। यह सोच कर बिना किसी भय या दीनता के अपनी पुत्री को लेकर वह रथी के साथ हो गई और रथी के कहे अनुसार निःसङ्कोच रथ में जा कर बैठ गई।

रथी अपने मन में भावी सुखों की कल्पना करता हुआ रथ के चारों ओर परदा डाल कर उसे हाँकने लगा। नगरी की ओर जाना उचित न समझ उसने सीधे वन की ओर प्रस्थान किया। रथी अपनी हवाई उमङ्गों तथा भविष्य की सुखद कल्पनाओं में डूबा हुआ रथ को हाँके चला जा रहा था और अन्दर बैठी हुई धारिणी वसुमती को उपदेश दे रही थी– बेटी! यह समय घबराने का नहीं है। तुम्हारे पिता तो हमें छोड़ कर चले ही गए। यह भी पता नहीं है कि मुझे भी तेरा साथ कब छोड़ देना पड़े, इसलिए तुम्हें वीरता पूर्वक प्रत्येक विपत्ति का सामना करने के लिए अपने ही पैरों पर खड़ी होना चाहिए। वीर अपनी रक्षा स्वयं करता है किसी दूसरे की सहायता नहीं चाहता। अपने स्वप्न के दूसरे भाग को भी तुम्हें अकेली ही पूरा करना पड़ेगा। चम्पापुरी में लाखों मनुष्यों का रक्त बहा है। निर्दोष प्रजा को लूटा गया है। चम्पापुरी पर लगे हुए इस कलङ्क को मिटाना ही उसका उद्धार है। उसका यह कलङ्क फिर युद्ध करने से न मिटेगा। युद्ध से तो वह दुगुना हो जायगा। इसलिए तुम्हें अहिंसात्मक संग्राम की तैयारी करनी चाहिए। इस संग्राम में विजय ही विजय है, कोई पराजित नहीं होता। इसमें दोनों शत्रु मिल कर एक हो जाते हैं, फिर पराजय का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

हिंसात्मक युद्ध की अपेक्षा अहिंसात्मक युद्ध में अधिक वीरता चाहिए। इसके लिए लड़ने वाले में नीचे लिखी बातें बहुत अधिक मात्रा में चाहिएं। इस युद्ध में सब से पहले अपार धैर्य की आवश्यकता है। भयङ्कर से भयङ्कर कष्ट आने पर भी धैर्य छोड़ देने वाला अहिंसात्मक युद्ध नहीं कर सकता। सहिष्णुता के साथ भावना का पवित्र रहना, किसी से वैर न रखना, भय रहित होना तथा सतत परिश्रम करते जाना भी नितान्त आवश्यक है। अहिंसात्मक युद्ध

में दूसरे का रक्त नहीं बहाया जाता किन्तु अपने रक्त को पानी समझ कर उसके द्वारा द्वेष रूपी कलङ्क धोया जाता है। इसलिए धर्म और न्याय की रक्षा के लिए तथा चम्पापुरी का कलङ्क मिटाने के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण दे देने के लिए भी तुम्हें तैयार रहना चाहिए।

रथ को लेकर वह योद्धा घोर वन में पहुँच गया। जहाँ मनुष्यों का आना जाना नहीं था ऐसे दुर्गम तथा एकान्त प्रदेश में पहुँच कर रथ को रोक दिया। रथ के परदे उठाए और धारिणी को नीचे उतरने के लिए कहा। धारिणी और वसुमती दोनों उतर कर एक वृक्ष की छाया में बैठ गई।

रथी ने अपनी बुरी अभिलाषा धारिणी के सामने रक्खी। उसे विविध प्रलोभन दिए, जन्म भर उसका दास बने रहने की प्रतिज्ञा की, किन्तु सती शिरोमणि धारिणी अपने सतीत्व से डिगने वाली न थी।

उसने रथी से कहा– भाई! अपने वेश और आकृति से तुम वीर मालूम पड़ते हो किन्तु तुम्हारे मुँह से निकलने वाली बातें इसके विपरीत हैं। विवाह के समय तुमने अपनी स्त्री से प्रतिज्ञा की थी कि उसके सिवाय संसार की सभी स्त्रियों को मां या बहिन समझोगे। उस प्रतिज्ञा को तोड़ कर आज वैसी ही प्रतिज्ञा तुम मेरे सामने कर रहे हो। जब तुम एक बार प्रतिज्ञा तोड़ चुके हो तो तुम्हारी दूसरी प्रतिज्ञाओं पर कौन विश्वास कर सकता है? क्या वीर पुरुष को इस प्रकार प्रतिज्ञा तोड़ना शोभा देता है?

विवाह में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार मैं तुम्हारी बहिन हूँ। बहिन के साथ ऐसी बातें करते हुए क्या तुम अच्छे लगते हो?

मैंने अपने विवाह के समय राजा दधिवाहन के सिवाय सभी पुरुषों को पिता या भाई मानने की प्रतिज्ञा की थी। उस प्रतिज्ञा के अनुसार तुम मेरे भाई हो। तुम अपनी प्रतिज्ञा तोड़ डालो तो भी

मैं तो तुम्हें अपना भाई ही समझूंगी। मैं क्षत्राणी हूँ, अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकती।

यह कह कर धारिणी ने रथी के सब प्रलोभन ठुकरा दिए। रथी का मस्तक एक बार तो लज्जा से झुक गया किन्तु उसे काम ने अन्धा बना रक्खा था। धर्म अधर्म, पाप पुण्य या न्याय अन्याय की बातों का उस पर कोई असर न पड़ा।

रथी ने दधिवाहन को कायर, डरपोक और भगेडू बता कर रानी पर अपनी वीरता का सिक्का जमाने की चेष्टा की किन्तु वह भी बेकार गई। इन सब उपायों के व्यर्थ हो जाने पर उसने बलप्रयोग करने का निश्चय किया। धारिणी रथी के भावों को समझ गई। रथी बलपूर्वक अपनी वासना पूर्ण करने के लिए उठा ही था कि धारिणी ने अपनी जीभ पकड़ कर बाहर खींच ली। उसके मुँह से खून की धारा बहने लगी। प्राणपखेरू उड़ गए। निर्जीव शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ा। अपने बलिदान द्वारा धारिणी ने वसुमती तथा समस्त महिलाजगत् के सामने तो महान् आदर्श रक्खा ही, साथ में सारथी के जीवन को भी एकदम पलट दिया। कामान्ध होने के कारण जिस पर उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा उसे आत्मोत्सर्ग द्वारा सत्य का मार्ग सुझा दिया। क्रूरता और कामलिप्सा को छोड़ कर वह दयालु और सदाचारी बन गया। महान् आत्माएं जिस कार्य को अपने जीवित काल में पूरा नहीं कर सकतीं उसे आत्मबलिदान द्वारा पूरा करती हैं।

धारिणी के प्राणत्याग को देख कर रथी भौंचका सा रह गया। वह कर्तव्यमूढ़ हो गया। उसे यह आशा न थी कि धारिणी इस तरह प्राण त्याग देगी। वह अपने को एक महासती का हत्यारा समझने लगा। पश्चात्ताप के कारण उसका हृदय भर आया। अपने को महापापी समझ कर शोक करता हुआ वह वहीं बैठ गया।

वसुमती इस हृदयद्रावक दृश्य को धीरतापूर्वक देख रही थी। मन में सोच रही थी कि माता ने मुझे जो शिक्षाएं दी थीं, उन्हें कार्य रूप में परिणत करके साक्षात् उदाहरण रख दिया है। ऐसी माता को धन्य है। ऐसी मां को प्राप्त करके मैं अपने को भी धन्य मानती हूँ। मां ने मुझे रास्ता बता दिया, अब मेरे लिए कोई कठिनाई नहीं है। सम्भव है, यह योद्धा मां की तरह मुझे भी अपनी वासनापूर्ति का विषय बनाना चाहे। यह भी शक्य है कि मां के उदाहरण को देख कर यह मेरे लिए कोई और षड्यन्त्र रचे। इस लिए पहले से ही अपनी माता के मार्ग को अपना लूँ। इसे कुछ करने का अवसर ही क्यों दूँ।

मन में यह विचार कर वसुमती भी प्राणत्याग करने को उद्यत हुई। रथी उसके इरादे से डर गया। दौड़ा हुआ वसुमती के पास आया और कहने लगा- बेटी ! मुझे क्षमा करो। मैंने जो पाप किया है वह भी इतना भयङ्कर है कि जन्म जन्मान्तरों में भी छुटकारा होना मुश्किल है। अपने प्राण देकर मेरे उस पाप को अधिक मत बढ़ाओ। तेरी माता महासती थी, उसके बलिदान ने मेरी आँखें खोल दी हैं। मुझ पर विश्वास करो। मैं आज से तुझे अपनी पुत्री मानूँगा। मुझे क्षमा करो। यह कह कर रथी वसुमती के पैरों पर गिर पड़ा और अपने पाप के लिए बार बार पश्चात्ताप करने लगा।

वसुमती को निश्चय हो गया कि रथी के विचार अब पहले सरीखे नहीं रहे। उसने रथी को सान्त्वना दी। इसके बाद दोनों ने मिल कर धारिणी का दाहसंस्कार किया।

वसुमती को ले कर रथी अपने घर आया। रथी की स्त्री को माता समझ कर वसुमती ने उसे प्रणाम किया किन्तु रथी की स्त्री वसुमती को देखते ही विचार में पड़ गई। वह सोचने लगी- मेरे पति इस सुन्दर कन्या को यहाँ क्यों लाए हैं? मालूम पड़ता है वे

इसके रूप पर मोहित हो गए हैं। उसे अपने पति पर सन्देह हो गया। किन्तु किसी प्रमाण के बिना कुछ कहने का साहस न कर सकी।

वसुमती के आते ही रथी के घर का रंग ढंग बिल्कुल बदल गया। सब चीजें साफ सुथरी और व्यवस्थित रहने लगीं। नौकर चाकर तथा परिवार के सभी लोग प्रसन्न रहने लगे। वसुमती के गुणों से आकृष्ट हो कर सभी लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। रथी उसके गुणों को बखानते न थकता था। उसकी स्त्री को अब कुछ भी काम न करना पड़ता था फिर भी उसकी आँखों में वसुमती सदा खटका करती थी। वह सोच रही थी, मेरे पति दिन प्रति दिन वसुमती की ओर झुक रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि वह मेरा स्थान छीन ले। इस लिए जितना शीघ्र हो सके, इसे घर से निकाल देना चाहिए। मन में यह निश्चय करके वह मौका ढूँढने लगी।

वसुमती घर के काम में इतनी व्यस्त रहती थी कि अपने खान पान का भी ध्यान न था। किसी काम में किसी प्रकार की गल्ती न होने देती थी। इतने पर भी रथी की स्त्री उसके प्रत्येक काम में गल्ती निकालने की चेष्टा करती। उसके किए हुए काम को स्वयं बिगाड़ कर उसी पर दोष मढ़ देती। इतने पर भी वसुमती क्षुब्ध न होती। वह उत्तर देती-माता जी! भूल से ऐसा हो गया। भविष्य में सावधान रहूँगी। रथी की स्त्री को विश्वास था कि इस प्रकार प्रत्येक कार्य में गल्ती निकालने पर वसुमती या तो स्वयं तंग हो कर चली जाएगी या किसी दिन मेरा विरोध करेगी और मैं स्वयं झगड़ा खड़ा करके इसे घर से निकलवा दूँगी किन्तु उसका यह उपाय व्यर्थ गया। वसुमती ने क्रोध पर विजय प्राप्त कर रक्खी थी, इस लिए सारथी की स्त्री के कड़वे वचन और झूठे आरोप उसे विचलित न कर सके।

वसुमती की कार्यव्यस्तता देख कर एक दिन सारथी ने उसे

कहा– बेटी ! तुम राज महल में पली हो। तुम्हारा शरीर इस योग्य नहीं है कि घर के कामों में इस तरह पिसा करो। तुम्हें अपने स्वास्थ्य और खान पान का भी ध्यान रखना चाहिए।

रथी की इस बात को उसकी स्त्री ने सुन लिया। उसे विश्वास हो गया कि वास्तव में मेरे पति इस पर आसक्त हो गए हैं। क्रोध से आँखें लाल करके वह वसुमती के पास आई और कहने लगी– क्यों ? मुझे ठगने चली है। ऊपर से तो मुझे मां कहती है और दिल में सौत बनने की इच्छा है। अच्छा हुआ मैं समय पर चेत गई। अब तुझे घर से निकलवा कर ही अन्न जल ग्रहण करूँगी। वसुमती के विरुद्ध वह जोर जोर से बकने लगी। घर के लोग उसके इस रूप को देख कर चकित रह गए। रथी को मालूम पड़ा तो वह भी दौड़ा हुआ आया और अपनी स्त्री को समझाने लगा। उसके समझाने पर वह अधिक विगड़ गई और कहने लगी– अब तो सारा दोष मेरा ही है, क्योंकि मैं अच्छी नहीं लगती। मैं अच्छी लगती तो इसे क्यों लाते ? अब मैं निश्चय कर चुकी हूँ कि या तो इसे घर से निकाल दो नहीं तो खाना पीना छोड़ कर अपने प्राण दे दूँगी। केवल निकाल देने से ही मुझे सन्तोष न होगा। लड़ाई से लौटे हुए सभी योद्धा चम्पापुरी को लूट कर बहुत धन लाए हैं। आप कुछ भी नहीं लाए। इस लिए इसे बाजार में बेच कर मुझे बीस लाख मोहरें लाकर दो। तभी अन्न जल ग्रहण करूँगी।

रथी ने अपनी स्त्री को बहुत समझाया किन्तु वह न मानी। यद्यपि धारिणी और वसुमती के आदर्श से रथी का स्वभाव बहुत कोमल हो गया था फिर भी उसे क्रोध आ गया। उसने अपनी स्त्री को कहा– ऐसी सदाचारिणी और सेवापरायण पुत्री को मैं अपने घर से नहीं निकाल सकता। तुम्हीं मेरे घर से निकल जाओ। दोनों में तकरार बढ़ने लगी।

वसुमती ने सोचा– मेरे कारण ही यह विरोध खड़ा हुआ है। इस लिए मुझे ही इसे निपटाना चाहिए। यह सोच कर वह रथी की स्त्री से कहने लगी– माताजी! आपको घबराने की आवश्यकता नहीं है। आप की इच्छा शीघ्र पूरी हो जायगी।

इसके बाद उसने रथी से कहा– पिताजी! इसमें नाराज होने की कोई बात नहीं है, अगर माताजी बीस लाख मोहरें लेकर मुझे छुटकारा दे रही हैं तो यह मेरे लिए हर्ष की बात है। इनका तो मुझ पर महान् उपकार है। इनका सन्देह दूर करना भी हम दोनों के लिए जरूरी है इस लिए आप मेरे साथ बाजार में चलिए और मुझे बेच कर माताजी का सन्देह दूर कीजिए। अगर आपको मेरे सतीत्व पर विश्वास है तो कोई मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

रथी वसुमती को छोड़ना नहीं चाहता था किन्तु वसुमती ने अपने व्यवहार और उपदेश द्वारा उसे इतना प्रभावित कर रक्खा था कि वह उसे अपनी आराध्य देवी मानता था। बिना कुछ कहे उसकी बात को मान लेता था। वह बोला– बेटी! मेरा दिल तो नहीं मानता कि तुम सरीखी मङ्गलमयी साध्वी सती कन्या को अलग करूँ किन्तु तुम्हारे सामने कुछ भी कहने का साहस नहीं होता, इस लिए इच्छा न होने पर भी मान लेता हूँ। मुझे दृढ विश्वास है, तुम जो कुछ कहोगी उससे सभी का कल्याण होगा।

रथी और वसुमती बाजार के लिए तैयार हो गए। वसुमती ने रथी की स्त्री को प्रणाम किया और कहा मेरे कारण आपको बहुत कष्ट हुआ है इसके लिए मुझे क्षमा कीजिए। उसने परिवार के सभी लोगों से नम्रता पूर्वक विदा ली, दासी के कपड़े पहने और रथी के साथ बाजार का रास्ता लिया।

बाजार के चौराहे में खड़ी होकर वसुमती स्वयं चिल्लाने लगी–

भाइओ! मैं दासी हूँ, बिकने के लिए आई हूँ। दूसरी ओर रथी एक कोने पर खड़ा आँसू बहा रहा था। वसुमती से अलग होने के लिए अपने भाग्य को कोस रहा था।

वसुमती के चेहरे को देख कर सभी लोग कहते- यह किसी बड़े घर की लड़की मालूम पड़ती है। कौतूहल वश उसके पास जाकर पूछते- देवि! तुम कौन हो? यहाँ क्यों खड़ी हो!

वसुमती उत्तर देती- मैं दासी हूँ। यहाँ बिकने के लिए आई हूँ। मेरी कीमत बीस लाख मोहरें हैं। मेरे पिता को कीमत देकर जो चाहे मुझे खरीद सकता है। मैं घर का सारा काम करूँगी। घर को सुधार दूँगी। किसी प्रकार की त्रुटि न रहने दूँगी। उसने अपनी वास्तविकता को बताना ठीक न समझा।

यद्यपि वसुमती की सौम्य आकृति को देख कर सभी उसे अपने घर ले जाना चाहते थे किन्तु एक दासी के लिए इतनी बड़ी रकम देना किसी ने ठीक न समझा।

उसी समय एक वेश्या पालकी में बैठी हुई वहाँ आई। वह नगर की प्रसिद्ध वेश्या थी। नृत्य, गान और दूसरी कलाओं में उसके समान कोई न था। नगर में वह 'नगरनायिका' के रूप में प्रसिद्ध थी। अपने पाप के पेशे से अपार धन बटोर चुकी थी।

वसुमती को देख कर उसे अपार हर्ष हुआ। साथ में आश्चर्य भी हुआ कि ऐसी सुन्दरी बाजार में बिक रही है। वेश्या ने सोचा- ऐसी सुन्दरी को पाकर मेरा धन्धा चमक उठेगा। थोड़े ही दिनों में सारी रकम वसूल हो जायगी। इसलिए मुंह मांगे दाम देने को तैयार हो गई।

उसने वसुमती से कहा- तुम मेरे साथ चलो। साथ में अपने पिता को भी ले लो। मैं उन्हें बीस लाख मोहरें दे दूँगी।

वेश्या खूब सजी हुई थी। रेशमी वस्त्र पहिन रक्खे थे। आभू-

षणों से लदी थी। उसकी बोली और चाल ढाल में बनावट थी। वसुमती उसकी भावभंगी से समझ गई कि यह कोई भद्र औरत नहीं है। उसने वेश्या से पूछा– माताजी! आप मुझे किस कार्य के लिए खरीदना चाहती हैं ? आपके घर का आचार क्या है?

वेश्या ने उत्तर दिया– तू तो भोली है। नित्य नए शृङ्गार करना, नए नए वस्त्र तथा आभूषणों से अपने शरीर को सुसज्जित करना तथा नित्य नए सुख भोगना हमारे यहाँ का आचार है। मेरे घर पर तुझे दासीपना न करना होगा किन्तु बड़े बड़े पुरुषों को अपना दास बनाए रखना होगा। मैं अपनी नृत्य और गान कला तुझे सिखा दूँगी। फिर ऐसा कौन है जो तेरे आगे न झुक जाय।

वेश्या की बात समाप्त होते ही वसुमती ने कहा– माताजी! आप मुझे जिस उद्देश्य से खरीदना चाहती हैं और जो कार्य लेना चाहती हैं वह मुझ से न होगा। मेरा और आपका आचार एक दूसरे से विरुद्ध है। आप पुरुषों को विभ्रम और मोह में डाल कर पतन की ओर ले जाना चाहती हैं और मैं उन्हें इस मोह से निकाल कर ऊँचा उठाना चाहती हूँ। जिस जाल में आप उन्हें फँसाना चाहती हैं, मैं उससे छुड़ाना चाहती हूँ। इसलिए मुझे खरीदने से आपको कोई लाभ न होगा। मैं आपके साथ नहीं चलूँगी।

वेश्या ने वसुमती को सब तरह के प्रलोभन दिए। उसे एक दासी की हालत से उठा कर सांसारिक सुखों की चरम सीमा पर पहुँचाने का वचन दिया किन्तु वसुमती अपने सतीत्व के सामने स्वर्गीय भोगों को भी तुच्छ समझती थी। संसार के सारे सुख इकट्ठे होकर भी उसे धर्म से विचलित न कर सकते थे। उसने वेश्या के सभी प्रलोभनों को ठुकरा दिया।

वेश्या ने सोचा– यह लड़की इस प्रकार न मानेगी। इस भीड़ में खड़े हुए बड़े बड़े आदमी मेरी हाँ में हाँ मिलाने वाले हैं। जिसे

मैं न्याय कह दूँ वही उनके लिए न्याय है। सभी मेरे इशारे पर नाचते हैं। किसी में मेरा विरोध करने का साहस नहीं है, इस लिए इसे जबर्दस्ती पकड़ कर ले चलना चाहिए। वहाँ पहुँचने के बाद अपने आप ठीक हो जाएगी।

यह सोच कर वेश्या ने उससे कहा— तुम यहाँ बिकने के लिए आई हो। बीस लाख मोहरें तुमने अपनी कीमत स्वयं बताई है। जो इतनी मोहरें दे दे उसका तुम पर अधिकार हो जाता है। फिर वह तुम्हें कहीं ले चले और कुछ काम ले, तुम्हें विरोध करने का कोई अधिकार नहीं रह जाता। बिकी हुई वस्तु पर खरीदने वाले का पूर्ण अधिकार होता है। मैंने तुम्हें खरीद लिया है। तुम्हारे आराम और सन्मान के लिए अब तक मैं तेरी खुशामद करती रही। यदि तुम ऐसे न चलोगी तो मैं जबर्दस्ती ले चलूँगी। यह कह कर वेश्या ने भीड़ पर कटाक्ष भरी नजर फैंकी। उसके समर्थक कुछ लोग हाँ में हाँ मिला कर कहने लगे— आप बिल्कुल ठीक कहती हैं। आपका पूरा अधिकार है। आप इससे अपनी इच्छानुसार कोई भी काम ले सकती हैं।

लोगों की बात सुन कर वसुमती मन ही मन सोचने लगी— ये भोले प्राणी किस प्रकार कामान्ध होकर पाप का समर्थन कर रहे हैं। प्रभो! इन्हें सद्बुद्धि प्राप्त हो। उसने प्रकट में कहा— यह भीड़ ही नहीं अगर सारा संसार प्रतिकूल हो जाय तो भी मुझे धर्म से विचलित नहीं कर सकता।

वसुमती की दृढ़ता को देख कर भीड़ में से कुछ लोग उसके भी समर्थक बन गए और कहने लगे— कोई किसी पर जबर्दस्ती नहीं कर सकता। वेश्या के साथ जाना या न जाना इसकी इच्छा पर निर्भर है।

वेश्या के समर्थक अधिक थे इस लिए उसका साहस बढ़ गया। उसने अपने नौकरों को आज्ञा दे दी और स्वयं वसुमती को पकड़ने

के लिए आगे बढ़ी। वसुमती कुछ पीछे हट गई।

रथी अब तक अलग खड़ा हुआ केवल बातें सुन रहा था। वसुमती की दुर्दशा देख कर उसे अपनी स्त्री पर क्रोध आ रहा था। उसे पकड़ने के लिए वेश्या को आगे बढ़ती देख कर उससे न रहा गया। म्यान से तलवार निकाल कर कड़कते हुए बोला– सावधान ! इसकी इच्छा के बिना अगर मेरी बेटी को हाथ लगाया तो तुम्हारी खैर नहीं है। यह कहकर वह वसुमती के पास खड़ा होगया।

हाथ में नंगी तलवार लिए हुए कुपित रथी के भीषण रूप को देख कर वेश्या डर गई। भय से पीछे हट कर वह चिल्लाने लगी– देखो ! ये मुझे तलवार से मारते हैं। जब लड़की बिक चुकी है तो अब इन्हें बोलने का क्या अधिकार है ? इन्हें केवल कीमत लेने से मतलब है और मैं पूरी कीमत देने के लिए तैयार हूँ, फिर इन्हें बीच में पड़ने का क्या अधिकार है। वेश्या के समर्थक भी उसके साथ चिल्लाने लगे। रथी को आगे बढ़ते देख कर कुछ लोग उसकी ओर भी बोलने लगे। दोनों दल तन गए। झगड़ा बढ़ने लगा।

वसुमती ने सोचा– दोनों पक्ष अज्ञानता के कारण एक दूसरे के रक्त पिपासु बने हुए हैं। क्रोधवश एक दूसरे को मारने के लिए उद्यत हैं। एक दल तो अपने स्वार्थ, वासना और लोभ में पड़ कर अन्धा हो रहा है, इस समय उसे किसी प्रकार नहीं समझाया जा सकता, किन्तु दूसरा पक्ष न्याय की रक्षा के लिए हिंसा का आश्रय ले रहा है। धर्म की रक्षा के लिए अधर्म की शरण ले रहा है। क्या धर्म अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकता ? क्या पाप की अपेक्षा वह निर्बल है ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। धर्म अपनी रक्षा स्वयं कर सकता है। उसे अधर्म का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। धर्म की तो सदा विजय होती है फिर वह पाप की शरण क्यों ले। हिंसा पाप है। न्याय की रक्षा के लिए उसकी

आवश्यकता नहीं है। यह सोच कर उसने रथी से कहा–

पिताजी! शान्त रहिए। क्रोध और हिंसा को हृदय में कभी स्थान न देना चाहिए। क्या आप माताजी की शिक्षा को भूल गए? मेरी रक्षा के लिए तलवार की आवश्यकता नहीं है। धर्म अपनी रक्षा स्वयं करता है। आप तलवार को म्यान में कर लीजिए।

रथी अधीर हो उठा। उसे विश्वास न था कि ऐसे समय में भी अहिंसा काम कर सकती है। उसने कहा– बेटी! तेरा विरोध करने का साहस मुझ में नहीं है, इस लिए बिना सोचे समझे मान लेता हूँ, किन्तु क्या यह उचित कहा जा सकता है कि मेरी बेटी पर मेरी आँखों के सामने अत्याचार हो और मैं निर्जीव स्तम्भ की तरह खड़ा रहूँ। रक्षा के लिए प्रयत्न न करूं। इस समय आतताई को दण्ड देने के सिवाय मेरा और क्या कर्तव्य हो सकता है?

पिताजी! आध्यात्मिक बल में शारीरिक बल से अनन्तगुणी शक्ति है मुझे इस बात पर दृढ़ विश्वास है, इस लिए पाशविक बल मेरा कुछ नहीं कर सकता। आप किसी बात की चिन्ता मत कीजिए। मैं पहले कह चुकी हूँ, धर्म अपनी रक्षा स्वयं करता है।

रथी को तलवार म्यान में रखते हुए देख कर वेश्या का साहस और बढ़ गया। वह सोचने लगी कि वसुमती केवल ऊपर से विरोध करती है, वास्तव में मेरे साथ जाना चाहती है। उसने फिर खींचातानी शुरू की।

वसुमती को शारीरिक बल पर विश्वास न था, इस लिए हथियार द्वारा या दूसरे किसी उपाय से विरोध करना उसने उचित न समझा। आत्मशक्ति पर विश्वास करके वह वहीं बैठ गई और कहने लगी– जब मैं नहीं जाना चाहती तो मुझे कौन ले जा सकता है?

वेश्या ने सोचा अब इसे उठा कर पालकी में डाल देना चाहिए।

वसुमती को उठाने के लिए वह आगे बढ़ी। इतने में बहुत से बन्दर वेश्या पर टूट पड़े। उसके शरीर को नोच डाला। वेश्या सहायता के लिए चिल्लाई किन्तु उसके नौकर तथा समर्थक बन्दरों से डरकर पहले ही भाग चुके थे। कोई उसकी सहायता के लिए न आया।

बन्दरों ने वेश्या को लोहूलुहान कर दिया। उसके करुण चीत्कार को सुन कर वसुमती से न रहा गया। उसने बन्दरों को डाट कर कहा- हटो! माता को छोड़ दो। इसे क्यों कष्ट दे रहे हो? वसुमती के डाटते ही सभी बन्दर भाग गए।

वेश्या के पास आकर वसुमती ने उसे उठाया और सान्त्वना देते हुए उसके शरीर पर हाथ फेरा। वेश्या के सारे शरीर में भयङ्कर वेदना हो रही थी किन्तु वसुमती का हाथ लगते ही शान्त हो गई।

कृतज्ञता के भार से दबी हुई वेश्या आँखें नीची किए सोच रही थी कि अपकारी का भी उपकार करने वाली यह कोई देवी है। इसके हाथ का स्पर्श होते ही मेरी सारी पीड़ा भाग गई। वास्तव में यह कोई महासती है।

बन्दरों के चले जाने पर वेश्या के परिजन और समर्थक फिर वहाँ इकट्ठे हो गए और विविध प्रकार से सहानुभूति दिखाने लगे। वेश्या के हृदय में वसुमती द्वारा किया हुआ उपकार घर कर चुका था इस लिए सूखी सहानुभूति उसे अच्छी न लगी।

अपने व्यवहार पर लज्जित होते हुए वेश्या ने वसुमती से कहा- देवि! सांसारिक वासनाओं में पली हुई होने के कारण मैं आपके वास्तविक स्वरूप को न जान सकी। मैंने आपकी शिक्षा को मजाक समझा, सदाचार को ढोंग समझा। धर्म, न्याय और सतीत्व का मेरे हृदय में कोई स्थान न था। इसी कारण अज्ञानतावश मैंने आप के साथ दुर्व्यवहार किया। अहिंसा और सतीत्व का साक्षात् आदर्श रख कर आपने मेरी आँखें खोल दीं। मैं आपके ऋण से कभी मुक्त

नहीं हो सकती। आपके साथ किए गए दुर्व्यवहार के लिए मुझे पश्चात्ताप हो रहा है। आपकी आत्मा महान् है। आशा है, अज्ञानतावश किए गए उस अपराध के लिए आप मुझे क्षमा कर देंगी।

अब मैंने अपने पाप के पेशे को छोड़ देने का निश्चय कर लिया है। आपने मेरे जीवन की धारा को बदल दिया। यह मेरे गौरव की बात होती यदि आपके चरणों से मेरा घर पवित्र होता। किन्तु उस गन्दे, नारकीय वातावरण में आप सरीखी पवित्र आत्मा को ले जाना मैं उचित नहीं समझती। यह कह कर अपने अपराध के लिए बार बार क्षमा मांगती हुई वेश्या अपने घर चली गई। वसुमती तथा वेश्या की बात बिजली के समान सारे शहर में फैल गई।

नगरी में धनावह नाम का एक धर्मात्मा सेठ रहता था। उसके कोई सन्तान न थी। वसुमती की प्रशंसा सुन कर उसकी इच्छा हुई कि ऐसी धर्मात्मा सती मेरे घर रहे तो कितना अच्छा हो। उसके रहने से मेरे घर का वातावरण पवित्र हो जायगा और मैं निर्विघ्न धर्माचरण कर सकूँगा।

उत्तरोत्तर घटनाओं को देख कर रथी का वसुमती की ओर अधिकाधिक झुकाव हो रहा था। ऐसी महासती को बेचना उसे बहुत बुरा लग रहा था। वह बार बार वसुमती से वापिस लौटने की प्रार्थना करने लगा और वसुमती उसे सान्त्वना देने लगी।

इतने में धनावह सेठ वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने रथी को मोहरें देना स्वीकार कर लिया और वसुमती को अपने घर ले जाने के लिए कहा। वसुमती ने पूछा– पिताजी! आपके घर का क्या आचार है?

सेठ ने उत्तर दिया– पुत्री! यथाशक्ति धर्म की आराधना करना ही मेरे घर का आचार है। मैं बारह व्रतधारी श्रावक हूँ। घर पर आए हुए अतिथि को विमुख न जाने देना मेरा नियम है। धार्मिक कार्यों में मेरी सहायता करना तुम्हारा कार्य होगा। मैं तुम्हें विश्वास

दिलाता हूँ कि मेरे यहाँ तुम्हारे सत्य और शील के पालन में किसी प्रकार की बाधा न होगी।

वसुमती धनावह सेठ के साथ जाने को तैयार हो गई और रथी से कहने लगी– पिताजी! आप मेरे साथ चलिए और बीस लाख मोहरें लाकर माताजी को दे दीजिए।

रथी के हृदय में अपार दुःख हो रहा था। उसके पैर आगे नहीं बढ़ रहे थे। धीरे धीरे सभी धनावह सेठ के घर आए। धनावह ने तिजोरी से बीस लाख मोहरें निकाल कर रथी के सामने रख दीं और कहा– आप इन्हें ले लीजिए।

रथी ने कहा– सेठ साहेब! अपनी इस पुत्री को अलग करने की मेरी इच्छा नहीं है किन्तु मेरे घर के कलुषित वातावरण में यह नहीं रहना चाहती। अगर इसकी इच्छा है तो आपके घर रहे किन्तु इसे बेचकर मैं पाप का भागी नहीं बनना चाहता। धनावह सेठ मोहरें देना चाहता था किन्तु रथी उन्हें लेना नहीं चाहता था।

यह देखकर वसुमती रथी से कहने लगी– सेठजी और आप दोनों मेरे पिता हैं। मैं दोनों की कन्या हूँ। इस नाते आप दोनों भाई भाई हैं। भाइयों में खरीदने और बेचने का प्रश्न ही नहीं होता। बीस लाख मोहरें आप अपने भाई की तरफ से माताजी को भेट दे दीजिए। यह कह कर उसने धनावह सेठ के नौकरों द्वारा मोहरें रथी के घर पहुँचवा दीं। रथी और धनावह सेठ का सम्बन्ध सदा के लिए दृढ़ हो गया।

धनावह सेठ की पत्नी का नाम मूला था। उसका स्वभाव सेठ के सर्वथा विपरीत था। सेठ जितना नम्र, सरल, धार्मिक और दयालु था, मूला उतनी ही कठोर, कपटी और निर्दय थी। सेठ दया, दान आदि धार्मिक कार्यों को पसन्द करता था किन्तु मूला को इन सब बातों से घृणा थी।

वसुमती को अपने साथ लेकर सेठ ने मूला से कहा– हमारे सौभाग्य से यह गुणवती कन्या प्राप्त हुई है। इसे अपनी पुत्री समझना। इसके रहने से हमारे घर में धर्म, प्रेम और सुख की वृद्धि होगी।

मूला ऊपर से तो सेठ की बातें सुन रही थी किन्तु हृदय में दूसरी ही बातें सोच रही थी। सेठजी इस सुन्दरी को क्यों लाए हैं? साथ में इसकी प्रशंसा भी क्यों कर रहे हैं? ऊपर से तो पुत्री कह रहे हैं किन्तु हृदय में कुछ और बात है। भला इसके सौन्दर्य को देख कर किसका चित्त विचलित न होगा।

हृदय के भावों को मन ही में दबा कर मूला ने सेठ की बात ऊपर से स्वीकार कर ली। वसुमती सेठ के घर रहने लगी। उसके कार्य, व्यवहार तथा चारित्र से घर के सभी लोग प्रसन्न रहने लगे। सभी उसकी प्रशंसा करने लगे। सेठजी स्वयं भी उसके कार्यों को सराहा करते थे किन्तु मूला पर इन सब का उल्टा असर पड़ रहा था।

एक दिन सेठ ने वसुमती से पूछा– बेटी! तेरा नाम क्या है?

पिताजी! मैं आपकी पुत्री हूँ। पुत्री का नाम वही होता है जो माता पिता रक्खें। वसुमती ने उत्तर दिया।

बेटी! मैंने तेरी सारी बातें सुन ली हैं। जैसे चन्दन काटने वाले को भी सुगन्ध और शान्ति देता है इसी प्रकार तुम अपकारी पर भी पकार करने वाली हो, इसलिए मैं तुम्हारा नाम चन्दनबाला रखता हूँ। सेठ ने पुराने नाम की छानबीन करना उचित न समझा। सभी लोग वसुमती को चन्दनबाला कहने लगे।

एक दिन चन्दनबाला स्नान के बाद अपने बाल सुखा रही थी। इतने में सेठजी बाहर से आए और अपने पैर धोने के लिए पानी मांगा। चन्दनबाला गरम पानी, बैठने के लिए चौकी तथा पैर धोने का बर्तन ले आई और बोली– पिताजी! आप यहाँ विराजें। मैं आपके पैर धो देती हूँ।

सेठजी नहीं चाहते थे कि एक सती स्त्री से जिसे अपनी पुत्री मान लिया है, पैर धुलवाए जाँय। उन्होंने चन्दनबाला से बहुत कहा कि पैर धोने का कार्य उसके योग्य नहीं है किन्तु चन्दनबाला सेवा के कार्य को छोटा न मानती थी। वह इसे उच्च और आदर्श कर्तव्य समझती थी। पिता के पैर धोना वह अपना परम सौभाग्य मानती थी। उसने सेठजी को मना लिया और पैर धोने बैठ गई।

पैर धोते समय चन्दनबाला यह सोच कर बहुत प्रसन्न हो रही थी कि उसे पितृसेवा का अपूर्व अवसर मिला। सेठजी चन्दनबाला को अपनी निजी सन्तान समझ कर वात्सल्य प्रेम से गद्गद हो रहे थे। उनके मुख पर अपत्यस्नेह स्पष्ट झलक रहा था। चन्दनबाला और सेठ दोनों के हृदयों में पवित्र प्रेम का संचार हो रहा था।

पैर धोते समय सिर के हिलने से चन्दनबाला के बाल उसके मुंह पर आ रहे थे जिससे उसकी दृष्टि अवरुद्ध हो जाती थी। सेठजी ने उन बालों को उठा कर पीछे की ओर कर दिया।

मूला इस दृश्य को देख रही थी। हृदय मलीन होने के कारण प्रत्येक बात उसे उल्टी मालूम पड़ रही थी। सेठ को चन्दनबाला के केश ऊपर करते देख कर वह जल भुन कर रह गई। उसे विश्वास हो गया कि सेठ का चन्दनबाला के साथ अनुचित सम्बन्ध है। उसे घर से निकाल देने के लिए वह उपाय सोचने लगी।

मूला का व्यवहार चन्दनबाला के प्रति बहुत कठोर हो गया। उसके प्रत्येक कार्य में दोष निकाले जाने लगे। बात बात पर डाट पड़ने लगी, किन्तु चन्दनबाला इस प्रकार विचलित होने वाली न थी। वह मूला की प्रत्येक बात का उत्तर शान्ति और नम्रता के साथ देती। अपना दोष न होने पर भी उसे मान लेती और क्षमा याचना कर लेती। मूला झगड़ा करके वसुमती को निकालने में सफल न हुई। वह कोई दूसरा उपाय सोचने लगी।

एक बार सेठजी तीन चार दिन के लिए किसी बाहर गाँव को चले गए। चन्दनबाला को निकाल देने के लिए मूला ने इस अवसर को ठीक समझा। उसने सभी नौकरों को घर से बाहर ऐसे कार्यों पर भेज दिया जिससे वे तीन चार दिन तक न लौट सकें। घर का दरवाजा बन्द करके वह चन्दनबाला के पास आई और कहने लगी– तेरी सूरत तो भोली है किन्तु दिल में पाप भरा हुआ है। जिसे पिता कहती है उसी को पति बनाना चाहती है जिसे माँ कहती है उसकी सौत बनने चली है। पुरुष भी कितने धूर्त होते हैं, जिसे पुत्री कहते हैं उसी के लिए हृदय में बुरे विचार रखते हैं। अब मैंने सब कुछ देख लिया है। अपनी आँखों के सामने मैं यह कांड कभी न होने दूँगी। उस दिन सेठजी तुम्हारे मुँह पर हाथ क्यों फेर रहे थे?

चन्दनबाला ने नम्रता पूर्वक उत्तर दिया– माताजी! मैं आप की पुत्री हूँ। पुत्री पर इस प्रकार सन्देह करना ठीक नहीं है। मैं सच्चे हृदय से आपको माता और सेठजी को पिता मानती हूँ सेठजी भी मुझे शुद्ध हृदय से अपनी पुत्री समझते हैं। इसके लिए जैसे चाहें आप मेरी परीक्षा ले सकती हैं।

अच्छा, मैं देखती हूँ तू किस प्रकार परीक्षा देती है। मेरे पति ने तेरे इन केशों को छूआ है इस लिए पहले पहल मैं इन्हें ही दण्ड देना चाहती हूँ। यह कह कर मूला कैंची ले आई और चन्दनबाला के सुन्दर केशों को काट डाला।

अपने सुन्दर और लम्बे केशों के कट जाने पर भी चन्दनबाला पहले के समान ही प्रसन्न थी। उसके मुख पर विषाद की रेखा तक न थी। वह सोच रही थी– यह मेरे लिए हर्ष की बात है यदि केशों के कट जाने मात्र से माताजी का सन्देह दूर हो जाय।

मूला उसके प्रसन्न मुख को देख कर और कुपित हो गई। उ

ने और भी कठोर दण्ड देने का निश्चय किया। चन्दनबाला के सारे कपड़े उतार लिए और पुराने मैले कपड़े की एक काछ लगा दी। हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़ी डाल दी। इसके बाद एक पुराने भौंरे (तहखाने, तलघर) में उसे बन्द करके ताला लगा दिया। मूला को विश्वास हो गया कि चन्दनबाला वहीं पड़ी पड़ी मर जाएगी। उसे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि सौत बन कर उसके सुख सुहाग में बाधा डालने वाली अब नहीं रही।

इतने में उसके हृदय में भय का संचार हुआ। सोचने लगी– अगर कोई यहाँ आगया और चन्दनबाला के विषय में पूछने लगा तो क्या उत्तर दिया जाएगा? मकान के ताला बन्द करके वह अपने पीहर चली गई। सोचा–तीन चार दिन तो यह बात ढकी ही रहेगी, बाद में कह दूँगी कि वह किसी के साथ भाग गई।

भौंरे में पड़े पड़े चन्दनबाला को तीन दिन हो गए। उस समय उसके लिए भगवान् के नाम का ही एक मात्र सहारा था। वह नवकार मन्त्र का जाप करने लगी। उसी में इतनी लीन थी कि भूख प्यास आदि सभी कष्टों को भूल गई। नवकार मन्त्र के स्मरण में उसे अपूर्व आनन्द प्राप्त हो रहा था। मूला सेठानी को वह धन्यवाद दे रही थी जिसकी कृपा से ईश्वरभजन का ऐसा सुयोग मिला।

चौथे दिन दोपहर के समय धनावह सेठ बाहर से लौटे। देखा, घर का ताला बन्द है। सेठानी या नौकर चाकर किसी का पता नहीं है। सेठजी आश्चर्य में पड़ गए। उनके घर का द्वार कभी बन्द न होता था। अतिथियों के लिए सदा खुला रहता था।

सेठ ने सोचा–मूला अपने पीहर चली गई होगी। नौकर चाकर भी इधर उधर चले गए होंगे, किन्तु चन्दनबाला तो कहीं नहीं जा सकती। पड़ोसियों से पूछने पर मालूम पड़ा कि तीन दिन से उसका कोई पता नहीं है। इतने में एक नौकर बाहर से आया। पूछने पर

उसने कहा– सेठानी ने हम सब को बाहर भेज दिया था। केवल चन्दनबाला और सेठानी ही यहाँ रही थीं। इसके बाद क्या हुआ, यह मुझे मालूम नहीं है। सेठ मूला के स्वभाव की मलीनता और उसकी चन्दनबाला के प्रति दुर्भावना से परिचित थे। अनिष्ट की सम्भावना से उनका हृदय काँप उठा।

धनावह सेठ ने मूला के पास नौकर भेजा। सेठ का आगमन सुन कर एक बार तो मूला का हृदय धक सा रह गया किन्तु जल्दी से सम्भल कर उसने नौकर से कहा मुझे अभी दो चार दिन यहाँ काम है। तुम घर की चाबी ले जाओ और सेठजी को दे दो। मूला ने सोचा– दो चार दिन में चन्दनबाला मर जायगी फिर उसका कोई भी पता न लगा सकेगा। पूछने पर कह दूँगी, घर से चोरी करके वह किसी पुरुष के साथ भाग गई।

नौकर चाबी ले कर चला आया। सेठ ने घर खोला। चन्दनबाला जब कहीं दिखाई न दी तो उसका नाम ले कर जोर जोर से पुकारना शुरू किया।

चन्दनबाला ने सेठ की आवाज पहिचान कर क्षीण स्वर से उत्तर दिया– पिताजी! मैं यहाँ हूँ। आवाज के अनुसन्धान पर सेठ धीरे धीरे भौंरे के पास पहुँच गया। किवाड़ खोल कर अंधेरे में टटोलता हुआ वह चन्दनबाला के पास आ पहुँचा। यह जान कर वह बड़ा दुखी हुआ कि चन्दनबाला के हथकड़ी और बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं। धीरे धीरे उसे उठाया और भौंरे से बाहर निकाला। चन्दनबाला के मुँडे हुए सिर, शरीर पर लगी हुई काष्ठ हथकड़ियों से जकड़े हुए हाथ तथा बेड़ियों से कसे हुए पैर देख कर सेठ के दुःख की सीमा न रही। वह जोर जोर से रोने लगा। विलाप करते हुए उसने कहा– वह दुष्टा तो तेरे प्राण ही ले चुकी थी। मेरा भाग्य अच्छा था, जिससे तुझे जीवित देख सका। मैं

बड़ा पापी हूँ, जिसके घर में तेरे समान सती स्त्री को ऐसा महान् कष्ट उठाना पड़ा।

चन्दनबाला सेठ को धैर्य बंधाने और सान्त्वना देने लगी। उसने बार बार कहा– पिताजी इसमें आपका और माताजी का कुछ दोष नहीं है। यह तो मेरे पिछले किए हुए कर्मों का फल है। किए हुए कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। इसमें करने वाले के सिवाय और किसी का दोष नहीं होता।

सेठजी शोकसागर में डूब रहे थे। उन पर चन्दनबाला की किसी बात का असर न हो रहा था। सेठजी का ध्यान किसी कार्य की ओर खींचकर उनका शोक दूर करने के उद्देश्य से चन्दनबाला ने कहा– पिताजी! मुझे भूख लगी है। कुछ खाने को दीजिए। मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो वस्तु सबसे पहले आपके हाथ में आवेगी उसी से पारणा करूँगी, इस लिए नई तैयार की हुई या बाहर से लाई हुई कोई वस्तु मैं स्वीकार न करूँगी।

सेठजी रसोई में गए किन्तु वहाँ ताला लगा हुआ था। इधर उधर देखने पर एक सूप में पड़े हुए उड़द के बाकले दिखाई दिए। वे घोड़ों के लिए उबाले गए थे और थोड़े से बाकी बच गए थे। चन्दनबाला की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए सेठ उन्हीं को ले आया। चन्दनबाला के हाथ में बाकले देकर सेठ बेड़ी तोड़ने के लिए लुहार को बुलाने चला गया।

चन्दनबाला बाकले लेकर देहली पर बैठ गई। उसका एक पैर देहली के अन्दर था और दूसरा बाहर। पारणा करने से पहले उसे अतिथि की याद आई। वह विचारने लगी– मैं प्रतिदिन अतिथियों को देकर फिर भोजन करती हूँ। यदि इस समय कोई निर्ग्रन्थ साधु यहाँ पधार जाय तो मेरा अहोभाग्य हो। उन्हें शुद्ध भिक्षा देकर मैं अपना जीवन सफल करूँ। देहली पर बैठी हुई चन्दनबाला

इस प्रकार भावना भा रही थी।

उन दिनों श्रमण भगवान् महावीर छद्मस्थ अवस्था में थे। कैवल्यप्राप्ति के लिए कठोर साधना कर रहे थे। लम्बी तथा उग्र तपस्याओं द्वारा अपने शरीर को सुखा डाला था। एक बार उन्होंने अतिकठोर अभिग्रह धारण किया। उनका निश्चय था–

राजकन्या हो, अविवाहिता हो, सदाचारिणी हो, निरपराध होने पर भी जिसके पांवों में बेड़ियाँ तथा हाथों में हथकड़ियाँ पड़ी हुई हों, सिर मुण्डा हुआ हो, शरीर पर काछ लगी हुई हो, तीन दिन का उपवास किए हो, पारणे के लिए उड़द के बाकले सूप में लिए हो, न घर में हो, न बाहर हो, एक पैर देहली के भीतर तथा दूसरा बाहर हो, दान देने की भावना से अतिथि की प्रतीक्षा कर रही हो, प्रसन्न मुख हो और आखों में आँसू भी हों, इन तेरह बातों के मिलने पर ही आहार ग्रहण करूँगा। अगर ये बातें न मिलें तो आजीवन अनशन है।

आहार की गवेषणा में फिरते हुए भगवान् को पाँच मास पच्चीस दिन होगए किन्तु अभिग्रह की बातें पूरी न हुईं। सभी लोग भगवान् की शरीर रक्षा के लिए चिन्तित थे। साथ में उनके कठिन अभिग्रह के लिए आश्चर्यचकित भी थे।

घूमते घूमते भगवान् कौशाम्बी आ पहुँचे। नगरी में आहार की गवेषणा करते हुए धनावह सेठ के घर आए। चन्दनबाला को उस रूप में बैठी हुई देखा। अभिग्रह की और बातें तो मिल गईं किन्तु एक बात न मिली– उसकी आँखों में आँसू न थे। भगवान् वापिस लौटने लगे।

उन्हें वापिस लौटते देख चन्दनबाला की आँखों में आँसू आ गए। वह अपने भाग्य को कोसने लगी कि ऐसे महान् अतिथि आकर भी मेरे दुर्भाग्य से वापिस लौट रहे हैं। भगवान् ने अचा-

तक पीछे देखा। उसकी आँखों से आँसू टपक रहे थे। तेरहवीं बात भी पूरी होगई। उन्होंने चन्दनबाला के पास आकर हाथ फैला दिए। सांसारिक वासनाओं से कलुषित हृदय वाली सारथी की स्त्री और मूला जिसे अनाथ, अवारागिर्द और भ्रष्ट समझती थीं, त्रिलोक पूजित भगवान् उसी के सामने भिक्षुक बन कर खड़े थे।

चन्दनबाला ने आनन्द से पुलकित होकर उड़द के बाकले बहरा दिए। उसी समय आकाश में दुन्दुभि बजने लगी। देवों ने जय-नाद किया—सती चन्दनबाला की जय। धनावह के घर फूल और सोनैयों की वृष्टि होने लगी। चन्दनबाला की हथकड़ी और बेड़ियाँ आभूषणों के रूप में बदल गईं। सारा शरीर दिव्य वस्त्रों से सुशोभित होगया और सिर पर कोमल सुन्दर और लम्बे केश आगए। उसी समय वहाँ रत्नजटित दिव्य सिंहासन प्रगट हुआ। इन्द्र आदि देवों ने चन्दनबाला को उस पर बैठाया और स्वयं स्तुति करने लगे।

भगवान् महावीर के पारणे की बात बिजली के समान सारे नगर में फैल गई। मूला को भी इस बात का पता चला। अपने घर पर सोनैयों की वृष्टि हुई जान कर वह भागी हुई आई। घर पहुँचने पर सामने दिव्य वस्त्रालङ्कार पहिन कर सिंहासन पर बैठी हुई चन्दनबाला को देख कर वह आश्चर्यचकित रह गई।

मूला को देखते ही चन्दनबाला उसके सामने गई। विनयपूर्वक प्रणाम करके अपने सुन्दर केशों से उसके पैर पोंछती हुई कहने लगी— माताजी! यह सब आप के चरणों का प्रताप है। लज्जा के कारण मूला का मस्तक नीचे झुक गया। चन्दनबाला उसका हाथ पकड़ कर अन्दर ले गई और अपने साथ सिंहासन पर बिठा लिया।

चन्दनबाला की बेड़ियाँ खुलवाने के लिए सेठ लुहार के पास गया हुआ था। उसने भी सारी बातें सुनीं, प्रसन्न होता हुआ अपने घर आया। मूला को चन्दनबाला के साथ बैठी हुई देख कर सेठ

को क्रोध आ गया। वह मूला को डाटने लगा।

चन्दनबाला सेठजी को देखते ही सिंहासन से उतर गई। उन्हें मूला पर क्रुद्ध होते हुए देख कर कहने लगी– पिताजी ! इस में माताजी का कोई दोष नहीं है। प्रत्येक घटना अपने किए हुए कर्मों के अनुसार ही घटती है। हमें इनका उपकार मानना चाहिए,जिससे भगवान् महावीर का पारणा हमारे घर हो सका। इन्द्र आदि देवों के द्वारा मुझे मालूम पड़ा कि भगवान् के तेरह बातों का अभिग्रह था। वह अभिग्रह माताजी की कृपा से ही पूरा हुआ है। सेठ का क्रोध शान्त करके चन्दनबाला दोनों के साथ सिंहासन पर बैठ गई।

धीरे धीरे शहर में यह बात भी फैल गई कि जो लड़की उस दिन बाजार में बिक रही थी, जिसने वेश्या के साथ जाना अस्वीकार किया था और अन्त में धनावह सेठ के हाथ बिकी थी वह चम्पानगरी के राजा दधिवाहन और रानी धारिणी की कन्या है। उसी के हाथ से भगवान् महावीर का पारणा हुआ है।

चन्दनबाला को सेठ के पास छोड़ कर अपने घर लौटने के बाद रथी बहुत ही दुखी रहने लगा। उसे वे बीस लाख सोनैये बहुत बुरे लगते थे। उसकी स्त्री उसे विविध प्रकार से खुश करने का प्रयत्न करती किन्तु वे बातें उसे जले पर नमक के समान मालूम पड़तीं। पास पड़ोस के लोग भी चन्दनबाला की सदा प्रशंसा करते। इन सब बातों का रथी की स्त्री पर बहुत प्रभाव पड़ा। वह सोचने लगी कि चन्दनबाला मुझे ही क्यों बुरी लगती है। सारी दुनिया तो उसकी प्रशंसा करती है। उसे सभी बातों में अपना ही दोष दिखाई देने लगा। पति पर किया गया आक्षेप भी निराधार मालूम पड़ा। धीरे धीरे उसने वेश्या का सुधरना तथा दूसरी बातें भी सुनीं। उसे विश्वास हो गया कि सारा दोष मेरा ही है। मैंने चन्दनबाला के असली रूप को नहीं समझा। उसे बहुत पश्चात्ताप

होने लगा। चन्दनबाला को वापिस लाने का प्रयत्न व्यर्थ समझ कर उसने निश्चय किया— मैं भी आज से चन्दनबाला के समान ही आचरण करूँगी। उसी के समान घर के सारे काम, नम्रतापूर्ण व्यवहार तथा ब्रह्मचर्य का पालन करूँगी। भोगविलास, वासनाओं तथा सभी बुरी बातों से दूर रहूँगी। इन बीस लाख मोहरों को अलग ही पड़ी रहने दूँगी। अपने काम में न लाऊँगी।

रथी की स्त्री का स्वभाव एक दम बदल गया। उसे देख कर रथी और पड़ोसियों को आश्चर्य होने लगा।

भगवान् महावीर के पारणे की बात सुन कर रथी की स्त्री ने भी चन्दनबाला के दर्शन करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। रथी को यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई। दोनों चन्दनबाला के दर्शनों के लिए धनावह सेठ के घर की ओर रवाना हुए।

वेश्या भी सारा हाल सुन कर चन्दनबाला के पास चली। रथी की स्त्री और वेश्या दोनों चन्दनबाला के पास पहुँच कर अपने अपराधों के लिए पश्चात्ताप करने लगीं। चन्दनबाला ने सारा दोष अपने कर्मों का बता कर उन्हें शान्त किया। रथी और सेठ भाई भाई के समान एक दूसरे से मिले। रथी की स्त्री और वेश्या ने अपना जीवन सुधारने के लिए चन्दनबाला का बहुत उपकार माना।

राजा शतानीक की रानी ने भी सारी बातें सुनीं। अपनी बहिन* की पुत्री के साथ होने वाले दुर्व्यवहार के लिए उसने अपने पति को ही दोषी समझा। उसने राजा शतानीक को बुला

---

* इतिहास से पता चलता है कि दधिवाहन राजा की तीन रानियाँ थीं- अभया, पद्मावती और धारिणी। जिस समय का यह वर्णन है उस समय केवल धारिणी थी। अभया मारी गई थी और पद्मावती दीक्षा ले चुकी थी। मृगावती और पद्मावती दोनों महाराजा चेटक (चेड़ा) की पुत्रियाँ थीं। वे दोनों सगी बहनें थीं और धारिणी पद्मावती की सपत्नी थी। इसी सम्बन्ध से मृगावती चन्दनबाला की मौसी थी।

कर कहा– आपके लोभ के कारण कैसा अन्याय हुआ, कितनी निर्दोष तथा पवित्र आत्माओं को भयङ्कर विपत्तियों का सामना करना पड़ा है, यह आप नहीं जानते। मेरे बहुत समझाने पर भी आपने शान्तिपूर्वक राज्य करते हुए मेरे बहनोई राजा दधिवाहन पर चढ़ाई कर दी। फल स्वरूप वे जंगल में चले गए। रानी धारिणी का कोई पता ही नहीं है, उनकी लड़की को आपके किसी रथी ने यहाँ लाकर बाजार में बेचा। उसे कितनी बार अपमानित होना पड़ा, कितने कष्ट उठाने पड़े, यह आपको बिल्कुल मालूम नहीं है। आज उसके हाथ से परम तपस्वी भगवान् महावीर का पारणा हुआ है।

जिस राज्य के लिए आपने ऐसा अत्याचार किया, क्या वह आपके साथ जायगा ? आपको निरपराध राजा दधिवाहन पर चढ़ाई करने, चम्पा की निर्दोष प्रजा को लूटने और मारकाट मचाने का क्या अधिकार था? मृगावती परम सती थी। उसका तेज इतना चमक रहा था कि शतानीक उसके विरुद्ध कुछ न बोल सका। अपनी भूल को स्वीकार करते हुए उसने कहा– मैंने राज्य के लोभ से चम्पा की निर्दोष प्रजा पर अत्याचार किया, यह स्वीकार करता हूँ, लेकिन तुम्हारी बहिन की लड़की से मेरी कोई शत्रुता न थी। दधिवाहन की तरह वह मेरी भी पुत्री है। अगर उसके विषय में मुझे कुछ भी मालूम होता तो उसे किसी प्रकार का कष्ट न उठाना पड़ता। खैर, अब उसे यहाँ बुला लेना चाहिए।

शतानीक ने उसी समय सामन्तों को बुलाया और चन्दनबाला को सन्मान पूर्वक लाने की आज्ञा दी। सामन्त गण पालकी लेकर धनावह सेठ के घर पहुँचे और चन्दनबाला को शतानीक का सन्देश सुनाया। चन्दनबाला ने उत्तर दिया– मैं अब महलों में जाना नहीं चाहती इस लिए आप मुझे क्षमा करें। मौसाजी और मौसीजी ने मुझे बुला कर जो अपना स्नेह प्रदर्शित किया है, उस

के लिए मैं उनकी कृतज्ञ हूँ।

सामन्तों ने बहुत अनुनय विनय की किन्तु चन्दनबाला ने पाप से परिपूर्ण राजमहलों में जाना स्वीकार न किया। उसने सामन्तों को समझा बुझा कर वापिस कर दिया। सामन्तों के खाली हाथ वापिस लौट आने पर राजा और रानी ने चन्दनबाला को लाने के लिए स्वयं जाने का निश्चय किया।

राजा और रानी की सवारी बड़े बड़े सामन्त और उमरावों के साथ धनावह सेठ के घर चली। नगर में बात फैलने से बहुत से नागरिक और सेठ साहूकार भी सवारी के साथ हो लिए। सेठ के घर बहुत बड़ी भीड़ जमा हो गई। पास पहुँचने पर राजा और रानी सवारी से उतर गए।

चन्दनबाला के पास जाकर राजा ने कहा- बेटी! मुझ पापी को क्षमा करो। मैंने भयङ्कर पाप किए हैं। तुम्हारे सरीखी सती को कष्ट में डाल कर महान् अपराध किया है। तुम देवी हो। प्राणियों को क्षमा करने वाली तथा उनके पाप को धो डालने वाली हो। तुम्हारी कृपा से मुझ पापी का जीवन भी पवित्र हो जायगा इस लिए महल में पधार कर मुझे कृतार्थ करो।

चन्दनबाला ने दोनों को प्रणाम करके उत्तर दिया- आप मेरे पिता के समान पूज्य हैं। अपराध के कारण मैं आपको अनादरणीय नहीं समझ सकती। आपकी आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य है, किन्तु आप स्वयं जानते हैं कि विचारों पर वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। जिन महलों में सदा लूटने खसोटने तथा निरपराधों पर अत्याचार करने का ही विचार होता है उसमें जाना मेरे लिए कैसे उचित हो सकता है। जहाँ का वातावरण मेरी भावना और विचारों के सर्वथा प्रतिकूल हो वहाँ मैं कैसे जाऊँ? आपके भेजे हुए सामन्त भी मेरे लिए आप ही के समान आदरणीय हैं।

मैं उन्हीं के कहने पर आ जाती किन्तु उस दूषित वातावरण में जाना मैंने ठीक नहीं समझा। चन्दनबाला ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा– आप ही बताइए! मेरे पिता का क्या अपराध था जिससे आपने चम्पा पर चढ़ाई की? यदि आप को चम्पा का लोभ था तो आप उस पर कब्जा कर लेते। मेरे पिता तो स्वयं ही उसे छोड़ कर चले गए थे। अगर सेना ने आपका सामना किया था तो यह सेना का अपराध था। निर्दोष प्रजा ने आपका क्या बिगाड़ा था जिससे उस पर अमानुषिक अत्याचार किया गया?

चन्दनबाला की बातों को शतानीक सिर नीचा किए चुपचाप सुन रहा था। उसके पास कोई उत्तर न था।

वह फिर कहने लगी– मैं यह नहीं कहना चाहती कि राजधर्म का त्याग किया जाय, किन्तु राजधर्म प्रजा की रक्षा करना है। उसका विनाश नहीं। क्या चम्पा को लूट कर आपने राजधर्म का पालन किया है? क्या आप को मालूम है कि आपकी सेना ने चम्पा के निवासियों पर कैसा अत्याचार किया है? वहाँ के निर्दोष नागरिकों के साथ कैसा पैशाचिक व्यवहार किया है? क्या आप नहीं जानते कि अन्धे सैनिकों को खुली छुट्टी दे देने पर क्या होता है? सभ्य नागरिकों को लूटना, खसोटना, मारना, काटना और उनकी बहू बेटियों का अपमान करना ऐसा कोई भी अत्याचार नहीं है जिससे वे हिचकते हों।

जब आपका एक रथी मुझे और मेरी माता को भी दुर्भावना से पकड़ कर जंगल में ले गया तो न मालूम प्रजा की बहू बेटियों के साथ कैसा व्यवहार हुआ होगा? मेरी माता वीराङ्गना थी, इस लिए सतीत्व की रक्षा के लिए उसने अपने प्राण त्याग दिए और उस रथी को सदा के लिए धार्मिक तथा सदाचारी बना दिया। जिस माता में इतने बलिदान की शक्ति न हो क्या उस पर अत्या-

चार होने देना ही राजधर्म है ?

चन्दनबाला के मुख से धारिणी की मृत्यु का समाचार सुन कर मृगावती को बहुत दुःख हुआ। वह शोक करने लगी कि मेरे पति के अत्याचार से पीड़ित हो कर कितनी माताओं को अपने सतीत्व की रक्षा के लिए प्राण त्यागने पड़े होंगे। कितनी अपने सतीत्व को खो बैठी होंगी। धिक्कार है ऐसी राज्यलिप्सा को। चन्दनबाला ने मृगावती को सान्त्वना देते हुए कहा- मेरी माता ने पवित्र उद्देश्य से प्राण दिए हैं। इस प्रकार प्राण देने वाले विरले ही होते हैं। उनके लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है। मैं तो यह कह रही हूँ- जिस राजमहल में चलने के लिए मुझे कहा जा रहा है उसमें किए गए विचारों का परिणाम कैसा भयङ्कर है।

वह फिर कहने लगी- राजा का कर्तव्य है कि वह अपने नगर तथा देश में होने वाली घटनाओं से परिचित रहे। क्या आपको मालूम है कि आप के नगर में कौन दुखी है ? किस पर कैसा अत्याचार हो रहा है ? कैसा अनीतिपूर्ण व्यवहार खुल्लम-खुल्ला हो रहा है ? आप ही की राजधानी में दास दासियों का क्रयविक्रय होता है। क्या आपने कभी इस नीच व्यापार पर ध्यान दिया है ? मैं स्वयं इसी नगर के चौराहे पर बिकी हूँ। मुझे एक वेश्या खरीद रही थी। मेरे इन्कार करने पर उसने बलपूर्वक ले जाना चाहा। बहुत से नागरिक भी उसकी सहायता के लिए तैयार हो गए। अकस्मात् बन्दरों के बीच में आ जाने से वेश्या का उद्देश्य पूरा न हुआ। नहीं तो अपने शील की रक्षा के लिए मुझे कौनसा उपाय अङ्गीकार करना पड़ता, यह कुछ नहीं कहा जा सकता।

भाग्य से रथी को बीस लाख सोनैये दे कर सेठजी मुझे अपने घर ले आए। इन्होंने मुझे अपनी पुत्री के समान रक्खा और आज भगवान् महावीर का पारणा हुआ।

आप को इन सब बातों का कुछ भी पता नहीं। महल में बैठ कर आप प्रजा पर अत्याचार करने, उसकी गाढ़ी कमाई को लूट कर अपने भोगविलास में लगाने तथा निर्दोष जनता को सताने का विचार करते हैं, प्रजा के दुःख को दूर करने का नहीं। क्या यही राजधर्म है? क्या यही आपका कर्तव्य है? क्या कभी आप ने सोचा है कि पाप का फल हर एक को भोगना पड़ता है?

जिस महल में रहते हुए आपके विचार ऐसे गन्दे हो गए उसमें जाना मुझे उचित प्रतीत नहीं होता। इस लिए क्षमा कीजिए। यहाँ पर रह कर मुझे भगवान् महावीर के पारणे का लाभ प्राप्त हुआ। महलों में यह कभी नहीं हो सकता था।

रानी मृगावती शतानीक को समय समय पर हिंसाप्रधान कार्यों से बचने तथा प्रजा का पुत्र के समान पालन करने के लिए समझाया करती थी किन्तु उस समय वह न्याय और धर्म का उपहास किया करता था। चन्दनबाला के उपदेश का उस पर गहरा असर पड़ा। उत्तर में वह कहने लगा– हे सती! आपका कहना यथार्थ है। मैंने महान् पाप किए हैं। जनहत्या, मित्रद्रोह आदि बड़े से बड़ा पाप करने में भी मैंने सङ्कोच नहीं किया। मैं राजाओं का जन्म युद्ध, दमन, शासन और भोगविलास के लिए मानता था। मेरी ही अव्यवस्था के कारण आपकी माता को प्राण त्यागने पड़े और आपको महान् कष्ट उठाने पड़े। मैं इस बात से सर्वथा अनभिज्ञ था कि मेरी आज्ञा का इस प्रकार दुरुपयोग होगा। मैंने चम्पा को लूटने की आज्ञा दी थी किन्तु स्त्रियों के लूटे जाने, उनका सतीत्व नष्ट होने आदि का मुझे बिल्कुल खयाल न था। मेरी आज्ञा की ओट में इस भयङ्कर अत्याचार के होने की बात मुझे आज ही मालूम पड़ी है। इसके लिए मैं ही अपराधी हूँ।

अगर मेरी नगरी में दास दासी के क्रय विक्रय की प्रथा न होती

तो आपको क्यों बिकना पड़ता? अगर राजा दधिवाहन के जाते ही मैंने उनके परिवार का खयाल किया होता तो आपको इतना कष्ट क्यों उठाना पड़ता तथा आपकी माता को प्राण क्यों त्यागने पड़ते? इन सब कार्यों के लिए दोष मेरा ही है। मुझे अपने किए पर पश्चात्ताप हो रहा है। उन पापों के लिए मैं लज्जित हूँ। यह कहते हुए शतानीक की आँखें डबडबा आई। उसके हृदय में महान् दुःख हो रहा था।

चन्दनबाला ने शतानीक को सान्त्वना देते हुए कहा—पिताजी! पश्चात्ताप करने से पाप कम हो जाता है। आपकी आज्ञा से जिन व्यक्तियों का स्वत्व लूटा गया है, उनका स्वत्व वापस लौटा दीजिए। भविष्य में ऐसा पाप न करने की प्रतिज्ञा कर लीजिए, फिर आप पवित्र हो जाएंगे। आज से यह समझिए कि राज्य आपके भोग-विलास के लिए नहीं है किन्तु आप राज्य तथा प्रजा की रक्षा करने के लिए हैं। अपने को शासन करने वाला न मान कर प्रजा की रक्षा तथा उसकी सुखवृद्धि के लिए राज्य का भार उठाने वाला सेवक मानिए फिर राज्य आपके लिए पाप का कारण न होगा। अपनी शक्ति का उपयोग दूसरों पर अत्याचार करने के लिए नहीं, किन्तु दीन दुखी जनों की रक्षा के लिए कीजिए। शतानीक ने चन्दन-बाला की सारी बातें सिर झुका कर मान लीं।

इसके साथ साथ आप पुराने सब अपराधियों को क्षमा कर दीजिए। चाहे वह अपराध उन्होंने आपकी आज्ञा से किया हो या बिना आज्ञा के, किसी को दण्ड मत दीजिए। चन्दनबाला ने सब को अभय दान देने के उद्देश्य से कहा।

शतानीक ने उत्तर दिया—बेटी! मैं सभी को क्षमा करता हूँ किन्तु जिन अपराधियों ने कुलाङ्गनाओं का सतीत्व लूटा है, जिसके कारण आपकी माता को प्राण त्याग और आपको महान् कष्ट

सहन करने पड़े हैं, उन्हें क्षमा नहीं किया जा सकता। उनका अपराध अक्षम्य है।

चन्दनबाला ने कहा– जिस प्रकार आपका अपराध केवल पश्चात्ताप से शान्त हो गया इसी प्रकार दूसरे अपराधी भी पश्चात्ताप के द्वारा छुटकारा पा सकते हैं। अगर उनके अपराध को अक्षम्य समझ कर आप दण्ड देना आवश्यक समझते हैं तो आपका अपराध भी अक्षम्य है। दण्ड देने से वैर की वृद्धि होती है। इस प्रकार बँधा हुआ वैर जन्म जन्मान्तर तक चला करता है, इस लिए अब तक के सब अपराधियों को क्षमा कर दीजिए।

शतानीक साहस करके बोला– आप का कहना बिल्कुल ठीक है। मुझे भी दण्ड भोगना चाहिए। आप मेरे लिए कोई दण्ड निश्चित कर सकती हैं।

शतानीक को अपने अपराध के लिए दण्ड मांगते देख कर रथी का साहस बढ़ गया। वह सामने आकर कहने लगा– महाराज! धारिणी की मृत्यु और इस सती के कष्टों का कारण मैं ही हूँ। आप मुझे कठोर से कठोर दण्ड दीजिए जिससे मेरी आत्मा पवित्र बने।

रथी के इस कथन को सुन कर सभी लोग दंग रह गए, क्योंकि इस अपराध का दण्ड बहुत भयङ्कर था।

चन्दनबाला रथी के साहस को देख कर प्रसन्न होती हुई शतानीक से कहने लगी– पिताजी! अपराधी को दण्ड देने का उद्देश्य अपराध का बदला लेना नहीं होता किन्तु अपराधी के हृदय में उस अपराध के प्रति घृणा उत्पन्न करना होता है। बदला लेने की भावना से दण्ड देने वाला स्वयं अपराधी बन जाता है। अगर अपराधी के हृदय में अपराध के प्रति स्वयं घृणा उत्पन्न हो गई हो, वह उसके लिए पश्चात्ताप कर रहा हो और भविष्य में ऐसा न करने का निश्चय कर चुका हो तो फिर उसे दण्ड देने की आवश्यकता

नहीं रहती, इस लिए न आपको दण्ड लेने की आवश्यकता है न रथी पिता को। चन्दनबाला ने रथी के सुधरने का सारा वृत्तान्त सुनाया और राजा से कहा– मैं इनकी पुत्री हूँ। मेरे लिए ये, आप और सेठजी तीनों समान रूप से आदरणीय हैं। ये आपके भाई हैं।

शतानीक रथी के साहस पर आश्चर्य कर रहा था। चन्दनबाला के उपदेश ने उसमें क्रान्ति उत्पन्न कर दी। वह रथी के पास गया और उसे छाती से लगा कर कहने लगा– आज से तुम मेरे भाई हो। मैं तुम्हारे समस्त अपराध क्षमा करता हूँ।

राजा और एक अपराधी के इस भाईचारे को देख कर सारी जनता आनन्द से गद्गद् हो उठी।

शतानीक ने चन्दनबाला से फिर प्रार्थना की– बेटी! महल तो निर्जीव हैं, इस लिए उनमें किसी प्रकार का दोष नहीं हो सकता। दोष तो मुझ में था, उसी के कारण सारा वातावरण दूषित बना हुआ था। जब आपने मुझे पवित्र कर दिया तो महल अपने आप पवित्र होगए, इस लिए अब आप वहाँ पधारिए। आपके पधारने से वातावरण और पवित्र हो जाएगा।

चन्दनबाला ने सेठ से अनुमति लेकर जाना स्वीकार कर लिया। सेठ के आग्रह से राजा, रानी, रथी और रथी की स्त्री ने उसके घर भोजन किया। चन्दनबाला ने तेले का पारणा किया।

राजा, रानी, सेठ, सेठानी, रथी और रथी की स्त्री के साथ चन्दनबाला महल को रवाना हुई। नगर की सारी जनता सती का दर्शन करने के लिए उमड़ पड़ी। चन्दनबाला योग्य स्थान पर खड़ी रह कर जनता को उपदेश देती हुई राजद्वार पर आ पहुँची। चन्दनबाला के पहुँचते ही महलों में धार्मिक वातावरण छा गया। जहाँ पहले लूटमार और व्यभिचार की बातें होती थीं, वहाँ अब धर्मचर्चा होने लगी।

शतानीक अब दधिवाहन को अपना मित्र मानने लगा था। उसके प्रति किए गए अपराध से मुक्त होने के लिए चम्पा का राज्य उसे वापिस सौंपना चाहता था। उसने दधिवाहन को खोज कर सन्मानपूर्वक लाने के लिए आदमी भेजे।

शतानीक के आदमी खोजते हुए दधिवाहन के पास पहुँचे। उसे नम्रतापूर्वक सारा वृत्तान्त सुनाया। फिर शतानीक की ओर से चलने के लिए प्रार्थना की। धारिणी की मृत्यु सुन कर दधिवाहन को बहुत दुःख हुआ, साथ ही चन्दनबाला के आदर्श कार्यों से प्रसन्नता। वह वन में रह कर त्यागपूर्वक अपना जीवन बिताना चाहता था। राज्य के भार को दुबारा अपने ऊपर न लेना चाहता था फिर भी शतानीक के सामन्तों का बहुत आग्रह होने के कारण शतानीक द्वारा भेजे हुए वाहन पर बैठ कर वह कौशाम्बी की ओर चला।

राजा दधिवाहन का स्वागत करने के लिए कौशाम्बी को विविध प्रकार से सजाया गया। उनके आने का समाचार सुन कर हर्षित होता हुआ शतानीक अपने सामन्त सरदारों के साथ अगवानी करने के लिए सामने गया। समीप आने पर दोनों अपनी अपनी सवारी से उतर गए। शतानीक दधिवाहन के पैरों में गिर कर अपने अपराधों के लिए बार बार क्षमा मांगने लगा। दधिवाहन ने उसे उठा कर गले से लगाया और सारी घटनाओं को कर्मों की विडम्बना बता कर उसे शान्त किया। दोनों शत्रुओं में चिर काल के लिए प्रेम सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसमें शतानीक या दधिवाहन की विजय न थी किन्तु शत्रुता पर मित्रता की और पाप पर धर्म की विजय थी।

सती चन्दनबाला के पिता राजा दधिवाहन के आगमन की बात भी छिपी न रही। उनका दर्शन करने के लिए आई हुई जनता से सारा मार्ग भर गया। दधिवाहन और शतानीक को

एक साथ आते देख कर जनता जयनाद करने लगी।

महल में पहुँच कर शतानीक ने दधिवाहन को ऊँचे सिंहासन पर बैठाया। प्रसन्न होती हुई चन्दनबाला पिता से मिलने आई। पास आकर उसने विनय पूर्वक प्रणाम किया। चन्दनबाला को देखकर दधिवाहन गद्‌गद् हो उठा। कंठ रुँध जाने से वह एक भी शब्द न बोल सका। साथ में उसे लज्जा भी हुई कि जिस वसुमती को वह असहाय अवस्था में छोड़ कर चला गया था उसने अपने चरित्र बल से सब को सुधार दिया। धारिणी के प्राण त्याग और चन्दनबाला की दृढ़ता के सामने वह अपने को तुच्छ मानने लगा।

शतानीक को राज्य से घृणा हो गई थी, इस लिए उसने दधिवाहन से कहा– मैंने अब तक अन्यायपूर्ण राज्य किया है। न्याय से राज्य कैसे किया जाता है, यह मैं नहीं जानता, इस लिए आप चम्पा और कौशाम्बी दोनों राज्यों को सम्भालिए। मैं आपके नीचे रह कर प्रजा की सेवा करना सीखूँगा।

दधिवाहन ने उत्तर दिया– न्यायपूर्ण शासन करने के लिए हृदय पवित्र होना चाहिए। भावना के पवित्र होने पर ढंग अपने आप आ जाता है। मैं वृद्ध हो गया हूँ इस लिए दोनों राज्य आप ही सम्भालिए।

जिस राज्य के लिए घोर अत्याचार तथा महान् नरसंहार हुआ वही एक दूसरे पर इस प्रकार फैंका जा रहा था, जैसे दो खिलाड़ी परस्पर कन्दुक (गेंद) को फैंकते हैं। चन्दनबाला यह देख कर हर्षित हो रही थी कि धर्म की भावना किस प्रकार मनुष्य को राक्षस से देवता बना देती है।

अन्त में चन्दनबाला के कहने पर यह निर्णय हुआ कि दोनों को अपना अपना राज्य स्वयं सम्भालना चाहिए। दोनों राज्यों का भार किसी एक पर न पड़ना चाहिए।

बड़े समारोह के साथ दधिवाहन का राज्याभिषेक हुआ। दधिवाहन को दुबारा प्राप्त कर चम्पा की प्रजा को इतना हर्ष हुआ जितना बिछुड़े हुए पिता को पाकर पुत्र को होता है। कौशाम्बी और चम्पा दोनों राज्यों का स्थायी सम्बन्ध हो गया। किसी के हृदय में वैर और शत्रुता की भावना नहीं रही। सब जगह अखण्ड प्रेम और शान्ति स्थापित हो गई। सती चन्दनबाला ने चम्पा के उद्धार के साथ साथ सारे संसार के सामने प्रेम और सतीत्व का महान् आदर्श स्थापित कर दिया।

शतानीक और दधिवाहन में इतना प्रेम हो गया था कि उन दोनों में से कोई एक दूसरे से अलग होना नहीं चाहता था। चम्पा का अधिपति होने पर भी दधिवाहन प्रायः कौशाम्बी में ही रहने लगा। कुछ दिनों बाद उसे चन्दनबाला के विवाह की चिन्ता हुई। शतानीक और मृगावती ने भी चन्दनबाला का विवाहोत्सव देखने की इच्छा प्रकट की, फिर भी उससे बिना पूछे वे कुछ निश्चय नहीं कर सकते थे। एक दिन मृगावती ने दधिवाहन और शतानीक की उपस्थिति में चन्दनबाला के सामने विवाह का प्रस्ताव रक्खा। चन्दनबाला आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए पहले ही निश्चय कर चुकी थी। उसके मन में और भी उच्च भावनाएं थी। इस लिए उसने मृगावती के प्रस्ताव का नम्रतापूर्वक ऐसा विरोध किया जिससे उन तीनों में से कोई कुछ न बोल सका। सब सुख साधनों के होते हुए यौवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य पालन की कठोर प्रतिज्ञा का उन तीनों पर ऐसा असर पड़ा कि उन्होंने भी यावज्जीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया।

राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए चम्पा में रहना आवश्यक समझ कर कुछ दिनों बाद दधिवाहन चम्पा चला गया किन्तु चन्दनबाला कौशाम्बी में ही ठहर गई। भगवान् महावीर को

केवलज्ञान होने पर वह उनके पास दीक्षा लेना चाहती थी।

कुछ दिनों बाद वह अवसर उपस्थित हो गया जिसके लिए चन्दनबाला प्रतीक्षा कर रही थी। श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। संसार का कल्याण करने के लिए वे ग्रामानुग्राम विचरने लगे। चन्दनबाला को भी यह समाचार मिला। उसे इतना आनन्द हुआ जितना प्यासे चातक को वर्षा के आगमन पर होता है। शतानीक और मृगावती से आज्ञा लेकर वह भगवान् के पास दीक्षा लेने के लिए चली। कौशाम्बी की जनता ने आँखों में आँसू भर कर उसे विदा दी। चन्दनबाला ने सभी को भगवान् के बताए हुए मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। कौशाम्बी से रवाना होकर वह भगवान् के समवसरण में पहुँच गई। देशना के अन्त में उसने अपनी इच्छा प्रकट की। सांसारिक दुःखों से छुटकारा देने के लिए भगवान् से प्रार्थना की।

भगवान् ने चन्दनबाला को दीक्षा दी। स्त्रियों में सर्व प्रथम दीक्षा लेने वाली चन्दनबाला थी। उसी से साध्वी रूप तीर्थ का प्रारम्भ हुआ था, इस लिए भगवान् ने उसे साध्वी संघ की नेत्री बनाया।

यथासमय मृगावती ने भी दीक्षा ले ली। वह चन्दनबाला की शिष्या बनी। धीरे धीरे काली, महाकाली, सुकाली आदि रानियों ने भी चन्दनबाला के पास संयम अङ्गीकार कर लिया। छत्तीस हजार साध्वियों के संघ की मुख्या बन कर वह लोक कल्याण के लिए ग्रामानुग्राम विचरने लगी। उसके उपदेश से अनेक भव्य प्राणियों ने प्रतिबोध प्राप्त किया तथा श्रावक या साधु के व्रतों को अंगीकार कर जन्म सफल किया। बहुत लोग मिथ्यात्व को छोड़ कर सत्य धर्म पर श्रद्धा करने लगे।

एक बार श्रमण भगवान् महावीर विचरते हुए कौशाम्बी पधारे। चन्दनबाला का भी अपनी शिष्याओं के साथ वहीं आगमन हुआ।

एक दिन मृगावती अपनी गुरुआनी सती चन्दनबाला की आज्ञा लेकर भगवान् के दर्शनार्थ गई। वापिस लौटते समय रास्ते में भीड़ होने के कारण उसे बहुत देर खड़ी रहना पड़ा। इतने में रात हो गई। मृगावती अँधेरा होजाने पर उपाश्रय में पहुँची। वहाँ आकर उसने चन्दनबाला को वन्दना की। प्रवर्तिनी होने के कारण उसे उपालम्भ देते हुए चन्दनबाला ने कहा- साध्वियों को सूर्यास्त के बाद उपाश्रय के बाहर न रहना चाहिए।

मृगावती अपना दोष स्वीकार करके उसके लिए पश्चात्ताप करने लगी। समय होने पर चन्दनबाला तथा दूसरी साध्वियाँ अपने अपने स्थान पर सो गई, किन्तु मृगावती बैठी हुई पश्चात्ताप करती रही। धीरे धीरे उसके घाती कर्म नष्ट हो गए। उसे केवलज्ञान होगया।

अँधेरी रात थी। सब सतियाँ सोई हुई थीं। उसी समय मृगावती ने अपने ज्ञान द्वारा एक काला सांप देखा। चन्दनबाला का हाथ सांप के मार्ग में था। मृगावती ने उसे अलग कर दिया। हाथ के छूए जाने से चन्दनबाला की नींद खुल गई। पूछने पर मृगावती ने सांप की बात कह दी और निद्रा भंग करने के लिए क्षमा मांगी।

चन्दनबाला ने पूछा- अंधेरे में आपने सॉप को कैसे देख लिया?

मृगावती ने उत्तर दिया- आपकी कृपा से मेरे दोष नष्ट हो गए हैं, इस लिए ज्ञान की ज्योति प्रकट हुई है।

चन्दनबाला- पूर्ण या अपूर्ण?

मृगावती- आपकी कृपा होने पर अपूर्णता कैसे रह सकती है?

चन्दनबाला- तब तो आपको केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। बिना जाने मुझसे आपकी आशातना हुई है। मेरा अपराध क्षमा कीजिए।

चन्दनबाला ने मृगावती को वन्दना की। केवली की आशातना के लिए वह पश्चात्ताप करने लगी। उसी समय उसके घाती कर्म नष्ट हो गए। वह भी केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ

और सर्वदर्शी बन गई।

केवलज्ञानी होने के बाद सती चन्दनबाला और सती मृगावती विचर विचर कर जनता का कल्याण करने लगीं। सती चन्दनबाला की छत्तीस हजार साध्वियों में से एक हजार चार सौ साध्वियों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

आयुष्य पूरी होने पर एक हजार चार सौ साध्वियाँ शेष कर्मों को खपा कर शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गईं।

चन्दनबाला को धारिणी का उपदेश

शान्ति-समर में कभी भूल कर धैर्य नहीं खोना होगा।
वज्र-प्रहार भले हो सिर पर किन्तु नहीं रोना होगा॥
अरि से बदला लेने का, मन बीज नहीं बोना होगा।
घर में कान तूल देकर फिर तुझे नहीं सोना होगा॥
देश-दाग को रुधिर-वारि से हर्षित हो धोना होगा।
देश-कार्य की भारी गठड़ी सिर पर रख ढोना होगा॥
आँखें लाल, भवें टेढ़ी कर क्रोध नहीं करना होगा।
बलि-वेदी पर तुझे हर्ष से चढ़ कर कट मरना होगा॥
नश्वर है नर-देह, मौत से कभी नहीं डरना होगा।
सत्य-मार्ग को छोड़ स्वार्थ-पथ पर पैर नहीं धरना होगा॥
होगी निश्चय जीत धर्म की, यही भाव भरना होगा।
मातृभूमि के लिये, हर्ष से जीना या मरना होगा॥

(पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यानों में आए हुए सती चन्दनबाला चरित्र के आधार पर।)

(४) राजीमती

रघुवंश तथा यदुवंश भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के उत्पत्तिक्षेत्र थे। उन्हीं का वर्णन करके संस्कृत कवियों ने अपनी लेखनी को अमर बनाया। उन्हीं दो गिरिशृङ्गों से भारतीय साहित्य गंगा के दिव्य स्रोत बहे।

जिस प्रकार रघुवंश के साथ अयोध्या नगरी का अमर सम्बन्ध है उसी प्रकार यदुवंश के साथ द्वारिका नगरी का। रघुवंश में राम सरीखे महापुरुष और सीता सरीखी महासतियाँ हुई और यदुवंश का मस्तक भगवान् अरिष्टनेमि तथा महासती राजीमती सरीखी महान् आत्माओं के कारण गौरवोन्नत है।

उसी यदुवंश में अन्धकवृष्णि और भोजवृष्णि नाम के दो प्रतापी राजा हुए। अन्धकवृष्णि शौरिपुर में राज्य करते थे और भोजवृष्णि मथुरा में। महाराज अन्धकवृष्णि के समुद्रविजय, वसुदेव आदि दस पुत्र थे जिन्हें दशार्ह कहा जाता था। उनमें से सब से बड़े महाराज समुद्रविजय के पुत्र भगवान् अरिष्टनेमि हुए। इनकी माता का नाम शिवादेवी था। महाराज वसुदेव के पुत्र कृष्ण वासुदेव हुए। इनकी माता का नाम देवकी था। भोजवृष्णि के एक भाई मृत्तिकावती नगरी में राज्य करते थे। उनके पुत्र का नाम देवक था। देवकी इनकी पुत्री थी। भोजवृष्णि के पुत्र महाराज उग्रसेन हुए। उग्रसेन की रानी धारिणी के गर्भ से राजीमती का जन्म हुआ था। राजीमती रूप, गुण और शील सभी में अद्वितीय थी।

धीरे धीरे वह विवाह योग्य हुई। माता पिता को योग्य वर की चिन्ता हुई। वे चाहते थे, राजीमती जैसी सुशील तथा सुन्दर है उसके लिए वैसा ही वर खोजना चाहिए। इसके लिए उन्हें

नेमिकुमार के सिवाय कोई व्यक्ति उपयुक्त नहीं जान पड़ता था किन्तु नेमिकुमार विवाह ही न करना चाहते थे। बचपन से ही उन का मन संसार से विरक्त था। यादवों के भोगविलास उन्हें अच्छे न लगते थे। हिंसा पूर्ण कार्यों से स्वाभाविक अरुचि थी। इस कारण महाराज उग्रसेन को चिन्ता हो रही थी कि कहीं राजीमती का विवाह उसके अननुरूप वर से न करना पड़े।

महाराज समुद्रविजय और महारानी शिवा देवी भी नेमिकुमार का विवाहोत्सव देखने के लिये उत्कण्ठित थे किन्तु नेमिकुमार की स्वीकृति के बिना कुछ न कर सकते थे। एक दिन उन्होंने नेमि-कुमार से कहा– वत्स ! हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि आप तीर्थङ्कर होने वाले हैं। तीर्थङ्करों का जन्म जगत्कल्याण के लिये ही होता है। यह हर्ष की बात है कि आप के द्वारा मोह में फँसे हुए भव्य प्राणियों का उद्धार होगा। किन्तु आप से पहले भी बहुत से तीर्थङ्कर हो चुके हैं, उन्होंने विवाह किया था, राज्य किया था और फिर संसार त्याग कर मोक्ष मार्ग को अपनाया था। हम यह नहीं चाहते कि आप सारी उम्र गृहस्थ जीवन में फँसे रहें। हमारे चाहने से ऐसा हो भी नहीं सकता क्योंकि आप तीर्थङ्कर हैं। भव्य प्राणियों का उपकार करने के लिए उनके शुभ कर्मों से प्रेरित होकर आप अवश्य संसार का त्याग करेंगे। किन्तु यह कार्य आप विवाह के बाद भी कर सकते हैं। हमारी अन्तिम अभिलाषा है कि हमें आपका विवाहोत्सव देखने का अवसर प्राप्त हो। क्या माता पिता के इस सुख स्वप्न को आप पूरा न करेंगे ?

कुमार नेमिनाथ अपनी स्वाभाविक मुस्कान के साथ सिर नीचा किए माता पिता की बातें सुनते रहे। वे मन में सोच रहे थे कि संसार में कितना अज्ञान फैला हुआ है। भोले प्राणी अपनी सन्तान को विवाह बन्धन में डालने के लिए कितने उत्सुक रहते

हैं ? उसे ब्रह्मचर्य के उच्च आदर्श से गिराने में कितना सुख मानते हैं ? इनकी दृष्टि में ब्रह्मचर्य जीवन जीवन ही नहीं है। संसार में समझदार और बुद्धिमान् कहे जाने वाले मनुष्य भी ऐसे विचारों से घिरे हुए हैं। मेरे लिए इस विचारधारा में बह जाना श्रेयस्कर नहीं है। मैं दुनिया के सामने त्याग और ब्रह्मचर्य का उच्च आदर्श रखना चाहता हूँ किन्तु इस समय माता पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना या मान लेना दोनों मार्ग ठीक नहीं हैं। यह सोच कर उन्होंने बात को टालने के अभिप्राय से कहा– आप लोग धैर्य रक्खें। अभी विवाह का अवसर नहीं है। अवसर आने पर देखा जाएगा। समुद्रविजय और शिवादेवी इसके आगे कुछ न बोल सके। वे उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे जिस दिन कुमार नेमिनाथ दूल्हा बनेंगे। सिर पर मौर बाँध कर विवाह करने जावेंगे।

समुद्रविजय और शिवादेवी कुमार नेमिनाथ से विवाह की स्वीकृति लेने का प्रयत्न कई बार कर चुके थे किन्तु कुमार सदा टालमटोल कर दिया करते थे। अन्त में उन्होंने श्रीकृष्ण से सहायता लेने की बात सोची। एक दिन उन्हें बुला कर कहा- वत्स! तुम्हारे छोटे भाई अरिष्टनेमि पूर्ण युवक हो गए हैं। वे अभी तक अविवाहित ही हैं। हमने उन्हें कई बार समझाया किन्तु वे नहीं मानते। तीन खण्ड के अधिपति वासुदेव का भाई अविवाहित रहे यह शोभा नहीं देता। इस विषय में आप भी कुछ प्रयत्न कीजिए।

श्रीकृष्ण ने प्रयत्न करने का वचन देकर समुद्रविजय और शिवादेवी को सान्त्वना दी। इसके बाद वे अपने महल में आकर कोई उपाय सोचने लगे। उन्हें विचार में पड़ा देख कर सत्यभामा ने चिन्ता का कारण पूछा। विवाह सम्बन्धी बातों में स्त्रियाँ विशेष चतुर होती हैं, यह सोच कर श्रीकृष्ण ने सारी बात कह दी।

उन दिनों वसन्त ऋतु थी। वृक्ष नए फूल और पत्तों से लदे

थे। सुगन्धित समीर युवक हृदयों में मादकता का सञ्चार कर रहा था। सत्यभामा ने वसन्तोत्सव मनाकर उसी में श्रीनेमिकुमार से विवाह की स्वीकृति लेने का निश्चय किया।

रैवत गिरि अपनी प्राकृतिक सुषमा के लिए अनुपम है। उसी पर वसन्तोत्सव मनाने का निश्चय किया गया। धूमधाम से तैयारियाँ शुरू हुई। श्रीकृष्ण, बलदेव आदि सभी यादव अपनी पत्नियों के साथ रैवत गिरि पर चले। नेमिकुमार को भी श्रीकृष्ण ने आग्रहपूर्वक अपने साथ ले लिया। मार्ग में सत्यभामा वगैरह कृष्ण की रानियाँ नेमिकुमार से विविध प्रकार से मजाक करके उन्हें सांसारिक विषयों की ओर खींचने का निष्फल प्रयत्न कर रही थीं। नेमिकुमार के हृदय पर उन बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ रहा था। वे मन ही मन मोह की विडम्बना पर विचार कर रहे थे। रैवत गिरि पर पहुँच कर सभी स्त्री पुरुष वसन्तोत्सव मनाने लगे। विविध प्रकार की क्रीड़ा करती हुई कृष्ण की रानियाँ नेमिकुमार के सामने कामोत्तेजक चेष्टाएं करने लगीं। बीच बीच में वे पूछती जाती थीं–देवर जी! हमें आशा है अगले वसन्तोत्सव में आप भी पत्नीसहित होंगे। भगवान् नेमिनाथ उनकी चेष्टाओं और उक्तियों से विकृत होने वाले न थे। मोह में फँसे हुए प्राणियों की बातों पर मन ही मन विचार करते हुए उन्हें हँसी आ गई। कृष्ण की रानियों ने समझा, नेमिकुमार विवाह के लिए तैयार हो गए हैं। उसी समय यह प्रसिद्ध कर दिया गया कि नेमिकुमार ने विवाह करना मञ्जूर कर लिया है। वसन्तोत्सव पूरा हुआ। सभी यादव लौट आए। श्रीकृष्ण ने नेमिकुमार द्वारा विवाह की स्वीकृति का वृत्तान्त समुद्र विजय तथा शिवादेवी से कहा। उन्हें यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कृष्ण से फिर कहा– नेमिकुमार के लिए योग्य कन्या को ढूँढना भी आप ही का काम है, इसे भी आप ही पूरा कीजिए।

हम तो नेमिकुमार के विवाह का सारा भार आप पर डाल चुके हैं।

श्रीकृष्ण ने इस विषय में भी सत्यभामा से पूछा। राजीमती सत्यभामा की बहिन थी। उसकी दृष्टि में नेमिकुमार के लिए राजीमती के सिवाय कोई कन्या उपयुक्त न थी। राजीमती के लिए भी नेमिकुमार के सिवाय कोई योग्य वर न था। इसलिए सत्यभामा ने राजीमती के लिए प्रस्ताव रक्खा। श्रीकृष्ण, समुद्रविजय और शिवादेवी सभी को यह बात बहुत पसन्द आई।

राजीमती को माँगने के लिए स्वयं श्रीकृष्ण महाराजा उग्रसेन के पास गए। उन्होंने भी श्रीकृष्ण का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। महारानी धारिणी तथा राजीमती को भी इससे बहुत प्रसन्नता हुई। विवाह के लिये श्रावण शुक्ला षष्ठी का दिन निश्चित हुआ।

श्रीकृष्ण के लौटते ही महाराज समुद्रविजय ने विवाह की तैयारियाँ शुरू कर दीं। सभी यादवों को आमन्त्रण भेजे गए। द्वारिका नगरी को सजाया गया। जगह जगह बाजे बजने लगे। मंगल गीत गाए जाने लगे। महाराज उग्रसेन यादवों के विशाल परिवार और उनकी ऋद्धि से परिचित थे। बरात का सत्कार करने के लिए उन्होंने भी विशाल् आयोजन प्रारम्भ किया।

यादवों में उन दिनों मद्य और मांस का बहुत प्रचार था। बिना मांस के भोजन अधूरा समझा जाता था। उनका स्वागत करने के लिए मांस आवश्यक वस्तु थी। बरातियों के भोजन के लिए महाराज उग्रसेन ने भी अनेक पशु पक्षी एकत्रित किए। उन्हें विशाल बाड़े तथा पिंजरों में बन्द करके खिला पिला कर हृष्ट पुष्ट किया जाने लगा। मारे जाने वाले पशुओं का बाड़ा उसी रास्ते पर था जिधर से बरात आने वाली थी।

धीरे धीरे बरात के प्रस्थान का दिन आ गया। हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों की चतुरंगिणी सेना सजाई गई। यादवगण बहु

मूल्य वस्त्राभूषण पहिन कर अपने अपने वाहन पर सवार हुए। प्रस्थान समय के मंगलवाद्य बजने लगे। गायक मंगल गीत गाने लगे। भगवान् अरिष्टनेमि को दूल्हे के रूप में सजाया जाने लगा। उन्हें विविध प्रकार की औषधियों तथा दूसरे पदार्थों से युक्त सुगन्धित पानी से स्नान कराया गया। उज्ज्वल वेश और आभूषण पहनाए गए। वर के वेश में नेमिकुमार कामदेव के समान सुन्दर और सूर्य के समान तेजस्वी मालूम पड़ने लगे। उन्हें देख कर समुद्रविजय और शिवादेवी के हर्ष का पार न था।

नेमिकुमार के बैठने के लिए श्रीकृष्ण का प्रधान गन्ध हस्ती रत्नजटित आभूषणों से सजाया गया। अनेक मंगलोपचारों के साथ वे हाथी पर विराजे। उन पर छत्र सुशोभित हो गया। चँवर डुलाए जाने लगे।

बरात में सब से आगे चतुरंगिणी सेना बाजा बजाते हुए चल रही थी। उसके पीछे मंगल गायक और बन्दीजनों का समूह था। इसके बाद हाथी और घोड़ों पर प्रमुख अतिथि अर्थात् पाहुने सवार थे। उनके पीछे कुमार नेमिनाथ का हाथी था। दोनों ओर घोड़ों पर सवार अंगरक्षक थे। सब से पीछे समुद्रविजय, वसुदेव, श्रीकृष्ण आदि यादव नरेश और सेना थी। शुभमुहूर्त में मंगलाचार के बाद बरात ने प्रस्थान किया। झूमते हुए मतवाले हाथियों, हिनहिनाते हुए घोड़ों, गूँजते हुए नगारों और फहराते हुए झण्डों के साथ पृथ्वी को कम्पित करती हुई बरात मथुरा की ओर रवाना हुई।

जब बरात मथुरा के पास पहुँच गई, महाराज उग्रसेन अपने परिवार तथा सेना के साथ अगवानी (सामेला) करने के लिए आए।

राजीमती के हृदय में अपार हर्ष हो रहा था। सखियाँ उसका शृङ्गार कर रही थीं। वे उससे विविध प्रकार का मजाक कर रही थीं। इतने में राजीमती की दाहिनी आँख फड़कने लगी। साथ में

दूसरे दाहिने अङ्ग भी फड़कने शुरू हुए। मनुष्य को जितना अधिक हर्ष होता है वह विघ्नों के लिए उतना ही अधिक शङ्काशील रहता है। राजीमती के हृदय में भी किसी अज्ञात भय ने स्थान कर लिया। उसने अङ्ग फड़कने की बात सखियों से कही। सखियों ने कई प्रकार से समझाया किन्तु राजीमती के हृदय से सन्देह दूर न हुआ।

धन, शारीरिक बल या बुद्धि मात्र से कोई महापुरुष नहीं बनता। वास्तविक बड़प्पन का सम्बन्ध आत्मा से है। जिस व्यक्ति की आत्मा जितनी उन्नत तथा बलवान् है वह उतना ही बड़ा है। दूसरे के दुःखों को अपना दुःख समझना, प्राणी मात्र से मित्रता रखना, हृदय में सरलता तथा सहृदयता का वास होना महापुरुषों के लक्षण हैं। महापुरुष सांसारिक भोगों में नहीं फँसते।

भगवान् अरिष्टनेमि की बरात तोरणद्वार की ओर आ रही थी। धीरे धीरे उस बाड़े के सामने पहुँच गई जिसमें मारे जाने वाले पशु पक्षी बँधे थे। बन्धन में पड़ने के कारण वे विविध प्रकार से करुण क्रन्दन कर रहे थे। सारी बरात निकल गई किन्तु किसी का ध्यान उन दीन पशुओं की ओर न गया। सांसारिक भोगों में अन्धे बने हुए व्यक्ति दूसरे के सुख दुःख को नहीं देखते। अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए वे सारी दुनिया को भूल जाते हैं।

क्रमशः कुमार नेमिनाथ का हाथी बाड़े के सामने आया। पशुओं का विलाप सुन कर उनका हृदय करुणा से भर गया।

भगवान ने सारथी से पूछा– इन दीन पशुओं को बन्धन में क्यों डाला गया है ?

सारथी ने उत्तर दिया – प्रभो! ये सब महाराज उग्रसेन ने आप के विवाह में भोज देने के लिए इकट्ठे किए हैं। यादवों का भोजन मांस के बिना पूरा नहीं होता।

भगवान् ने आश्चर्यचकित होते हुए कहा– मेरे विवाह में मांस

भोजन ! जिह्वा की क्षणिक तृप्ति के लिए इतनी बड़ी हत्या ! मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए कितना अन्धा हो जाता है ? अपनी क्षणिक लालसा के लिए हजारों प्राणियों का जीवन लेते हुए भी नहीं हिचकता। भला इन दीन अनाथ पशुओं ने किसी का क्या बिगाड़ा है ? फिर इन्हें बन्धन में क्यों डाला जाय ? इनके प्राण क्यों लिए जायँ ? क्या मनुष्य को अपनी इच्छातृप्ति के लिए दूसरों के प्राण लेने का अधिकार है ? क्या यह न्याय है कि सबल निर्बल के प्राण ले ले ? क्या यह मानवता है ? नहीं, यह मानवता के नाम पर अत्याचार है। भयङ्कर अन्याय है। मेरा जीवन संसार में न्याय और सत्य की स्थापना के लिए है। फिर मैं अपने ही निमित्त से होने वाले इस अन्याय का अनुमोदन कैसे कर सकता हूँ ? मैं अहिंसाधर्म की प्ररूपणा करने वाला हूँ, फिर हिंसा को श्रेयस्कर कैसे मान सकता हूँ ?

भगवान् की इच्छा देख कर सारथी ने सभी प्राणियों को बन्धन मुक्त कर दिया। आनन्दित होते हुए पक्षी आकाश में उड़ गए। पशु वन की ओर भागे। भगवान् द्वारा अभयदान मिलने पर उन के हर्ष का पारावार न रहा।

भगवान् ने प्रसन्न होकर अपने बहुमूल्य आभूषण सारथी को पारितोषिक में दे दिए और कहा– सखे ! हाथी को वापिस ले चलो। जिसके लिए इस प्रकार का महारम्भ हो ऐसा विवाह मुझे पसन्द नहीं है। सारथी ने हाथी को वापिस मोड़ लिया। बरात बिना वर की हो गई। चारों ओर खलबली मच गई।

महल की खिड़की से राजीमती यह दृश्य देख रही थी। उसके हृदय की आशङ्का उत्तरोत्तर तीव्र हो रही थी। नेमिकुमार के हाथी को वापिस होते देख कर वह बेहोश होकर गिर पड़ी। दासियाँ और सखियाँ घबरा गईं।

नेमिकुमार का हाथी वापिस जा रहा था। कृष्ण वासुदेव महाराज समुद्रविजय तथा यदुवंश के सभी बड़े बड़े व्यक्ति उन्हें समझाने आए किन्तु कुमार नेमिनाथ अपने निश्चय पर अटल थे। वे सांसारिक भोग विलासों को छोड़ने का निश्चय कर चुके थे। उन्होंने मार्मिक शब्दों में कहना शुरू किया–

मुझे राजीमती से द्वेष नहीं है। जो व्यक्ति संसार के सभी प्राणियों को सुखी बनाना चाहता है वह एक राजीमती को दुःख में कैसे डाल सकता है। किन्तु मोह में पड़े हुए संसार के भोले प्राणी यह नहीं समझते कि वास्तविक सुख कहाँ है। क्षणिक भोगों के दास बन कर इन्द्रियविषयों के गुलाम होकर वे तुच्छ वासनाओं की तृप्ति में ही सुख मानते हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि ये ही इन्द्रिय विषय उनके लिए बन्धन स्वरूप हैं। परिणाम में बहुत दुःख देने वाले हैं।

संसार में दो प्रकार की वस्तुएं हैं– श्रेय और प्रेय। जो वस्तुएं इन्द्रियों और मन को प्रिय लगती हैं किन्तु परिणाम में दुःख देने वाली हैं वे प्रेय कही जाती हैं। जिनसे आत्मा का कल्याण होता है, इन्द्रियां और मन बाह्य विषयों की ओर जाने से रुक जाते हैं उन्हें श्रेय कहा जाता है। इन्द्रिय और मन के दास बने हुए भोले प्राणी प्रेय वस्तु को अपनाते हैं और अनन्त संसार में रुलते हैं। इस के विपरीत विवेकी पुरुष श्रेय वस्तु को अपनाते हैं और उसके द्वारा मोक्ष के नित्य सुख को प्राप्त करते हैं।

भगवान् अरिष्टनेमि की बातों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि एक हजार यादव संसार को बन्धन समझ कर उन्हीं के साथ दीक्षा लेने को तैयार होगए। श्रीकृष्ण और समुद्रविजय वगैरह प्रमुख यादव भी निरुत्तर होगए और उन्हें रोकने का प्रयत्न छोड़ कर अलग होगए। भगवान् नेमिनाथ सारी बरात को छोड़ कर अपने महल की ओर रवाना हुए।

भगवान् के जाते ही बरातियों की सारी उमंगें हवा हो गईं। सभी के चेहरे पर उदासी छा गई। चाँद के छिप जाने पर जो दशा रात्रि की होती है वही दशा नेमिनाथ के चले जाने पर बरात की हुई। महाराज उग्रसेन की दशा और भी विचित्र हो रही थी। उन्हें कुछ नहीं सूझ रहा था कि इस समय क्या करना चाहिए।

उस समय राजीमती के हृदय की दशा अवर्णनीय थी। नेमिकुमार के हाथी को अपने महल की ओर आते देख कर उसने सोचा था– मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ ! त्रिलोकपूज्य भगवान् स्वयं मुझे वरने के लिए आरहे हैं। मैं यादवों की कुलवधू बनूँगी। महाराजा समुद्रविजय और महारानी शिवादेवी मेरे श्वसुर और सास होंगे। मुझ से बढ़ कर सुखी संसार में कौन है ?

राजीमती अपने भावी सुखों की कल्पनाओं से मन ही मन खुश होरही थी, इतने में उसने नेमिकुमार को वापिस लौटते देखा। वह इस आघात को न सह सकी और मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। चेतना आते ही सारा दुःख बाहर उमड़ आया। वह अपना सर्वस्व नेमिकुमार के चरणों में अर्पित कर चुकी थी, उन्हें अपना आराध्य देव मान चुकी थी। जीवन नैया की पतवार उनके हाथों में सौंप चुकी थी। उनके विमुख होने पर वह अपने को सूनी सी, निराधार सी, नाविक रहित नौका सी मानने लगी। जिस प्रकार सूर्य और दिन का सतत सम्बन्ध है, राजीमती उसी प्रकार नेमिकुमार और अपने सम्बन्ध को मान चुकी थी। सूर्य के बिना दिन के समान नेमिकुमार के बिना वह अपना कोई अस्तित्व ही न समझती थी।

सखियाँ कहने लगीं– अभी कौनसा विवाह हो गया है ? उन से भी अच्छा कोई दूसरा वर मिल जाएगा।

राजीमती ने उत्तर दिया– विवाह क्या होता है ? क्या अग्नि प्रदक्षिणा देने से ही विवाह होता है ? मेरा विवाह तो उसी दिन

हो चुका जिस दिन मैंने अपने हृदय में नेमिकुमार को पति मान लिया। उस दिन से मैं उनकी हो चुकी। उनके सिवाय सभी पुरुष मेरे लिए पिता और भाई के समान हैं। कुमार स्वयं भी मुझे अपनी पत्नी बनाना स्वीकार करके ही यहाँ आए थे। मुझे इस बात का गौरव है कि उन्होंने मुझे अपनी पत्नी बनाने के योग्य समझा। संसार की सारी स्त्रियों को छोड़ कर मुझे ही यह सन्मान दिया।

यह भी मेरे लिए हर्ष की बात है कि वे संसार के प्राणियों को अभय दान देने के लिए ही वापिस गए हैं। अगर वे मुझे छोड़ कर किसी दूसरी कन्या से विवाह करने जाते तो मेरे लिए यह अपमान की बात होती किन्तु उन्होंने अपने उस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवाह बन्धन में पड़ना उचित नहीं समझा। यह तो मेरे लिए अभिमान की बात है कि मेरे पति संसार का कल्याण करने के लिए जा रहे हैं। दुःख केवल इतना ही है कि वे मुझे बिना दर्शन दिए चले गए। अगर विवाह हो जाने के बाद वे मुझे भी अपने साथ ले चलते और मुक्ति के मार्ग में अग्रसर होते हुए मुझे भी अपने साथ रखते तो कितना अच्छा होता। क्या मैं उनके पथ में बाधा डालती? किन्तु नेमिकुमार एक बार मुझे अपना चुके हैं। अपने चरणों में शरण दे चुके हैं। महापुरुष जिसे एक बार शरण दे देते हैं फिर उसे नहीं छोड़ते। नेमिकुमार भी मुझे कभी नहीं छोड़ सकते। संसार के प्राणियों को दुःख से छुड़ाने के लिए उन्होंने सभी भौतिक सुखों को छोड़ा है। ऐसी दशा में वे मुझे दुःख में कैसे छोड़ सकते हैं? मेरा अवश्य उद्धार करेंगे।

राजीमती में स्त्रीहृदय की कोमलता, महासती की पवित्रता और महापुरुषों सी वीरता का अपूर्व सम्मिश्रण था। उसकी विचार धारा कोमलता के साथ उठ कर दृढ़ता के रूप में परिणत हो गई। उसे पक्का विश्वास हो गया कि नेमिकुमार अवश्य आएंगे और

मेरा उद्धार करेंगे। भगवान् के गुणगान और उन्हीं के स्मरण में लीन रहती हुई वह उस दिन की प्रतीक्षा करने लगी।

भगवान् अरिष्टनेमि के छोटे भाई का नाम रथनेमि था। एक ही माता पिता के पुत्र होने पर भी उन दोनों के स्वभाव में महान अन्तर था। नेमिनाथ जिन वस्तुओं को तुच्छ समझते थे रथनेमि उन्हीं के लिए तरसते थे। इन्द्रियों को तृप्त करना, सांसारिक विषयों का सेवन करना तथा कामभोगों को भोगना ही वे अपने जीवन का ध्येय मानते थे।

उन्होंने राजीमती के सौन्दर्य और गुणों की प्रशंसा सुन रक्खी थी। वे चाहते थे कि राजीमती उन्हें ही प्राप्त हो किन्तु अरिष्टनेमि के साथ उसके विवाह का निश्चय हो जाने पर मन मसोस कर रह गए। अरिष्टनेमि विवाह नहीं करेंगे इस निश्चय को जान कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके हृदय में फिर आशा का संचार हुआ और राजीमती को प्राप्त करने का उपाय सोचने लगे।

इस कार्य के लिए रथनेमि ने एक दूती को राजीमती के पास भेजा। पुरस्कार के लोभ में पड़ कर दूती राजीमती के पास गई। एकान्त अवसर देख कर उसने रथनेमि की इच्छा राजीमती के सामने प्रकट की और विविध प्रकार से उसे सांसारिक सुखों की ओर आकृष्ट करके यह सम्बन्ध स्वीकार करने का आग्रह किया। उसने रथनेमि के सौन्दर्य, वीरता, रसिकता आदि गुणों की प्रशंसा की। विषयसुखों की रमणीयता का वर्णन किया और राजीमती से फिर कहा–आपको सब प्रकार के सुख प्राप्त हैं। शारीरिक सम्पत्ति है, लक्ष्मी है, प्रभुता है। रथनेमि सरीखे सुन्दर और सहृदय राज कुमार आपके दास बनने को तैयार हैं। मानव जीवन और सब प्रकार के सांसारिक सुखों को प्राप्त करके उन्हें व्यर्थ जाने देना बुद्धिमत्ता नहीं है। अतः इस प्रस्ताव को स्वीकार कीजिए और अनु-

मति देकर अपने और कुमार रथनेमि के जीवन को सुखमय बनाइए।

राजीमती को दूती की बात सुन कर आश्चर्य हुआ। दोनों भाइयों में इतना अन्तर देख कर वह चकित रह गई।

साधारण स्त्री होती तो दूती का प्रस्ताव मञ्जूर कर लेती या अनिच्छा होने पर अपना क्रोध दूती पर उतारती। उसे डाटती, फटकारती, दण्ड देने तक तैयार हो जाती। किन्तु राजीमती सती होने के साथ साथ बुद्धिमती भी थी। उसकी दृष्टि में पापी पर क्रुद्ध होने की अपेक्षा प्रयत्नपूर्वक उसे सन्मार्ग में लाना श्रेयस्कर था। उसने सोचा- दूती को फटकारने से सम्भव है बात बढ़ जाय और उससे रथनेमि के सन्मान में बट्टा लगे। रथनेमि कुलीन पुरुष हैं। इस समय कामान्ध होने पर भी समझाने से सुमार्ग पर लाए जा सकते हैं। यह सोच कर उसने दूती से कहा-रथनेमि के इस प्रस्ताव का उत्तर मैं उन्हें ही दूँगी। इस लिए तुम जाओ और उन्हें ही भेज दो। साथ में कह देना कि वे अपनी पसन्द के अनुसार किसी पेय वस्तु को लेते आवें।

यद्यपि राजीमती ने यह उत्तर दूसरे अभिप्राय से दिया था, किन्तु दूती ने उसे अपने प्रस्ताव की स्वीकृति ही समझा। वह प्रसन्न होती हुई रथनेमि के पास गई और सारी बातें सुना दीं। रथनेमि ने भी उसे प्रस्ताव की स्वीकृति ही समझा।

रथनेमि ने सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहने। बड़ी उमङ्गों के साथ पेय वस्तु तैयार कराई। रत्न खचित स्वर्ण थाल में कटोरा रख कर बहुमूल्य रेशमी वस्त्र से उसे ढक दिया। एक सेवक को साथ लेकर राजीमती के महल में पहुँचा। भावी सुखों की आशा में वह फूला न समाता था।

राजीमती ने रथनेमि का स्वागत किया। वह कहने लगी- आप का दर्शन करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। दूती ने आपकी जैसी

प्रशंसा की थी वे सभी गुण आप में मालूम पड़ रहे हैं। जब से उसने विवाह का प्रस्ताव रक्खा मैं आपकी प्रतीक्षा में थी।

राजीमती की बातें सुनते समय रथनेमि के हृदय में उत्तरोत्तर अधिक आशा का संचार हो रहा था। वह समझ रहा था राजीमती ने मुझे स्वीकार कर लिया है। उसने उत्तर दिया—

राजकुमारी! मैंने आपके सौन्दर्य और गुणों की प्रशंसा बहुत दिनों से सुन रक्खी थी। बहुत दिनों से मैंने आपको अपने हृदय की अधीश्वरी मान रक्खा था, किन्तु भाई के साथ आपके सम्बन्ध की बात सुन कर चुप होना पड़ा। मालूम पड़ता है मेरा भाग्य बहुत तेज है इसी लिए नेमिकुमार ने इस सम्बन्ध को नामञ्जूर कर दिया। निश्चय होने पर भी मैं एक बार आपके मुँह से स्वीकृति के शब्द सुनना चाहता हूँ, फिर विवाह में देर न होगी।

राजीमती मन ही मन सोच रही थी— कामान्ध व्यक्ति अपने सारे विवेक को खो बैठता है। ये बाह्य रूप पर आसक्त होकर ये अपने भाई के नाते को भी भूल रहे हैं। भगवान् के त्याग को ये अपना सौभाग्य मान रहे हैं। मोह की विडम्बना विचित्र है। इस के वश में पड़ कर मनुष्य भयङ्कर से भयङ्कर पाप करते हुए नहीं हिचकता। भगवान् के साथ मेरा विवाह हो जाने पर भी इनके हृदय से यह दुर्भावना दूर न होती और उसे पूर्ण करने के लिये ये किसी भी पाप से नहीं हिचकते।

राजीमती के कहने पर रथनेमि ने पेय वस्तु का कटोरा उसके सामने रख दिया और कहा— आपने बहुत ही तुच्छ वस्तु मँगवाई। मैं आपके लिये बड़ी से बड़ी वस्तु लाने के लिये तैयार हूँ।

राजीमती उस कटोरे को उठा कर पी गई साथ में पहले से पास रक्खी हुई उस दवा को भी खा गई जिसका प्रभाव तत्काल वमन था। कटोरे को पीते देख रथनेमि को पक्का विश्वास हो गया कि

राजीमती ने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है। वे मन ही मन बहुत खुश हो रहे थे। इतने में उन्होंने देखा कि राजीमती उसी कटोरे में वमन कर रही है। रथनेमि काँप उठे और आशङ्का करने लगे कि कहीं कटोरे में ऐसी वस्तु तो नहीं मिल गई जो हानिकारक हो।

वे इस प्रकार सोच ही रहे थे कि राजीमती ने वमन से भरा हुआ कटोरा उसके सामने किया और कहा– राजकुमार! लीजिए, इसे पी लीजिए।

वमन के कटोरे को देख कर रथनेमि पीछे हट गए। आँखें क्रोध से लाल हो गईं। ओठ फड़कने लगे। गरजते हुए कहने लगे– राजीमती! तुम्हें अपने रूप पर इतना घमण्ड है? किसी भद्र पुरुष को बुला कर तुम उसका अपमान करती हो? क्या मुझे कुत्ता या कौआ समझ रखा है जो वमन की हुई वस्तु पिलाना चाहती हो?

राजीमती ने उपदेश देने की इच्छा से कुमार को शान्त करते हुए कहा– राजकुमार! शान्ति रखिए। मैं आपके प्रेम की परीक्षा करना चाहती हूँ।

रथनेमि– क्या परीक्षा का यही उपाय है?

राजीमती– हाँ! यही उपाय है। यदि आप इसे पी जाते तो मैं समझती कि आप मुझे स्वीकार कर सकेंगे।

रथनेमि– क्या मैं वमा हुआ पदार्थ पी जाऊँ?

राजीमती– वमा हुआ पदार्थ है तो क्या हुआ? है तो वही जो आप लाए थे और जो आपको अत्यधिक प्रिय है। इसके रूप, रस या रंग में कोई फरक नहीं पड़ा है। केवल एक बार मेरे पेट तक जा कर निकल आया है।

रथनेमि– इससे क्या, है तो वमन ही?

राजीमती–मेरे साथ विवाह करने की इच्छा रखने वाले के लिए वमन पीना कठिन नहीं है।

रथनेमि– क्यों ?

राजीमती– जिस प्रकार यह पदार्थ मेरे द्वारा त्यागा हुआ है उसी प्रकार मैं आप के भाई द्वारा त्यागी हुई हूँ। जैसे मैं आप को प्रिय हूँ उसी प्रकार यह पदार्थ भी आप को बहुत प्रिय है। दोनों के समान होने पर भी इसे पीने वाले को आप कुत्ते या कौए के समान समझते हैं और मुझे अपनाते समय यह विचार नहीं करते।

राजीमती की युक्तिपूर्ण बातें सुन कर रथनेमि का सिर लज्जा से नीचे झुक गया। उसे मन ही मन पश्चात्ताप होने लगा।

राजीमती फिर कहने लगी – यादवकुमार! मेरे साथ विवाह का प्रस्ताव भेजते समय आपने यह विचार नहीं किया कि मैं आप के बड़े भाई की परित्यक्ता पत्नी हूँ। मोहवश आप मेरे साथ विवाह करने को तैयार हो गए। आप के बड़े भाई मेरा त्याग कर के चले गए इसे आपने अपना सौभाग्य माना। आप भी उन्हीं माता पिता के पुत्र हैं जिन के भगवान् स्वयं हैं, फिर सोचिए मोह ने आप को कितना नीचे गिरा दिया।

रथनेमि लज्जा से पृथ्वी में गड़े जा रहे थे। वे कहने लगे– राजकुमारी! मुझे अपने कार्य के लिए बहुत पश्चात्ताप हो रहा है। मेरा अपराध क्षमा कीजिए। आपने उपदेश देकर मेरी आँखें खोल दीं।

रथनेमि चुपचाप राजीमती के महल से चले आए। उन के हृदय में लज्जा और ग्लानि थी। सांसारिक विषयों से उन्हें विरक्ति हो गई थी। उन्होंने सांसारिक बन्धनों को छोड़ने का निश्चय कर लिया।

राजीमती का भगवान् अरिष्टनेमि के साथ लौकिक दृष्टि से विवाह नहीं हुआ था। अगर वह चाहती तो रथनेमि या किसी भी योग्य पुरुष से विवाह कर सकती थी। इस के लिए उसे लोक में निन्दा का पात्र न बनना पड़ता फिर भी उसने किसी दूसरे पुरुष से विवाह नहीं किया। जीवन पर्यन्त कुमारी रहना स्वीकार कर

लिया, उसे ही अपना पति माना।

भगवान् अरिष्टनेमि तोरण द्वार से लौट कर अपने महल में चले आए। उसी समय तीर्थङ्करों की मर्यादा के अनुसार लोकान्तिक देव उन्हें चेताने के लिए आए और सेवा में उपस्थित होकर कहने लगे–प्रभो! संसार में पाप बहुत बढ़ गया है। लोग विषय वासनाओं में लिप्त रहने लगे हैं। बलवान् प्राणी दुर्बलों को सता रहे हैं। जनता को हिंसा, स्वार्थ, विषयवासना आदि पाप प्रिय मालूम पड़ने लगे हैं। इस लिए प्रभो! धर्मतीर्थ की प्रवर्तना कीजिये जिससे प्राणियों को सच्चे सुख का मार्ग प्राप्त हो और पृथ्वी पर पाप का भार हल्का हो। भव्य प्राणी अपने कल्याण के लिए आप की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

लोकान्तिक देवो की प्रार्थना सुन कर भगवान् ने वार्षिक दान देना प्रारम्भ कर दिया।

रथनेमि को भी संसार से विरक्ति हो गई थी। भगवान् के साथ दीक्षा लेने की इच्छा से वे भगवान के दीक्षादिवस की प्रतीक्षा करने लगे। दूसरे यादव भी जो भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो कर संसार छोड़ने को तैयार हो गए थे वे भी उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे।

महाराजा उग्रसेन को जब यह मालूम पड़ा कि अरिष्टनेमि वार्षिक दान दे रहे हैं और उसके अन्त में दीक्षा ले लेंगे तो उन्होंने राजीमती का विवाह किसी दूसरे पुरुष से करने का विचार किया। इस के लिए राजीमती की स्वीकृति लेना आवश्यक था।

इस लिए महाराज उग्रसेन रानी के साथ राजीमती के पास गए। वे कहने लगे– बेटी! अब तुम्हें अरिष्टनेमि का ध्यान हृदय से निकाल देना चाहिए। उन्होंने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया है। यह अच्छा ही हुआ कि विवाह होने के पहले ही वे वापिस चले

गए। विवाह के बाद तुम्हें त्याग देते या दीक्षा ले लेते तो सारे जीवन दुःख उठाना पड़ता। अब हम तुम्हारा विवाह किसी दूसरे राजकुमार से करना चाहते हैं। इस में नीति, धर्म या समाज की ओर से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। तुम्हारी क्या इच्छा है?

राजीमती- पिताजी! मेरा विवाह तो हो चुका है। हृदय से किसी को पति रूप में या पत्नीरूप में स्वीकार कर लेना ही विवाह है। उसके लिए बाह्य दिखावे की आवश्यकता नहीं है। बाह्य क्रियाएं केवल लोगों को दिखाने के लिए होती हैं। असली विवाह हृदय का सम्बन्ध है। मैं इस विवाह को कर चुकी हूँ। आर्य कन्या को आप दुबारा विवाह करने के लिये क्यों कह रहे हैं?

माता- बेटी! हम तुम्हें दूसरे विवाह के लिए नहीं कह रहे हैं। विवाह एक लौकिक प्रथा है और जब तक वह पूरी नहीं हो जाती, कन्या और वर दोनों अविवाहित माने जाते हैं, दुनिया उन्हें अविवाहित ही कहती है, इसी लिए तुम अविवाहिता हो।

राजीमती- दुनिया कुछ भी कहे। लौकिक रीति रिवाज भले ही मुझे विवाहिता न मानते हों किन्तु मेरा हृदय तो मानता है। मेरी अन्तरात्मा मुझे विवाहिता कह रही है। सांसारिक सुखों के प्रलोभन में पड़ कर अन्तरात्मा की उपेक्षा करना उचित नहीं है। मेरा न्याय मेरी अन्तरात्मा करती है, दुनिया की बातें नहीं।

माता- कुमार अरिष्टनेमि तोरण द्वार से लौट गए। उन्होंने तुम्हें अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं किया। फिर तुम अपने को उनकी पत्नी कैसे मानती हो?

राजीमती- मेरा निर्णय भगवान् अरिष्टनेमि के निर्णय पर अवलम्बित नहीं है। उन्होंने अपना निर्णय अपनी इच्छानुसार किया है। वे चाहे मुझे अपनी पत्नी समझें या न समझें किन्तु मैं उन्हें एक बार अपना पति मान चुकी हूँ। मेरे हृदय में अब दूसरे

पुरुष के लिए स्थान नहीं है। दूसरे के विचारों पर अपने हृदय को डावाँडोल करना कायरता है।

माता– नेमिकुमार (अरिष्टनेमि) तो दीक्षा लेंगे। क्या उन के पीछे तुम भी ऐसी ही रह जाओगी?

राजीमती– माता जी! जब वे दीक्षा लेंगे तो मैं भी उन के मार्ग पर चलूँगी। पति कठोर संयम का पालन करे तो पत्नी को भोग-विलासों में पड़े रहना शोभा नहीं देता। जिस प्रकार वे काम क्रोध आदि आत्मा के शत्रुओं को जीतेंगे उसी प्रकार मैं भी उन पर विजय प्राप्त करूँगी।

राजीमती के उत्तर के सामने माता पिता कुछ न कह सके। वे राजीमती की सखियों को उसे समझाने के लिए कह कर चले गए।

सखियों ने राजीमती को समझाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु वह अपने निश्चय पर अटल थी। उसका हृदय, उसकी बुद्धि, उसकी वाणी तथा उसके प्रत्येक रोम में नेमिकुमार समा चुके थे। वह उन के प्रेम में ऐसी रंग गई थी, जिस पर दूसरा रंग चढ़ना असम्भव था। वह दिन रात उन के स्मरण में रहती हुई वैरागिन की तरह समय बिताने लगी।

सती स्त्रियाँ अपने जीवन को पति के जीवन में, अपने अस्तित्व को पति के अस्तित्व में तथा अपने सुख को पति के सुख में मिला देती हैं। उनका प्रेम सच्चा प्रेम होता है। उस में वासना की मुख्यता नहीं रहती। राजीमती के प्रेम में तो वासना की गन्ध भी न थी। उसे नेमिकुमार द्वारा किसी सांसारिक सुख की प्राप्ति नहीं हुई थी, न भविष्य में प्राप्त होने की आशा थी फिर भी वह उनके प्रेम की मतवाली थी। वह अपनी आत्मा को भगवान् अरिष्टनेमि की आत्मा से मिला देना चाहती थी। शारीरिक सम्बन्ध की उसे परवाह न थी।

शुद्ध प्रेम मनुष्य को ऊँचा उठाता है। एक व्यक्ति से शुरू हो

कर वह विश्वप्रेम में बदल जाता है। इसके विपरीत जिस प्रेम में स्वार्थ या वासना है वह उत्तरोत्तर संकुचित होता जाता है और अन्त में स्वार्थ या वासना की पूर्ति न होते देख समाप्त हो जाता है। इस का असली नाम मोह है। मोह अन्धकारमय है और प्रेम प्रकाशमय। मोह का परिणाम दुःख और अज्ञान है, प्रेम का सुख और ज्ञान।

राजीमती के हृदय में शुद्ध प्रेम था। इस लिए भगवान् की आत्मा के साथ वह भी अपनी आत्मा को ऊँची उठाने का प्रयत्न कर रही थी। भगवान् के समान अपने प्रेम को बढ़ाते हुए विश्व-प्रेम में बदल रही थी।

धीरे धीरे एक वर्ष पूरा हो गया। भगवान् अरिष्टनेमि का वार्षिकदान समाप्त हुआ। इन्द्र आदि देव दीक्षामहोत्सव मनाने के लिये आए। श्रीकृष्ण तथा दूसरे यादवों ने भी खूब तैयारियाँ कीं। अन्त में श्रावण शुक्ला षष्ठी को भगवान् अरिष्टनेमि ने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। जो दिन एक साल पहले उनके विवाह का था, वही आज संसार के सभी सम्बन्धों को छोड़ने का दिन बन गया। नेमिकुमार ने राजवैभव को छोड़ कर वन का रास्ता लिया। उनके साथ रथनेमि तथा दूसरे यादव कुमार भी दीक्षित हो गए।

भगवान् अरिष्टनेमि की दीक्षा का समाचार राजीमती को भी मालूम पड़ा। समाचार सुन कर वह विचार में पड़ गई कि अब मुझे क्या करना चाहिए। इस प्रकार विचार करते करते उसे जातिस्मरण हो गया। उसे मालूम पड़ा कि मेरा और भगवान् का प्रेम सम्बन्ध पिछले आठ भवों से चला आ रहा है। इस नवें भव में भगवान् का संयम अङ्गीकार करने का निश्चय पहले से था। मुझे प्रतिबोध देने की इच्छा से ही उन्होंने विवाह का आयोजन स्वीकार कर लिया था। अब मुझे भी शीघ्र संयम अङ्गीकार करके

उनका अनुसरण करना चाहिए। इस निश्चय पर पहुँचने से उसके मुख पर प्रसन्नता छा गई। उसके हृदय का सारा खेद मिट गया।

राजीमती की माता उस समय फिर समझाने आई। राजीमती के दीक्षा लेने के निश्चय को जान कर उसने कहा– बेटी! संयम को पालना सरल नहीं है। बड़े बड़े योद्धा भी इस के पालन करने में समर्थ नहीं होते। सरदी और गरमी में नंगे पाँव घूमना, भिक्षा में रूखा सूखा जैसा आहार मिल जाय उसी पर सन्तोष करना, भयङ्कर कष्ट पड़ने पर भी मन में क्रोध या ग्लानि न आने देना, शत्रु और मित्र सभी पर समभाव रखना, मानसिक विचारों पर विजय प्राप्त करना सरल नहीं है। तुम्हारे सरीखी महलों में पली हुई कन्या उन्हें नहीं पाल सकती। बेटी! तुम्हें अपना निर्णय समझ कर करना चाहिए।

राजीमती ने उत्तर दिया– माताजी! मैं अच्छी तरह सोच चुकी हूँ। संयमी जीवन के कष्टों का भी मुझे पूरा ज्ञान है किन्तु पति के मार्ग पर चलने में मुझे सुख ही मालूम पड़ता है। उनके बिना इस अवस्था में मुझे दुःख ही दुःख है। मेरे लिए केवल संयम ही सुख का मार्ग है, इस लिए आप दूसरी बातों को छोड़ कर मुझे दीक्षा अंगीकार करने की अनुमति दीजिए।

राजीमती की माता को विश्वास हो गया कि राजीमती अपने निश्चय पर अटल है। उसने सारी बातें महाराज उग्रसेन को कहीं। अन्त में यही निर्णय किया कि राजीमती को उसकी इच्छानुसार चलने देना चाहिए। उसके मार्ग में बाधा डाल कर उसकी आत्मा को दुखी न करना चाहिए।

राजीमती ने अपने उपदेश से बहुत सी सखियों तथा दूसरी महिलाओं में भी वैराग्य भावना भर दी। सात सौ स्त्रियाँ उसके साथ दीक्षा लेने को तैयार हो गईं।

भगवान् अरिष्टनेमि को केवलज्ञान होते ही राजीमती ने सात सौ सखियों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। महाराज उग्रसेन तथा श्रीकृष्ण ने उसका निष्क्रमण (दीक्षा या संसार त्याग) महोत्सव मनाया। राजकुमारी राजीमती साध्वी राजीमती बन गई। श्रीकृष्ण तथा सभी यादवों ने उसे वन्दना की। अपनी शिष्याओं सहित राजीमती तप संयम की आराधना तथा जनकल्याण करती हुई विचरने लगी। थोड़े ही समय में वह बहुश्रुत हो गई।

राजीमती के हृदय में भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शन करने की पहले से ही प्रबल उत्कण्ठा थी। दीक्षा लेने के पश्चात् वह और बढ़ गई। उन दिनों भगवान् गिरिनार पर्वत पर विराजते थे। महासती राजीमती अपनी शिष्याओं के साथ विहार करती हुई गिरिनार के पास आ पहुँची और उल्लास पूर्वक ऊपर चढ़ने लगी। मार्ग में जोर से आँधी चलने लगी, साथ मे पानी भी बरसने लगा। काली घटाओं के कारण अन्धेरा छा गया। पास खड़े वृक्ष भी दिखाई देने बन्द हो गए। साध्वी राजीमती उस बवण्डर में पड़ कर अकेली रह गई। सभी साध्वियों का साथ छूट गया। वर्षा के कारण उसके कपड़े भीग गए।

धीरे धीरे आँधी का जोर कम हुआ। वर्षा थम गई। राजीमती को एक गुफा दिखाई दी। कपड़े सुखाने के विचार से वह उसी में चली गई। गुफा को निर्जन समझ कर उसने कपड़े उतारे और सुखाने के लिए फैला दिए।

उसी गुफा में रथनेमि धर्मचिन्तन कर रहे थे। अंधेरा होने के कारण वे राजीमती को दिखाई नहीं दिए। रथनेमि की दृष्टि राजीमती के नग्न शरीर पर पड़ी। उनके हृदय में कामवासना जागृत हो गई। एकान्त स्थान, वर्षा का समय, सामने वस्त्र रहित सुन्दरी, ऐसी अवस्था में रथनेमि अपने को न सम्भाल सके। अपने अभिप्राय

को प्रकट करने के लिए वे विविध प्रकार से कुचेष्टाएं करने लगे।

राजीमती को पता चल गया कि गुफा में कोई पुरुष है और वह बुरी चेष्टाएं कर रहा है। वह डर गई कि कहीं यह पुरुष बल प्रयोग न करे। ऐसे समय में शील की रक्षा का प्रश्न उसके सामने बहुत विकट था। थोड़ी सी देर में उसने अपने कर्तव्य का निश्चय कर लिया। उसने सोचा - मैं वीरबाला हूँ। हँसते हुए प्राणों पर खेल सकती हूँ। फिर मुझे क्या डर है? मनुष्य तो क्या देव भी मेरे शील का भंग नहीं कर सकते। वस्त्र पहिनने में विलम्ब करना उचित न समझ कर वह मर्कटासन लगा कर बैठ गई। जिससे कामातुर व्यक्ति उस पर शीघ्र हमला न कर सके।

अँधेरे के कारण रथनेमि राजीमती को दिखाई न दे रहे थे। राजीमती कुछ प्रकाश में थी इस कारण रथनेमि को स्पष्ट दिखाई दे रही थी। उन्होंने राजीमती को पहिचान लिया और चेहरे की भावभङ्गी से जान लिया कि राजीमती भयभीत हो गई है। वे अपने स्थान से उठ कर राजीमती के पास आए और कहने लगे- राजीमती! डरो मत। मैं तुम्हारा प्रेमी रथनेमि हूँ। मेरे द्वारा तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न होगा। भय और लज्जा को छोड़ दो। आओ हम तुम मनुष्योचित सुख भोगें। यह स्थान एकान्त है, कोई देखने वाला नहीं है। दुर्लभ नरजन्म को पाकर भी सुखों से वञ्चित रहना मूर्खता है।

रथनेमि के शब्द सुन कर राजीमती का भय कुछ कम हो गया। उसने सोचा- रथनेमि कुलीन पुरुष हैं इस लिए समझाने पर मान जाएंगे। उसने मर्कटासन त्याग कर कपड़े पहिनना शुरू किया। रथनेमि कामुक बन कर राजीमती से विविध प्रकार की प्रार्थनाएं कर रहे थे और राजीमती कपड़े पहिन रही थी। कपड़े पहिन लेने पर उसने कहा- रथनेमि अनगार! आपने मुनिव्रत अङ्गीकार किया है। फिर आप कामुक तथा पतित लोगों के समान

कैसी बातें कर रहे हैं ?

रथनेमि– साधु होने पर भी इस समय मुझे तुम्हारे सिवाय कुछ नहीं सूझ रहा है। तुम्हारे रूप पर आसक्त होकर मैं सारा ज्ञान, ध्यान भूल गया हूँ।

राजीमती– आपको अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहना चाहिए। क्या आप भूल गए कि आपने संयम अङ्गीकार करते समय क्या प्रतिज्ञाएं की थी ?

रथनेमि–मुझे वे प्रतिज्ञाएं याद हैं,किन्तु यहाँ कौन देख रहा है ?

राजीमती– जिसे दूसरा कोई न देखे क्या वह पाप नहीं होता ? अपनी अन्तरात्मा से पूछिए। क्या छिप कर पाप करने वाला पतित नहीं माना जाता ?

मायावी होने के कारण वह तो खुल्लमखुल्ला पाप करने वाले से भी अधिक पातकी है।

रथनेमि– अगर छिप कर ऐसा करना तुम्हें पसन्द नहीं है तो आओ हम दोनों विवाह करलें और संसार का आनन्द उठाएं। वृद्धावस्था आने पर फिर दीक्षा ले लेंगे।

राजीमती– आपने उस समय स्वयं लाए हुए पेय पदार्थ को क्यों नहीं पिया था ?

रथनेमि– वह तुम्हारा वमन किया हुआ था।

राजीमती– यदि आप ही का वमन होता तो आप पी जाते ?

रथनेमि–यह कैसे हो सकता है,क्या वमन को भी कोई पीता है ?

राजीमती– तो आप कामभोगों को छोड़ कर (उनका वमन करके) फिर स्वीकार करने के लिये कैसे तैयार हो रहे हैं ?

रथनेमि कुमार ! आप अन्धकवृष्णि के पौत्र, महाराजा समुद्र विजय के पुत्र, धर्मचक्रवर्ती तीर्थङ्कर भगवान् अरिष्टनेमि के भाई हैं। त्यागे हुए को फिर स्वीकार करने की इच्छा आपके लिये लज्जा

की बात है।

पक्खन्दे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छन्ति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे॥

अर्थात्– अगन्धन कुल में पैदा हुए साँप जाज्वल्यमान प्रचण्ड अग्नि में गिर कर भस्म हो जाते हैं किन्तु उगले हुए विष को पीना पसन्द नहीं करते।

आप तो मनुष्य हैं, महापुरुषों के कुल में आपका जन्म हुआ है फिर यह दुर्भावना कहाँ से आई?

आपने संसार छोड़ा है। मैंने भी विषयवासना छोड़ कर महाव्रत अङ्गीकार किये हैं। आप और भगवान् दोनों एक कुल के हैं। दोनों ने एक ही माता के पेट से जन्म लिया है फिर भी आप दोनों में कितना अन्तर है। जरा अपनी आत्मा की तरफ ध्यान दीजिए। चर्मचक्षुओं के बजाय आभ्यन्तर नेत्रों से देखिए। जो शरीर आपको सुन्दर दिखाई दे रहा है, उसके अन्दर रुधिर, माँस, चर्बी, विष्ठा आदि अशुचि पदार्थ भरे हुए हैं। क्या ऐसी अपवित्र वस्तु पर भी आप आसक्त हो गये हैं? यदि आप सरीखे मुनिवर भी इस प्रकार डाँवा-डोल होने लगेंगे तो दूसरों का क्या हाल होगा? जरा विचार कर देखिए कि आपके मुख में क्या ऐसी बातें शोभा देती हैं? अपने कृत्य पर पश्चात्ताप कीजिए। भविष्य के लिए संयम में दृढ़ रहने का निश्चय कीजिए। तभी आपकी आत्मा का कल्याण हो सकेगा।

रथनेमि का मस्तक राजीमती के सामने लज्जा से झुक गया। उन्हें अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होने लगा। अपने अपराध के लिए वे राजीमती से बार बार क्षमा माँगने लगे।

राजीमती ने कहा– रथनेमि मुनिवर! क्षमा अपनी आत्मा से माँगिए। पाप करने वाला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को इतना नुकसान नहीं पहुँचाता जितना अपनी आत्मा को पतित बनाता है। इस लिए

अधिक हानि आपकी ही हुई है। उसके लिए पश्चात्ताप करके आत्मा को शुद्ध बनाइए। पश्चात्ताप की आग में पाप कर्म भस्म हो जाते हैं। भविष्य के लिए पाप से बचने की प्रतिज्ञा कीजिए। अपने मन को शुभध्यान में लगाए रखिए जिससे आत्मा का उत्तरोत्तर विकास होता जाय।

तीसे सो वयणं सुच्चा, सजईए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपडिवाइओ॥

अर्थात्– जिस प्रकार अंकुश द्वारा हाथी ठिकाने पर आ जाता है उसी प्रकार सती राजीमती द्वारा कहे हुए हित वचनों को सुन कर रथनेमि धर्म में स्थिर हो गये।

रथनेमि ने भविष्य के लिए संयम में दृढ़ रहने की प्रतिज्ञा की। राजीमती ने उसे संयम के लिए फिर प्रोत्साहित किया और गुफा से निकल कर अपना रास्ता लिया। आगे चल कर उसे दूसरी साध्वियाँ भी मिल गईं। सब के साथ वह पहाड़ पर चढ़ने लगी।

धीरे धीरे सभी साध्वियाँ भगवान् अरिष्टनेमि के पास जा पहुँची। राजीमती की चिर अभिलाषा पूर्ण हुई। आनन्द से उस का हृदय गद्गद् हो उठा। उसने भगवान् के दर्शन किए। उपदेश सुना। आत्मा को सफल बनाया। भगवान् के उपदेशानुसार कठोर तप और संयम की आराधना करने लगी। फल स्वरूप उसके सभी कर्म शीघ्र नष्ट हो गए। भगवान् के मोक्ष पधारने से चौपन दिन पहले वह सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गई।

वासना रहित सच्चा प्रेम, पूर्ण ब्रह्मचर्य, कठोर संयम, उग्र तपस्या अनुपम पतिभक्ति तथा गिरते हुए को स्थिर करने के लिए राजीमती का आदर्श सदा जाज्वल्यमान रहेगा।

(पूज्य श्रीजवाहरलालजी महाराज के व्याख्यान में आये हुए राजीमती चरित्र के आधार पर)

(५) द्रौपदी

प्राचीन काल में चम्पा नाम की नगरी थी। उसके बाहर उत्तर पूर्व दिशा अर्थात् ईशान कोण में सुभूमिभाग नाम का उद्यान था।

चम्पा नगरी में तीन ब्राह्मण रहते थे– सोम, सोमदत्त और सोमभूति। वे तीनों भाई भाई थे। तीनों धनाढ्य, वेदों के जानकार तथा शास्त्रों में प्रवीण थे। तीनों के क्रमशः नागश्री, भूतश्री और यक्षश्री नाम वाली तीन भार्याएं थीं। तीनों सुकोमल तथा उन ब्राह्मणों को अत्यन्त प्रिय थीं। मनुष्य सम्बन्धी भोगों को यथेष्ट भोगती हुई कालयापन कर रही थीं।

एक बार तीनों भाइयों ने विचार किया– हम लोगों के पास बहुत धन है। सात पीढ़ी तक भी यदि हम बहुत दान करें तथा बहुत बाँटें तब भी समाप्त नहीं होगा, इस लिए प्रत्येक को बारी बारी से विपुल अशन पान आदि तैयार कराने चाहिए और सभी को वहीं एक साथ भोजन करना चाहिए। यह सोच कर वे सब बारी बारी से प्रत्येक के घर भोजन करते हुए आनन्द पूर्वक रहने लगे।

एक बार नागश्री के घर भोजन की बारी आई। उसने विपुल अशन पान आदि तैयार किए। शरद् ऋतु सम्बन्धी अलाबु (तुम्बा या घीया) का तज, इलायची वगैरह कई प्रकार के मसाले डाल कर शाक बनाया। तैयार हो जाने पर नागश्री ने एक बूँद हाथ में लेकर उसे चखा। वह उसे खारा, कड़वा, अखाद्य और अभक्ष्य मालूम पड़ा। नागश्री बहुत पश्चात्ताप करने लगी। कड़वे शाक को कोने में रख कर उसने मीठे अलाबु (तुम्बा या घीया) का शाक बनाया। सभी ने भोजन किया और अपने अपने कार्य में प्रवृत्त हो गए।

उन दिनों धर्मघोष नाम के स्थविर मुनि अपने शिष्य परिवार

सहित विहार करते हुए चम्पानगरी के सुभूमिभाग नामक उद्यान में पधारे। उन्हें वन्दना करने के लिए नगरी के बहुत से लोग गए। मुनि ने धर्मोपदेश दिया। व्याख्यान के बाद सभी लोग अपने अपने स्थान पर चले आए।

धर्मघोष स्थविर के शिष्य धर्मरुचि अनगार मास मास खमण की तपस्या करते हुए विचर रहे थे। मासखमण के पारने के दिन धर्मरुचि अनगार ने पहिली पोरिसी में स्वाध्याय किया। दूसरी में ध्यान किया। फिर तीसरी पोरिसी में पात्र वगैरह की पडिलेहणा करके धर्मघोष स्थविर की आज्ञा ली। चम्पा नगरी में आहार के लिए उच्च नीच कुलों में घूमते हुए वे नागश्री के घर पहुँचे। नागश्री उन्हें देख कर खड़ी हुई और रसोई में जाकर वही कड़वे तुम्बे का शाक उठा लाई। उसे धर्मरुचि अनगार के पात्र में डाल दिया।

पर्याप्त आहार आया जान कर धर्मरुचि अनगार नागश्री ब्राह्मणी के घर से निकल कर उपाश्रय में आए। आहार का पात्र हाथ में लेकर गुरु को बताया। धर्मघोष स्थविर को तुम्बे की गन्ध बुरी लगी। शाक की एक बूंद हाथ में ले कर उन्होंने उसे चखा तो बहुत कड़वा तथा अभक्ष्य मालूम पड़ा। उन्होंने धर्मरुचि अनगार से कहा–हे देवानुप्रिय! कड़वे तुम्बे के इस शाक का यदि तुम आहार करोगे तो अकालमृत्यु प्राप्त करोगे। इस लिए इस शाक को किसी एकान्त तथा जीव जन्तुओं से रहित स्थण्डिल में परठ आओ। दूसरा एषणीय आहार लाकर पारना करो।

धर्मरुचि अनगार गुरु की आज्ञा से सुभूमिभाग नामक उद्यान से कुछ दूर गए। स्थण्डिल की पडिलेहणा करके उन्होंने शाक की एक बूँद जमीन पर डाली। उस की गन्ध से उसी समय वहाँ हजारों कीड़ियाँ आ गई और स्वाद लेते ही अकाल मृत्यु प्राप्त करने लगीं। यह देख धर्मरुचि अनगार ने सोचा– एक बूँद से ही इतने जीवों

की हिंसा होती है तो यदि मैं सारा शाक यहाँ परठ दूँगा तो बहुत से प्राण (द्वीन्द्रियादि), भूत (वनस्पति) जीव (पञ्चेन्द्रिय) तथा सत्त्व (पृथ्वी कायादिक) मारे जावेंगे। इस लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं स्वयं इस शाक का आहार कर लूँ। यह शाक मेरे शरीर में ही गल जायगा। यह सोच कर उन्होंने मुखवस्त्रिका की पडिलेहणा की। अपने शरीर को पूँजा। इसके बाद उस कड़वे शाक को इस तरह अपने पेट में डाल लिया जिस तरह साँप बिल में प्रवेश करता है।

आहार करने के बाद एक मुहूर्त के अन्दर अन्दर वह शाक विषरूप में परिणत हो गया। सारे शरीर में असह्य वेदना होने लगी। उनमें बैठने, उठने की शक्ति नष्ट हो गई। वे बलरहित पराक्रमरहित और वीर्यरहित हो गए।

अपने आयुष्य को समाप्तप्राय जान कर धर्मरुचि अनगार ने पात्र अलग रख दिए। स्थण्डिल की पडिलेहणा करके दर्भ का संथारा बिछाया। उस पर बैठ कर पूर्व की ओर मुँह किया। दोनों हाथों की अञ्जलि को ललाट पर रख कर उन्होंने इस प्रकार बोलना शुरू किया–

णमोत्थुणं अरिहंताणं जाव संपत्ताणं, णमोत्थुणं धम्मघोसाणं मम धम्मायरियाणं धम्मोवएसगाणं, पुव्विं पि णं मम धम्मघोसाणं थेराणं अन्तिए सव्वे पाणातिवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए जाव परिग्गहे। इयाणिं पि णं अहं तेसिं चेव भगवंताणं अतियं सव्वं पाणातिवायं पच्चक्खामि जाव परिग्गहं पच्चक्खामि जावज्जीवाए।

अर्थात्– अरिहन्त भगवान् और सिद्ध भगवान् को मेरा नमस्कार हो तथा मेरे धर्माचार्य्य एवं धर्मोपदेशक धर्मघोष स्थविर को नमस्कार हो। मैंने आचार्य भगवान् के पास पहले सर्व प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक सब पापों का यावज्जीवन त्याग किया था। अब फिर भी

उन सभी पापों का त्याग करता हूँ ।

इस प्रकार चरम श्वासोच्छ्वास तक शरीर का ममत्व छोड़ कर आलोचना और प्रतिक्रमण करके धर्मरुचि अनगार समाधि में स्थिर हो गये । सारे शरीर में विष व्याप्त हो जाने से प्रबल वेदना उत्पन्न हुई जिससे तत्काल वे कालधर्म को प्राप्त हो गये ।

धर्मरुचि अनगार को गये हुए जब बहुत समय हो गया तो धर्मघोष आचार्य ने दूसरे साधुओं को उनका पता लगाने के लिये भेजा। स्थण्डिल भूमि में जाकर साधुओं ने देखा तो उन्हें मालूम हुआ कि धर्मरुचि अनगार कालधर्म को प्राप्त होगये हैं। उसी समय साधुओं ने उसके निमित्त कायोत्सर्ग किया। इसके बाद धर्मरुचि अनगार के पात्र आदि लेकर वे धर्मघोष आचार्य के पास आए और उनके सामने पात्र आदि रख कर धर्मरुचि अनगार के काल धर्म प्राप्त होने की बात कही ।

धर्मघोष आचार्य ने पूर्वों के ज्ञान में उपयोग देकर देखा और सब साधुओं को बुला कर इस प्रकार कहा– आर्यो ! मेरा शिष्य धर्मरुचि अनगार प्रकृति का भद्रिक और विनयवान् था । निरन्तर एक एक महीने से पारना करता था । आज मासखमण के पारने के लिए वह गोचरी के लिए गया । नागश्री ब्राह्मणी ने उसे कड़वे तुम्बे का शाक बहरा दिया । उसके खाने से उसका देहान्त हो गया है । परिणामों की शुद्धता से वह सर्वार्थसिद्ध विमान में तेतीस सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ है ।

यह खबर जब शहर में फैली तो लोग नागश्री को धिक्कारने लगे । वे तीनों ब्राह्मण भाई नागश्री के इस कार्य से उस पर बहुत कुपित हुए। घर आकर उन्होंने नागश्री को बहुत बुरा भला कहा और निर्भर्त्सना पूर्वक उसे घर से बाहर निकाल दिया। वह जहाँ भी जाती लोग उसका तिरस्कार करते, धिक्कारते और अपने यहाँ

से निकाल देते। नागश्री बहुत दुखी हो गई। हाथ में मिट्टी का पात्र लेकर वह घर घर भीख मांगने लगी। थोड़े दिनों बाद उसके शरीर में श्वास, कास, योनिशूल, कोढ आदि सोलह रोग उत्पन्न हुए। मर कर छठी नारकी में बाईस सागरोपम की स्थिति वाले नारकियों में नैरयिक रूप से उत्पन्न हुई। वहाँ से निकल कर मत्स्य, सातवीं नरक, मत्स्य, सातवीं नरक, मत्स्य, छठी नरक, उरग(सर्प), इस प्रकार बीच में तिर्यञ्च का भव करती हुई प्रत्येक नरक में दो दो बार उत्पन्न हुई। फिर पृथ्वीकाय, अप्काय आदि एकेन्द्रिय जीवों में तथा द्वीन्द्रियादि जीवों में अनेक बार उत्पन्न हुई। इस प्रकार नरक और तिर्यञ्च के अनेक भव करता हुआ नागश्री का जीव चम्पा नगर निवासी सागरदत्त सार्थवाह की भार्या भद्रा की कुक्षि से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ।

जन्मोत्सव मना कर माता पिता ने पुत्री का नाम सुकुमालिका रखा। माता पिता की इकलौती सन्तान होने से वह उनको बहुत प्रिय थी। पांच धायों द्वारा उसका लालन पालन होने लगा। सुरक्षित बेल की तरह वह बढ़ने लगी। क्रमशः बाल्यावस्था को छोड़ कर वह यौवन वय को प्राप्त हुई। अब माता पिता को उसके योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई।

चम्पा नगरी में जिनदत्त नाम का एक सार्थवाह रहता था। उस की स्त्री का नाम भद्रा और पुत्र का नाम सागर था। सागर बहुत रूपवान् था। विद्या और कला में प्रवीण होकर वह यौवन वय को प्राप्त हुआ। माता पिता उसके लिये योग्य कन्या की खोज करने लगे।

एक दिन जिनदत्त सागरदत्त के घर के नजदीक होकर जा रहा था। अपनी सखियों के साथ कनक कन्दुक(सुनहली गेंद) से खेलती हुई सुकुमालिका को उसने देखा। नौकरों द्वारा दरियाफ्त कराने पर उसे मालूम हुआ कि यह सागरदत्त की पुत्री सुकुमालिका है।

इसके पश्चात् एक समय जिनदत्त सागरदत्त के घर गया। उचित सत्कार करने के पश्चात् सागरदत्त ने उसे आने का कारण पूछा। जिनदत्त ने अपने पुत्र सागर के लिये सुकुमालिका की माँगणी की। सागरदत्त ने कहा- हमारे यह एक ही सन्तान है। हमें यह बहुत प्रिय है। हम इसका वियोग सहन नहीं कर सकते, इस लिये यदि आपका पुत्र हमारे यहाँ घरजमाई तरीके रहे तो मैं अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर सकता हूँ। जिनदत्त ने सागरदत्त की यह शर्त स्वीकार कर ली। शुभ मुहूर्त देख कर सागरदत्त ने अपनी पुत्री सुकुमालिका का विवाह सागर के साथ कर दिया।

सागर को सुकुमालिका के अङ्ग का स्पर्श असिपत्र (खड्ग) के समान अति तीक्ष्ण और कष्टकारक प्रतीत हुआ। सोती हुई सुकुमालिका को छोड़ कर वह अपने घर भाग आया। पति वियोग से सुकुमालिका उदासीन और चिन्तित रहने लगी।

पिता ने कहा- पुत्री ! यह तेरे पूर्व भव के अशुभ कर्मों का फल है। तू चिन्ता मत कर। अपने रसोईघर में अशन, पान आदि वस्तुएं हर समय तैयार रहती हैं, उन्हें साधु महात्माओं को बहराती हुई तू धर्म ध्यान कर।

सुकुमालिका पिता के कथनानुसार कार्य करने लगी। एक समय गोपालिका नाम की बहुश्रुत साध्वी अपनी शिष्याओं के साथ वहाँ आई। अशन, पान आदि बहराने के पश्चात् सुकुमालिका ने उनसे पूछा- हे आर्याओ ! तुम बहुत मंत्र तंत्र जानती हो। मुझे भी ऐसा कोई मंत्र बतलाओ जिससे मैं अपने पति को इष्ट हो जाऊँ। साध्वियों ने कहा- हे भद्रे ! इन बातों को बताना तो दूर रहा, हमें ऐसी बातें सुनना भी नहीं कल्पता। साध्वियों ने सुकुमालिका को केवलि-भाषित धर्म का उपदेश दिया जिससे उसे संसार से विरक्ति होगई। अपने पिता सागरदत्त की आज्ञा लेकर उसने गोपालिका आर्या के

पास दीक्षा ले ली। दीक्षा लेकर अनेक प्रकार की कठोर तपस्या करती हुई विचरने लगी।

एक समय वह गोपालिका आर्या के पास आकर इस प्रकार कहने लगी-पूज्ये! आपकी आज्ञा हो तो मैं सुभूमिभाग उद्यान के आसपास बेले बेले पारना करती हुई सूर्य की आतापना लेकर विचरना चाहती हूँ। गोपालिका आर्या ने कहा-साध्वियों को ग्राम यावत् सन्निवेश के बाहर सूर्य की आतापना लेना नहीं कल्पता। अन्य साध्वियों के साथ रह कर उपाश्रय के अन्दर ही अपने शरीर को कपड़े से ढक कर सूर्य की आतापना लेना कल्पता है।

सुकुमालिका ने अपनी गुरुआनी की बात न मानी। वह सुभूमिभाग उद्यान के कुछ दूर आतापना लेने लगी। एक समय देवदत्ता नाम की एक वेश्या पाँच पुरुषों के साथ क्रीड़ा करने के लिये सुभूमिभाग उद्यान में आई। उसे देख कर सुकुमालिका के हृदय में विचार आया कि यह स्त्री भाग्यशालिनी है जिससे यह पाँच पुरुषों को वल्लभ एवं प्रिय है। यदि मेरे त्याग, तप एवं ब्रह्मचर्य का कुछ भी फल हो तो आगामी भव में मैं भी इसी प्रकार पाँच पुरुषों को वल्लभ एवं प्रिय बनूँ। इस प्रकार सुकुमालिका ने नियाणा कर लिया।

कुछ समय पश्चात् वह गोपालिका आर्या के पास वापिस चली आई। अब वह शरीर बकुशा होगई अर्थात् शरीर की शुश्रूषा करने लग गई। अपने शरीर के प्रत्येक भाग को धोने लगी तथा स्वाध्याय, शय्या के स्थान को भी जल से छिड़कने लगी। गोपालिका आर्या ने उसे ऐसा करने से मना किया किन्तु सुकुमालिका ने उसकी बात न मानी और वह ऐसा ही करती हुई रहने लगी। दूसरी साध्वियों को उसका यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। उन्होंने उसका आदर सत्कार करना छोड़ दिया। इससे गोपालिका आर्या को छोड़ कर सुकुमालिका अलग उपाश्रय में अकेली रहने लगी। अब वह पासत्था,

पासत्थ विहारी, ओसण्णा, ओसण्ण विहारी, कुसीला, कुसील विहारी, संसत्ता और संसत्त विहारी होगई अर्थात् संयम में शिथिल होगई।

इस प्रकार कई वर्षों तक साधुपर्याय का पालन कर अन्तिम समय में पन्द्रह दिन की संलेखना की। अपने अयोग्य आचरण की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही वह कालधर्म को प्राप्त होगई। मर कर ईशान देवलोक में नव पल्योपम की स्थिति वाली देवगणिका (अपरिगृहीता देवी) हुई।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पञ्चाल देश के अन्दर एक अति रमणीय कम्पिलपुर नाम का नगर था। उसमें द्रुपद राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम चुलणी था। उनके पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न था। वह युवराज था। ईशान कल्प का आयुष्य पूरा होने पर सुकुमालिका का जीव रानी चुलणी की कुक्षि से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ। माता पिता ने उसका नाम द्रौपदी रक्खा।

पाँच धायों द्वारा लालन पालन की जाती हुई द्रौपदी पर्वत की गुफा में रही हुई चम्पकलता की तरह बढ़ने लगी। क्रमशः बाल्यावस्था को छोड़ कर वह युवावस्था को प्राप्त हुई। राजा द्रुपद को उसके लिये योग्य वर की चिन्ता हुई।

राजा द्रुपद ने द्रौपदी का स्वयंवर करने का निश्चय किया। नौकरों को बुला कर उसने स्वयंवर मण्डप बनाने की आज्ञा दी। मण्डप तैयार हो जाने पर द्रुपद राजा ने अनेक देशों के राजाओं के पास दूतों द्वारा आमन्त्रण भेजे।

निश्चित तिथि पर विविध देशों के अनेक राजा और राजकुमार स्वयंवर मण्डप में उपस्थित हुए। कृष्ण वासुदेव भी अनेक यादव-कुमार और पांच पाण्डवों को साथ लेकर वहाँ आये। सभी लोग अपने अपने योग्य आसनों पर बैठ गये। स्नान करके वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर राजकुमारी द्रौपदी एक दासी के साथ स्वयंवर मण्डप

में आई। दासी बाएं हाथ में एक दर्पण लिये हुई थी। उसमें राजाओं का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। उनके नाम, स्थान तथा गुणों का परिचय देती हुई वह द्रौपदी को साथ लेकर आगे बढ़ रही थी। धीरे धीरे वह जहाँ पाँच पाण्डव बैठे हुए थे वहाँ आ पहुँची। पूर्व जन्म में किये हुए नियाणे से प्रेरित हो कर उसने पाँचों पाण्डवों के गले में वरमाला डाल दी। 'राजकुमारी द्रौपदी ने श्रेष्ठ वरण किया' ऐसा कह कर सब राजाओं ने उसका अनुमोदन किया।

इसके पश्चात् राजा द्रुपद ने अपनी पुत्री का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ कर दिया। आठ करोड़ सोनैयों का प्रीतिदान दिया। विपुल अशन, पान तथा वस्त्र आभरण आदि से पाण्डवों का उचित सत्कार कर उन्हें विदा किया। (ज्ञाताधर्म कथांग सोलहवां अध्ययन)

द्रौपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ होगया। बारी बारी से वह प्रत्येक की पत्नी रहने लगी। जिस दिन जिसकी बारी होती उस दिन उसे पति मान कर बाकी के साथ जेठ या देवर सरीखा वर्ताव रखती।

एक बार द्रौपदी शरीर परिमाण दर्पण में अपने शरीर को बार बार देख रही थी। इतने में वहाँ नारद ऋषि आए। द्रौपदी दर्पण देखने में लीन थी, इस लिए उसने नारदजी को नहीं देखा। नारद कुपित होकर धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी में पहुँचे। वहाँ पद्मोत्तर राजा राज्य करता था। नारदजी उसी के पास गए।

राजा ने विनय पूर्वक उनका स्वागत किया और पूछा– महाराज! आप सब जगह घूमते रहते हैं कोई नई बात बताइए। नारदजी ने उत्तर दिया– मैं हस्तिनापुर गया था वहाँ पाण्डवों के अन्तःपुर में द्रौपदी को देखा। तुम्हारे अन्तःपुर में ऐसी एक भी स्त्री नहीं है। पद्मोत्तर राजा ने द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए एक देव की आराधना की। देव द्रौपदी को उठा कर वहाँ ले आया।

पद्मोत्तर उससे कहने लगा–द्रौपदी ! तुम मेरे साथ भोग भोगो। यह राज्य तुम्हारा है। यह सारा वैभव तुम्हारा है। इसे स्वीकार करो। मैं तुम्हें सभी रानियों में पटरानी मानूँगा। सभी काम तुम्हें पूछ कर करूँगा। इस प्रकार कई उपायों से उसने द्रौपदी को सतीत्व से विचलित करने का प्रयत्न किया किन्तु द्रौपदी के हृदय में लेशमात्र भी विकार नहीं आया। वह पंच परमेष्ठी का ध्यान करती हुई तपस्या में लीन रहने लगी।

द्रौपदी का हरण हुआ जान कर पाण्डवों ने श्रीकृष्ण के पास जाकर सारा हाल कहा। यह सुन कर श्रीकृष्ण भी विचार में पड़ गए।

द्रौपदी का पता लगाने के लिए वे उपाय सोचने लगे। इतने में नारद ऋषि वहाँ आ पहुँचे। श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा– नारदजी ! आपने कहीं द्रौपदी को देखा है ? नारद ने उत्तर दिया– धातकी-खण्ड द्वीप में अमरकंका नगरी के राजा पद्मोत्तर के अन्तःपुर में मैंने द्रौपदी जैसी स्त्री देखी है। यह सुन कर श्रीकृष्ण ने सुस्थित देव की आराधना की। पाँच पाण्डव और श्रीकृष्ण छहों रथ में बैठ कर अमरकंका पहुँचे और नगरी के बाहर उद्यान में ठहर गए। पाँचों पाण्डव पद्मोत्तर राजा के साथ युद्ध करने गए किन्तु हार कर वापिस चले आए। यह देख कर श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध करने के लिये गए। राजा पद्मोत्तर हार कर किले में घुस गया। श्री कृष्ण ने किले पर चढ़ कर विकराल रूप धारण कर लिया और पृथ्वी को इस तरह कँपाया कि बहुत से घर गिर पड़े। पद्मोत्तर डर कर श्रीकृष्ण के पैरों में आ गिरा और अपने अपराध के लिए क्षमा माँगने लगा। श्रीकृष्ण द्रौपदी को लेकर वापिस चले आए।

उसी समय धातकीखण्ड के मुनिसुव्रत नाम के तीर्थङ्कर धर्मदेशना दे रहे थे। वहाँ कपिल नाम के वासुदेव ने उनसे श्रीकृष्ण के आगमन की बात सुनी। वह उनसे मिलने के लिए समुद्र के किनारे गया।

श्रीकृष्ण पहले ही रवाना हो चुके थे। समुद्र में जाते हुए श्रीकृष्ण के रथ की ध्वजा को देख कर धातकीखण्ड के वासुदेव कपिल ने उनसे मिलने के लिए अपना शंख बजाया। श्रीकृष्ण ने भी उसका उत्तर देने के लिए अपना शंख बजाया। दोनों वासुदेवों की शंखों से बातचीत हुई।

पाँचों पाण्डव तथा श्रीकृष्ण द्रौपदी के साथ लवण समुद्र को पार करके गंगा के किनारे आए और वहाँ से अपनी राजधानी में पहुँच गए।

एक बार पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया। देश विदेश के सभी राजाओं को निमन्त्रण भेजा गया। इन्द्रप्रस्थपुरी को खूब सजाया गया। वह साक्षात् इन्द्रपुरी सी मालूम पड़ने लगी। मयदानव ने सभा मण्डप रचने में अपूर्व कौशल दिखलाया। जहाँ स्थल था वहाँ पानी दिखाई देता था और जहाँ पानी था वहाँ सूखी जमीन दिखाई देती थी। देश विदेश के राजा इकट्ठे हुए। युधिष्ठिर के चरणों में गिरे। दुर्योधन वगैरह सभी कौरव भी आए।

एक बार द्रौपदी और भीम बैठे हुए सभामण्डप को देख रहे थे। इतने में वहाँ दुर्योधन आया। सूखी जमीन में पानी समझ कर उसने कपड़े ऊँचे उठा लिये। पानी वाली जगह को सूखी जमीन समझ कर वैसे ही चला गया और उसके कपड़े भीग गए। द्रौपदी और भीम यह सब देख रहे थे, इस लिए हँसने लगे। द्रौपदी ने मज़ाक करते हुए कहा–अन्धे के बेटे भी अन्धे ही होते हैं।

दुर्योधन के दिल में यह बात तीर की तरह चुभ गई। उसने मन ही मन इस अपमान का बदला लेने के लिए निश्चय कर लिया।

दुर्योधन का मामा शकुनि षडयंत्र रचने में बहुत चतुर था। जुए में सिद्धहस्त था। उसका फेंका हुआ पासा कभी उल्टा न पड़ता था। दुर्योधन ने उसी से कोई उपाय पूछा।

शकुनि ने उत्तर दिया– एक ही उपाय है। तुम युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए तैयार करो। इसके लिए उनके पास विदुरजी को भेज दो। उनके कहने से वे मान जाएँगे। धृतराष्ट्र से तुम स्वयं पूछ लो। खेलते समय यह शर्त रक्खो कि जो हारे वह राजगद्दी छोड़ दे। तुम्हारी तरफ से पासे मैं फेंकूँगा। फिर देखना, एक भी दाव उल्टा न पड़ेगा।

दुर्योधन ने उसी प्रकार किया। अपने पिता धृतराष्ट्र को पैरों में गिर कर तथा उल्टी सीधी बातें करके, मना लिया। पुत्रस्नेह के कारण वे उसकी बात को बुरी होने पर भी न टाल सके। विदुर के कहने पर युधिष्ठिर भी तैयार हो गए। जुआ खेला गया। एक तरफ दुर्योधन, शकुनि और सभी कौरव थे, दूसरी ओर पाण्डव। शकुनि के पासे बिल्कुल ठीक पड़ रहे थे। युधिष्ठिर अपने राज्य को हार गए। चारों भाई तथा अपने को हार गए। अन्त में द्रौपदी को भी हार गए। जुए में पड़ कर वे अपनी राजलक्ष्मी, अपने और भाइयों के शरीर तथा अपनी रानी द्रौपदी सभी को खो बैठे। वे सभी दुर्योधन के दास बन चुके थे।

महाराजा दुर्योधन का दरबार लगा हुआ था। भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर आदि सभी अपने अपने आसन पर शोभित थे। एक तरफ पांचों पाण्डव अपना सिर झुकाए बैठे थे। इतने में दुःशासन द्रौपदी को चोटी से पकड़ कर लाया। दरवाजे पर द्रौपदी थोड़ी सी हिचकिचाई तो दुःशासन ने एक धप जमाया और भरी सभा में द्रौपदी को खींच लिया।

द्रौपदी का क्रोध भभक उठा। सिंहिनी के समान गर्जते हुए उसने कहा– पितामह भीष्म! आचार्य द्रोण! विदुरजी! क्या आप इस समय शान्त बैठे रहना ही अपना कर्तव्य समझते हैं? द्रुपद राजा की पुत्री, पाण्डवों की धर्मपत्नी तथा धृतराष्ट्र की कुल-

वधू को पापी दुःशासन इस प्रकार अपमानित करे और आप बैठे बैठे देखते रहें, क्या यही न्याय है? क्या आप एक अबला के सन्मान की रक्षा नहीं कर सकते?

'देखो ऐसी कुलवधू! पाँच पति फिर भी कुलवधू। तुम्हारे पति जुए में हार गए हैं। वे हमारे दास बन चुके हैं। साथमें तुम भी' दुःशासन ने डाटते हुए कहा।

'बस बस, मैं कभी गुलाम नहीं हो सकती। मैं सभा से पूछती हूँ कि मेरे पतियों ने मुझे स्वयं दास होने से पहले दाव पर रक्खा था या बाद में? अगर पहले रखा हो तभी मैं गुलाम बन सकती हूँ, बाद में रखने पर नहीं।' द्रौपदी ने कहा।

सभी लोग शान्त बैठे रहे। उत्तर कौन दे? वह सभा न्याय करने के लिये नहीं जुड़ी थी किन्तु पाण्डवों का विनाश करने के लिए। वहाँ न्याय को सुनने वाला कोई न था। यद्यपि भीष्म, द्रोणाचार्य वगैरह स्वयं पापी न थे किन्तु पापी मालिक की नौकरी के कारण उनका हृदय भी कमजोर बन गया था। इसी लिए वे दुःशासन का विरोध न कर सके।

सभी को शान्त देख कर दुःशासन, द्रौपदी और पाण्डवों को लक्ष्य कर कहने लगा– हम कुछ भी नहीं सुनना चाहते। तुम सभी राजसी पोशाक उतार दो। तुम छहों हमारे गुलाम हो।

पाँचों पाण्डवों ने राजसी पोशाक उतार दी किन्तु द्रौपदी चुपचाप वैसी ही खड़ी रही।

'क्यों तुम नहीं सुन रही हो?' दुःशासन ने चिल्ला कर कहा।

'मैंने एक ही कपड़ा पहिन रखा है, मैं रजस्वला हूँ।' द्रौपदी ने उत्तर दिया।

'अब रजस्वला बन गई' कह कर दुःशासन ने उसका पल्ला पकड़ लिया। भीम अपने क्रोध को न रोक सका। उसने खड़े होकर

अपनी गदा भूमि पर फटकारी। युधिष्ठिर ने उसे मना कर दिया क्योंकि वे दास थे।

यह देख कर दुर्योधन बोला– देख क्या रहे हो? खींच डालो।

द्रौपदी प्रभु का स्मरण कर रही थी। मानवसमाज में उस समय उसे कोई ऐसा व्यक्ति नजर नहीं आ रहा था जो एक अबला की लाज बचा सके। भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर आदि बड़े बड़े धर्मात्मा और नीतिज्ञ उस समय गुलामी के बन्धन में जकड़े हुए थे। वे दुर्योधन के वेतनभोगी दास थे, इस लिए उसका विरोध न कर सकते थे। मानवसमाज जो नियम अपने कल्याण के लिए बनाता है, वे ही समय पड़ने पर अन्याय के पोषक बन जाते हैं।

ऐसे समय में द्रौपदी को भगवान् के नाम के सिवाय और कोई रक्षक दिखाई नहीं दे रहा था। वह अपनी लज्जा बचाने के लिए प्रभु से प्रार्थना कर रही थी। दुःशासन उसके चीर को बलपूर्वक खींच रहा था।

आत्मा में अनन्त शक्ति है, उसके सामने बाह्य शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। जब तक मनुष्य बाह्य शक्ति पर भरोसा रखता है, बाह्य शस्त्रास्त्र तथा सेनाबल को रक्षा या विध्वंस का उपाय मानता है, तब तक आत्मशक्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता। द्रौपदी ने भी बाह्य शक्ति पर विश्वास करके जब तक रक्षा के लिए दूसरों की ओर देखा उसे कोई सहायता न मिली। भीम की गदा और अर्जुन के बाण भी काम न आए। अन्त में द्रौपदी ने बाह्य शक्ति से निराश होकर आत्मशक्ति की शरण ली। वह सब कुछ छोड़ कर प्रभु के ध्यान में लग गई।

दुःशासन ने अपनी सारी शक्ति लगा दी किन्तु वह द्रौपदी का चीर न खींच सका। उसे ऐसा मालूम पड़ने लगा जैसे द्रौपदी में कोई महान् शक्ति कार्य कर रही हो। वह भयभीत सा होकर

खड़ा रह गया। दुर्योधन के पूछने पर उसने कहा-

भाई! मुझ से यह वस्त्र नहीं खींचा जा रहा है। अधिक जोर से खींचता हूँ तो ऐसा मालूम पड़ता है जैसे कोई मेरा हाथ पकड़ कर खींच रहा है। इसके मुंह पर देखता हूँ तो आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है। पता नहीं इसमें इतना बल कहाँ से आगया। मेरे हाथ काम नहीं कर रहे हैं। अब तो तुम आओ।

सारी सभा स्तब्ध रह गई। दुर्योधन ने अपनी जांघ उघाड़ी और कहा द्रौपदी! आओ यहाँ बैठो।

सभी का मस्तक लज्जा से नीचे झुक गया। भीष्म और द्रोण कुछ न बोल सके। भीम से यह दृश्य न देखा गया। उसने खड़े हो कर प्रतिज्ञा की- दुःशासन! दुर्योधन! यह दृश्य मेरी आँखें नहीं देख सकतीं। अभी तो हम लाचार हैं, प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण कुछ नहीं कर सकते किन्तु युद्ध में अगर मैं दुःशासन के रक्त से द्रौपदी के इन केशों को न सींचूँ तथा दुर्योधन की इस जांघ को चूर चूर न करूँ तो मेरा नाम भीम नहीं है।

सारी सभा में भय छा गया। भीम के बल से सभी कौरव परिचित थे। उसकी प्रतिज्ञा भयङ्कर थी। इतने में धृतराष्ट्र और गान्धारी वहाँ आए। धृतराष्ट्र युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के पिता पाण्डु के बड़े भाई थे। वे जन्मान्ध थे, इस लिए गद्दी पाण्डु को मिली। धृतराष्ट्र को अपनी सन्तान पर प्रेम था। वे चाहते थे कि गद्दी उनके ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन को मिले, किन्तु लोकलाज से डरते थे। सभा में आते ही उन्होंने द्रौपदी को अपने पास बुला कर सान्त्वना दी। दुःशासन और दुर्योधन को उलहना दिया। अपने पुत्र द्वारा दिए गए इस कष्ट के लिए द्रौपदी से कुछ मांगने को कहा।

द्रौपदी बोली- मुझे और कुछ नहीं चाहिए मैं तो सिर्फ पाँचों पाण्डवों की मुक्ति चाहती हूँ।

'तथास्तु' कह कर धृतराष्ट्र ने सभी पाण्डवों को दासपने से मुक्त कर दिया।

दुर्योधन से यह न देखा गया। उसने दुबारा जुआ खेलने के लिए युधिष्ठिर को आमन्त्रित किया। हारा हुआ जुआरी दुगुना खेलता है इसी लोकोक्ति के अनुसार युधिष्ठिर फिर तैयार होगए। इस बार यह शर्त रक्खी गई कि जो हारे वह बारह वर्ष वन में रहे और एक वर्ष गुप्तवास करे। यदि गुप्तवास में उसका पता लग जाय तो फिर बारह वर्ष वन में रहे।

भविष्य में होने वाली घटना के लिए कारणसामग्री पहले से तैयार होजाती है। महाभारत के महायुद्ध में जो भीषण नरसंहार होने वाला था, उसकी भूमिका पहले से तैयार हो रही थी। शकुनि के पासे सीधे पड़े। युधिष्ठिर हार गए। उन्हें बारह वर्ष का वनवास तथा एक वर्ष का गुप्तवास प्राप्त हुआ। द्रौपदी और पाँचों पाण्डवों ने वन की ओर प्रस्थान किया। वे झोंपड़ी बना कर घोर जंगल में रहने लगे।

एक दिन की बात है। युधिष्ठिर अपनी झोंपड़ी में बैठे थे। बाकी चारों भाई जंगल में फल फूल लाने गए हुए थे। पास ही द्रौपदी बैठी थी। बातचीत के सिलसिले में युधिष्ठिर ने लम्बी साँस छोड़ी। द्रौपदी ने आग्रहपूर्वक निःश्वास का कारण पूछा। बहुत आग्रह होने पर युधिष्ठिर ने कहा- द्रौपदी! मुझे स्वयं कोई दुःख नहीं है। दुःख तो मुझे तुम्हें देख कर हो रहा है। तुम्हारे सरीखी कोमल राजकुमारी महलों को छोड़ कर वन में भटक रही है, यही देख कर मुझे कष्ट हो रहा है।

द्रौपदी बोली- महाराज! मालूम पड़ता है मुझे अभी तक आप ने नहीं पहिचाना। जहाँ आप हैं वहाँ मुझे सुख ही सुख है। आप के सुख में मेरा सुख है और दुःख में दुःख। विवाह के बाद पहली

रात मैंने कुम्हार के घर में आप सभी के चरणों में सोकर बिताई थी। उस समय मुझे सुहागरात से कम आनन्द न हुआ था। इस लिए मेरी बात तो छोड़िए। अपने चारों भाइओं के विषय में विचार कीजिए। इन्हीं के लिए आप वन्धन में फँसे। इन्हीं के लिए आप ने यज्ञ किया और इन्हीं के लिए आप इन्द्रप्रस्थ के राजा बने। जिन से शत्रु थर थर काँपते हैं ऐसे आपके भाई पेट भरने के लिए जंगलों में रखड़ रहे हैं। क्या इस बात का आप को खयाल है? कभी आपको इस बात का विचार भी आता है?

युधिष्ठिर– आता तो है किन्तु–

द्रौपदी– नहीं, नहीं, यह विचार आप को नहीं आता। भरे दरबार में आपने अपनी स्त्री को जुए की बाजी पर रक्खा। आप की आँखों के सामने उसके बाल खींचे गए। कपड़े खींच कर उसे नंगी करने का प्रयत्न किया गया। उसे अपमानित किया गया। हम को शाप दिलाने की इच्छा से दुर्वासा ऋषि को बड़े परिवार के साथ यहाँ भेजा गया। दुर्योधन का बहनोई मुझे यहाँ से उठा ले गया। लाख का घर बना कर हम सब को जला डालने का प्रयत्न किया गया। फिर भी आप को दया आ रही है। आप का मन दुर्योधन को क्षमा करने का हो रहा है। महाराज! मैं उन सब बातों को नहीं भूल सकती। दुःशासन के द्वारा किया गया अपमान मेरे हृदय में काँटे के समान चुभ रहा है। सच्चे हृदय से समझाने पर भी वह नहीं मानेगा। युद्ध के बिना मैं भी नहीं मान सकती। आप की क्षमा क्षमा नहीं है। यह तो कायरता है। क्षत्रियों में ऐसी क्षमा नहीं होती। फिर भी यदि आप इस कायरता पूर्ण क्षमा को ही धारण करना चाहते हैं तो स्पष्ट कह दीजिए। आप संन्यास धारण कर लीजिए। हम शत्रुओं से अपने आप निपट लेंगे। पहले उनका संहार करके राज्य प्राप्त करेंगे, फिर आप के पास आकर संन्यास

की बातें करेंगे। द्रौपदी की आँखें क्रोध से लाल हो गई। उस में क्षत्रियाणी का खून उबलने लगा।

युधिष्ठिर– द्रौपदी! मुझे भी ये सारी बातें याद हैं। फिर भी अभी एक वर्ष की देर है। हमें अज्ञातवास करना है। बाद में देखा जाएगा। फिर भी मैं कहता हूँ कि यदि उसे सच्चे हृदय से प्रेम पूर्वक समझाया जाय तो वह अब भी मान सकता है। उसका हृदय परिवर्तित हो जाएगा।

द्रौपदी– हाँ, हाँ! आप समझा कर देखिए। मैं तो युद्ध के सिवाय कुछ नहीं चाहती।

युधिष्ठिर सत्यवादी थे। अहिंसा और सत्य पर उनका दृढ़ विश्वास था। उनका विचार था कि इन दोनों में अनन्त शक्ति है। मनुष्य या पशु कोई कितना भी क्रूर हो किन्तु इन दोनों के सामने उसे झुकना ही पड़ता है। द्रौपदी का विश्वास था–विष की औषधि विष होता है। हिंसक तथा क्रूर व्यक्ति अहिंसा से नहीं समझाया जा सकता। दुष्ट व्यक्ति में जो बुरी भावना उठती है तथा उसके द्वारा वह दूसरे व्यक्तियों को जिस वेग के साथ नुक्सान पहुँचाना चाहता है उसका प्रतिकार केवल हिंसा ही है। एक बार उसके वेग को हिंसा द्वारा कम कर देने के बाद उपदेश या अहिंसा काम कर सकते हैं।

द्रौपदी और युधिष्ठिर अपने अपने विचारों पर दृढ़ थे।

वनवास के बारह साल बीत गए। गुप्तवास का तेरहवाँ साल बिताने के लिये पाण्डवों ने भिन्न भिन्न प्रकार के वेश पहिने। विराट नगर के श्मशान में आकर उन्होंने आपस में विचार किया। अर्जुन ने अपना गाण्डीव धनुष एक वृक्ष की शाखा के साथ इस प्रकार बाँध दिया जिससे दिखाई न पड़े। सभी ने एक एक दिन के अन्तर से नगर में जाकर नौकरी कर ली।

युधिष्ठिर ने अपना नाम कंक रक्खा और राजा के पुरोहित-

पने की नौकरी कर ली। भीम ने वल्लभ के नाम से रसोइए की, अर्जुन ने वृहन्नला के नाम से राजा के अन्तःपुर में नृत्य सिखाने की, नकुल और सहदेव ने अश्वपालक और गोपालक की तथा द्रौपदी ने सैरन्ध्री के नाम से रानी के दासीपने की नौकरी कर ली। वे अपने गुप्तवास का समय बिताने लगे।

रानी का भाई कीचक बहुत दुष्ट और दुराचारी था। वह द्रौपदी को बहुत तंग किया करता था। एक बार द्रौपदी भीम के पास गई और उसके पूछने पर कहने लगी-

रानी का भाई कीचक मेरे पीछे पड़ा है। एक बार भरी सभा में उसने मेरे लात मारी। युधिष्ठिर महाराज तो क्षमा के सागर ठहरे। उन्होंने कहा-भद्रे! तुम्हारी रक्षा पाँच गन्धर्व करेंगे। अब तो कीचक बुरी तरह पीछे पड़ गया है। रानी भी उसे साथ दे रही है, बार बार मुझे उसके पास भेजती है।

भीम- तुम उसे किसी स्थान पर मिलने के लिए बुलाओ।

द्रौपदी- कल रात को नई नृत्यशाला में मिलने के लिए उसे कहूँगी किन्तु भूल न हो, नहीं तो बहुत बुरा होगा।

भीम- भूल कैसे हो सकती है? तुम्हारे स्थान पर मैं सो जाऊँगा और उसके आते ही सारा काम पूरा कर दूँगा।

दूसरे दिन निश्चित समय पर कीचक नई नृत्यशाला में गया। सोए हुए व्यक्ति को सैरन्ध्री समझ कर उसके पास गया। आलिंगन करने के लिए झुका। भीम ने उसे अपनी भुजाओं में कस कर ऐसा दबाया कि वह निर्जीव होकर वहीं गिर पड़ा।

कीचक की मृत्यु का समाचार सारे शहर में फैल गया। रानी ने समझा, यह काम सैरन्ध्री के गन्धर्वों ने किया है। उसने सैरन्ध्री को कीचक के साथ जला डालने का निश्चय किया और कीचक की अर्थी के साथ उसे बाँध दी।

भीम को यह बात मालूम पड़ी । भयंकर रूप बना कर वह श्मशान में गया, अर्थी ले जाने वाले लोगों को मार भगाया और द्रौपदी को बन्धन से मुक्त कर दिया ।

तेरहवाँ वर्ष पूरा होने पर पाँचों पाण्डव प्रकट हुए । विराट राजा और उसकी रानी ने सभी से क्षमा मांगी । द्रौपदी को दिए हुए दुःख के लिए रानी ने पश्चात्ताप किया ।

पाण्डव अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुके थे । शर्त के अनुसार अब राज्य उन्हें वापिस मिल जाना चाहिए था किन्तु दुर्योधन की नीयत पहले से ही बिगड़ चुकी थी । इतने साल राज्य करते करते उसने बड़े बड़े योद्धाओं को अपनी तरफ मिला लिया था । द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा वगैरह बड़े बड़े महारथी उसके पक्ष में होगए थे । राजा होने के कारण सैनिक शक्ति भी उसने बहुत इकट्ठी कर ली थी । उसे अपनी विजय पर विश्वास था । वह सोचता था, पाण्डव इतने दिनों से वन में निवास कर रहे हैं फिर मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं । इन सब बातों को सोच कर उसने राज्य वापिस करने से इन्कार कर दिया ।

पाण्डवों को अपने बल पर विश्वास था । दुर्योधन द्वारा किया गया अपमान भी उनके मन में खटक रहा था । इस लिए वे युद्ध के लिए तैयार होगए, किन्तु युधिष्ठिर शान्तिप्रिय थे । वे चाहते थे जहाँ तक हो सके युद्ध को टालना चाहिए । दुर्योधन की इस मनोवृत्ति को देख कर उन्होंने सोचा– यदि अपनी आजीविका के लिए हम लोगों को सिर्फ पाँच गाँव मिल जायँ तो भी गुजारा हो सकता है। यदि इतने पर भी दुर्योधन मान जाय तो रक्तपात रुक सकता है।

श्रीकृष्ण भी जहाँ तक हो सके, शान्ति को कायम रखना चाहते थे । युधिष्ठिर ने अपनी बात श्रीकृष्ण के सामने रक्खी और उन्हीं पर सन्धि का सारा भार डाल दिया ।

द्रौपदी को युधिष्ठिर की यह बात अच्छी न लगी। दुःशासन द्वारा किया गया अपमान उसके हृदय में काँटे की तरह चुभ रहा था। वह उसका बदला लेना चाहती थी। अपने खुले हुए केशों को हाथ में लेकर द्रौपदी श्रीकृष्ण से कहने लगी– प्रभो! आप सन्धि के लिए जारहे हैं। विशाल साम्राज्य के बदले पाँच गाँव देकर कौन सन्धि न करेगा? उसमें भी जब सन्धि कराने वाले आप सरीखे महापुरुष हों। आपने हमारे भरण पोषण के लिए पाँच गाँवों को पर्याप्त मान कर शान्ति रखना उचित समझा है, किन्तु मैं गाँवों की भूखी नहीं हूँ। जंगल में रह कर भी मैं अपने दिन प्रसन्नतापूर्वक काट सकती हूँ। मुझे साम्राज्य की परवाह नहीं है। मैं तो अपने इन केशों के अपमान का बदला चाहती हूँ। जिस समय दुष्ट दुःशासन ने इन्हें खींचा था, मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक ये केश उसके रक्त से न सींचे जाएंगे तब तक मैं इन्हें न बाँधूँगी। क्या मेरे ये केश खुले ही रह जाएंगे? क्या एक महिला का अपमान आपके लिये कोई महत्त्व नहीं रखता? भीम ने दुःशासन का वध और दुर्योधन की जंघा चूर चूर करने की प्रतिज्ञा की है। क्या उसकी प्रतिज्ञा अपूर्ण ही रह जायगी?

दुर्योधन ने हमारे साथ क्या नहीं किया? जहर देकर मार डालने का प्रयत्न किया, लाख के घर में जला देना चाहा, दुर्वासा मुनि से शाप दिलाने की कोशिश की, हमारा जगह जगह अपमान किया, मेरी लाज छीनने में भी कसर नहीं रक्खी। वनवास तथा गुप्तवास के बाद शर्त के अनुसार हमें सारा साम्राज्य मिलना चाहिए उसके बदले आप पाँच गाँव लेकर सन्धि करने जा रहे हैं, क्या यह अन्याय का पोषण नहीं है? क्या यह पापी दुर्योधन के लिए आप का पक्षपात नहीं है? क्या हमारे अपमानों का यही बदला है?

द्रौपदी की वक्तृता सुन कर सभी लोग दंग रह गए। उन्हें ऐसा

मालूम पड़ने लगा जैसे उसके शरीर में कोई देवी उतर आई हो। सब के सब युद्ध के लिए उत्तेजित हो उठे। पाँच गाँव लेकर सन्धि करना उन्हें अन्याय मालूम पड़ने लगा।

श्रीकृष्ण द्रौपदी की बातों को धैर्यपूर्वक सुनते रहे। अन्त में कहने लगे- द्रौपदी! तुमने जो बातें कही हैं वे अक्षरशः सत्य हैं। तुम्हारे साथ कौरवों ने जो दुर्व्यवहार किया है उसका बदला युद्ध के सिवाय कुछ नहीं है। सारी दुनिया ऐसा ही करती है। किन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि अहिंसा में कितनी शक्ति है। हिंसा पाशविक बल है। क्या उसके बिना काम नहीं चल सकता? सभी शास्त्र हिंसा की अपेक्षा अहिंसा में अनन्तगुणी शक्ति मानते हैं। मैं इस सत्य का प्रयोग करके देखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ तुम दुनिया के सामने यह आदर्श उपस्थित करो कि अहिंसा हिंसा को किस प्रकार दबा सकती है। महाराज युधिष्ठिर का भी यही कहना है।

तुम्हारी पुरानी घटनाओं में सब जगह अहिंसा की जीत हुई है। दुःशासन ने तुम्हें अपमानित करने का प्रयत्न किया। द्रौपदी! तुम्हीं बताओ इस में हार किस की हुई? दुःशासन की या तुम्हारी? वास्तव में पतन किसका हुआ, उसका या तुम्हारा? यदि उस समय शस्त्र से काम लिया जाता तो पाण्डव प्रतिज्ञाभ्रष्ट हो जाते। ऐसी दशा में पाण्डवों का उज्ज्वल यश मलिन हो जाता। लाक्षागृह और दूसरी सभी घटनाओं में तुम लोगों ने शान्ति से काम लिया और अहिंसा द्वारा विजय प्राप्त की। वह विजय सदा के लिए अमर रहेगी और संसार को कल्याण का मार्ग बताएगी। मैं चाहता हूँ तुम उसी प्रकार की विजय फिर प्राप्त करो। खून खराबी द्वारा उस विजय को मलिन न बनाना चाहिए।

द्रौपदी! तुम इन केशों को दिखा रही हो। ये केश तो भौतिक वस्तु हैं। थोड़े दिनों बाद अपने आप मिट्टी में मिल जाएंगे। इन

का लोच करके भी तुम अपनी प्रतिज्ञा से छुटकारा पा सकती हो। किन्तु अहिंसा धर्म के जिस महान् आदर्श को तुमने अब तक दुनिया के सामने रक्खा है उसे मलिन न होने दो। उसके मलिन होने पर वह धब्बा मिटना असम्भव हो जाएगा। उस महान् आदर्श के सामने भीम की प्रतिज्ञा भी तुच्छ है।

तुम वीराङ्गना और वीर पुत्री हो। मैं तुम से सच्ची वीरता की आशा रखता हूँ। सच्ची वीरता धर्म की रक्षा में है, दूसरे के प्राण लेने में नहीं। द्रौपदी! जिस आत्मिक बल ने तुम्हारी चीरहरण के समय रक्षा की थी वही तुम्हारी प्रतिज्ञाओं को पूरा करेगा। वही तुम्हारे केशों के धब्बे को मिटाएगा। उसी पर निर्भर रहो। पाशविक बल की ओर ध्यान मत दो।

कृष्ण की बातों से द्रौपदी का आवेश कम हो गया। वह शान्त होकर बोली- आप प्रयत्न कीजिए अगर दुर्योधन मान जाय।

श्रीकृष्ण दुर्योधन के पास गए किन्तु उसने उनकी एक भी बात नहीं मानी। उसे अपनी पाशविक शक्ति पर गर्व था। उसने उत्तर दिया- पाँच गाँव तो बहुत बड़ी चीज है। मैं सूई के अग्र-भाग जितनी जमीन भी बिना युद्ध नहीं दे सकता। श्रीकृष्ण द्वारा की गई सन्धि की बातचीत निष्फल हो गई। दुर्योधन की पैशाचिक लिप्सा सभी लोगों के सामने नग्न रूप में आ गई।

दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ हुईं। कुरुक्षेत्र के मैदान में अठारह अक्षौहिणी सेना खून की प्यासी बन कर आ डटी। महान् नरसंहार होने लगा। खून की नदियाँ बह चलीं। विजय पाण्डवों की हुई किन्तु वह विजय हार से भी बुरी थी। पाँच पाण्डवों को छोड़ कर सारे सैनिक युद्ध में काम आगए। मेदिनी लाशों से भर गई। देश की युवाशक्ति मटियामेट हो गई। लाखों विधवाओं, वृद्धों और बालकों के क्रन्दन से भरी इन्द्रप्रस्थपुरी में युधिष्ठिर

राजसिंहासन पर बैठे।

यह दृश्य देख कर द्रौपदी का हृदय दहल उठा। उसे विश्वास हो गया कि हिंसात्मक युद्ध में विजित और विजयी दोनों की हार है और अहिंसात्मक युद्ध में दोनों की विजय है। दोनों का कल्याण है। उस सूने राज्य में द्रौपदी का मन न लगा। शान्ति प्राप्त करने के लिए उसने दीक्षा ले ली। पाँचों पाण्डव भी संसार से विरक्त होकर मुनि बन गए।

शुद्ध संयम का आराधन करते हुए यथासमय समाधि पूर्वक काल करके पाँचों पाण्डव मोक्ष में गए। द्रौपदी पाँचवें ब्रह्मदेवलोक में उत्पन्न हुई। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगी और वहीं से मोक्ष जाएगी।

(६) कौशल्या

प्राचीन समय में कुशस्थल नाम का अति रमणीय एक नगर था। वहाँ राजा के सब गुणों से युक्त सुकोशल नाम का राजा न्याय नीति पूर्वक राज्य करता था। प्रजा को वह अपने पुत्र के समान समझता था इसी लिए प्रजा भी उसे हृदय से अपना राजा मानती थी। उसकी रानी का नाम अमृतप्रभा था। उसका स्वभाव बहुत कोमल और मधुर था। कुछ समय पश्चात् रानी की कुक्षि से एक कन्या का जन्म हुआ। उसका नाम अपराजिता रक्खा गया। रूप लावण्य में वह अद्भुत थी। अपने माता पिता की इकलौती सन्तान होने के कारण वे उसे बहुत लाड प्यार करते थे। उसका लाड-प्यार वाला दूसरा नाम कौशल्या था। अनेक धायों की संरक्षणता में वह बढ़ने लगी। जब वह स्त्री की सब कलाओं में निपुण होकर युवावस्था को प्राप्त हुई तब माता पिता को उसके अनुरूप वर खोजने की चिन्ता पैदा हुई।

इधर अयोध्या नगरी के अन्दर राजा दशरथ राज्य कर रहे

थे। मातापिता के दीक्षा ले लेने के कारण राजा दशरथ बाल्यावस्था में ही राजसिंहासन पर बिठा दिये गये थे। जब वे युवावस्था को प्राप्त हुए और राज्य का कार्य स्वयं सम्भालने लगे तब उनका ध्यान अपने राज्य की वृद्धि करने की ओर गया। अपने अपूर्व पराक्रम से उन्होंने कई राजाओं को अपने अधीन कर लिया। एक समय उन्होंने कुशस्थल पर चढ़ाई की। राजा दशरथ की सेना के सामने राजा सुकोशल की सेना न ठहर सकी। अन्त में सुकोशल पराजित हो गया। राजा सुकोशल ने अपनी कन्या कौशल्या का विवाह राजा दशरथ के साथ कर दिया। इससे दोनों राजाओं का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गया। अयोध्या में आकर राजा दशरथ रानी कौशल्या के साथ आनन्द पूर्वक समय बिताने लगा।

मिथिला का राजा जनक और राजा दशरथ दोनों समवयस्क थे। एक समय व दोनों उत्तरापथ की ओर गये। वहाँ कौतुक-मंगल नगर के राजा शुभमति की कन्या कैकयी का स्वयंवर हो रहा था। वे भी वहाँ पहुँचे। राजाओं के बीच में वे दोनों चन्द्र और सूर्य के समान शोभित हो रहे थे। वस्त्राभूषण से अलंकृत होकर कैकयी प्रतिहारी के साथ स्वयंवर मण्डप में आई। वहाँ उपस्थित राजाओं को देखती हुई वह आगे बढ़ती गई। राजा दशरथ के पास आकर वह खड़ी होगई और वरमाला उनके गले में डाल दी। यह देख कर दूसरे राजाओं को बहुत बुरा लगा। जबर्दस्ती से कैकयी को छीन लेने के लिये वे युद्ध की तय्यारी करने लगे। राजा शुभमति और राजा दशरथ भी लड़ाई के लिये तय्यार हुए। राजा दशरथ के रथ में बैठ कर कैकयी उसका सारथी बनी। उस ने ऐसी चतुराई से रथ को हांकना शुरू किया जिससे राजा दशरथ की लगातार विजय होती गई। अन्त में सब राजाओं को परास्त कर राजा दशरथ ने कैकयी के साथ विवाह किया। प्रसन्न होकर

राजा दशरथ ने कैकयी से कहा– हे प्रिये! तुम्हारे सारथीपन के कारण ही मेरी विजय हुई है। मैं इससे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम कोई वर मांगो। कैकयी ने उत्तर दिया– स्वामिन्! समय आवेगा तब माँग लूँगी। अभी आप इसे अपने ही पास धरोहर की भाँति रखिए। इसके पश्चात् राजा दशरथ कैकयी को लेकर अपने नगर में चले आए। कुछ समय बाद उसने सर्वाङ्गसुन्दरी राजकुमारी सुमित्रा (मित्राभू, सुशीला) और सुप्रभा के साथ विवाह किया।

रानियों के साथ राजा दशरथ सुखपूर्वक अपना समय बिताने लगे। रानी कौशल्या में अनेक गुण थे। उसका स्वभाव बड़ा सीधा सादा और सरल था। सौतिया डाह तो उसके अन्दर नाम मात्र को भी न था। कैकयी, सुप्रभा और सुमित्रा को वह अपनी छोटी बहनें मान कर उनके साथ बड़े प्रेम का व्यवहार करती थी। सद्गुणों के कारण राजा ने उसे पटरानी बना दिया।

एक समय रात्रि के पिछले पहर में कौशल्या ने बलदेव के जन्म सूचक चार महास्वप्न देखे। उसने अपने देखे हुए स्वप्न राजा को सुनाये। राजा ने कहा– प्रिये! तुम्हारी कुक्षि से एक महान् प्रतापी पुत्र का जन्म होगा। रानी अपने गर्भ का यत्न पूर्वक पालन करने लगी। गर्भस्थिति पूरी होने पर रानी ने पुण्डरीक कमल के समान वर्ण वाले पुत्र को जन्म दिया।

पुत्र जन्म से राजा दशरथ को अत्यन्त हर्ष हुआ। प्रजा खुशियाँ मनाने लगी। अनेक राजा विविध प्रकार की भेटें लेकर राजा दशरथ की सेवा में उपस्थित होने लगे। खजाने में पद्मा (लक्ष्मी) की बहुत वृद्धि हुई, इससे राजा दशरथ ने पुत्र का नाम पद्म रखा। लोगों में ये राम के नाम से प्रख्यात हुए। ये बलदेव थे।

कुछ समय पश्चात् रानी सुमित्रा ने एक रात्रि के शेष भाग में वसुदेव के जन्म सूचक सात महास्वप्न देखे। समय पूरा होने पर उसने

एक प्रतापी, तेजस्वी और पुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जन्म से राजा, रानी तथा प्रजा सभी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। राजा ने पुत्र का नाम नारायण रक्खा किन्तु लोगों में वह 'लक्ष्मण' इस नाम से प्रख्यात हुआ। ये दोनों भाई पृथ्वी पर चन्द्र और सूर्य के समान शोभित होने लगे।

इसके पश्चात् कैकयी की कुक्षि से भरत और सुप्रभा की कुक्षि से शत्रुघ्न ने जन्म लिया। योग्य समय पर कलाचार्य के पास सब कलाएं सीख कर चारों भाई कला में प्रवीण हो गये।

एक समय चार ज्ञान के धारक एक मुनिराज अयोध्या में पधारे। राजा दशरथ उन्हें वन्दना नमस्कार करने के लिये गया। मुनि ने समयोचित धर्मदेशना दी। राजा ने अपने पूर्वभव के विषय में पूछा। मुनिराज ने राजा को उसका पूर्वभव कह सुनाया जिससे उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को राज्य सौंप कर दीक्षा लेने का निश्चय किया।

राम के राज्याभिषेक की बात सुन कर कैकयी के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उसने स्वयंवर के समय दिये हुए वरदान को इस समय राजा से मांगा और कहा कि मेरे पुत्र भरत को राज्य मिले और राम को वनवास। इस दुःखद वरदान को सुन कर राजा को मूर्च्छा आ गई। जब राम को इस बात का पता लगा तो वे शीघ्र ही वहाँ आये। शीतल उपचारों से राजा की मूर्च्छा दूर कर उनकी आज्ञा से वन जाने को तय्यार हुए। सब से पहले वे माता कैकयी के पास आये। उसे प्रणाम कर वन जाने की आज्ञा माँगी। इसके पश्चात् वे माता कौशल्या के पास आये। वन जाने की बात सुन कर उनको अति दुःख हुआ किन्तु इस सारे प्रपंच को रचने वाली दासी मन्थरा पर और कठिन वरदान को माँगने वाली रानी कैकयी पर उन्होंने जरा भी क्रोध नहीं किया और न उनके प्रति

किसी प्रकार के कटुतापूर्ण शब्दों का प्रयोग ही किया। माता कौशल्या ने गम्भीरता और धैर्य पूर्वक राम को वन में जाने की अनुमति दी। पतिव्रता सीता भी राम के साथ वन को गई और लक्ष्मण भी उनके साथ वन को गया।

कौशल्या के हृदय में जितना स्नेह राम के लिये था उतना ही स्नेह लक्ष्मण और भरतादि के लिये भी था। सीता हरण के कारण रावण के साथ संग्राम करते हुए लक्ष्मण को शक्ति बाण लगा और वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा यह खबर जब अयोध्या पहुँची तो रानी कौशल्या को बहुत दुःख हुआ। वह सोचने लगी राम! तुम लक्ष्मण के बिना वापिस अकेले कैसे आओगे? व्याकुल होती हुई सुमित्रा को उसने आश्वासन देकर धैर्य बंधाया। इतने में नारद ने आकर लक्ष्मण के स्वस्थ होने की खबर कौशल्या आदि रानियों को दी तब कहीं जाकर उनकी चिन्ता दूर हुई।

अपने पराक्रम से लंका पर विजय प्राप्त करके लक्ष्मण और सीता सहित राम वापिस अयोध्या में आये। भरत के अत्याग्रह से राम ने अयोध्या का राज्य स्वीकार किया।

रानी कौशल्या ने राम को वन में जाते देखा और लंका पर विजय प्राप्त कर वापिस लौटते हुए भी देखा। राम को वनवासी तपस्वी वेष में भी देखा और राज्य वैभव से युक्त राजसिंहासन पर बैठे हुए भी देखा। कौशल्या ने पति सुख भी देखा और पुत्र-वियोग के दुःख को भी सहन किया। वह राजरानी भी बनी और राजमाता भी बनी। उसने संसार के सारे रंग देख लिये किन्तु उसे कहीं भी आत्मिक शान्ति का अनुभव नहीं हुआ। संसार के प्रति उसे वैराग्य होगया। सांसारिक बंधनों को तोड़ कर उसने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। कई वर्षों तक शुद्ध संयम का पालन कर सद्-गति को प्राप्त किया।

(७) मृगावती

मृगावती वैशाली के प्रसिद्ध महाराजा चेटक (चेड़ा) की पुत्री थी। उसकी एक बहिन का नाम पद्मावती था जो चम्पा के राजा दधिवाहन की रानी थी। सती पद्मावती ने भी अपने उज्ज्वल चरित्र द्वारा सोलह सतियों के पवित्र हार को सुशोभित किया है। उस का चरित्र आगे दिया जाएगा।

मृगावती की दूसरी बहिन का नाम त्रिशला था। जो महाराज सिद्धार्थ की रानी थी। उसी के गर्भ से चरम तीर्थङ्कर श्रमण भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। पद्मावती और त्रिशला के सिवाय मृगावती के चार बहनें और थीं।

मृगावती बहुत सुन्दर, धर्म परायण और गुणवती थी। उस का विवाह कौशाम्बी के महाराजा शतानीक के साथ हुआ था। अपने गुणों के कारण वह उसकी पटरानी बन गई थी।

कौशाम्बी वाणिज्य, व्यवसाय और कला कौशल के लिए प्रसिद्ध थी। वहाँ बहुत से चित्रकार रहते थे।

एक बार कौशाम्बी का एक चित्रकार चित्रकला में अधिक प्रवीण होने के लिए साकेतनपुर गया। वहाँ एक बुढ़िया चितेरन के घर ठहर गया। बुढ़िया का लड़का चित्रकला में बहुत निपुण था। कौशाम्बी का चित्रकार वहीं रह कर चित्रकला सीखने लगा।

एक बार बुढ़िया के घर राजपुरुष आए। वे उसके लड़के के नाम की चिट्ठी लाए थे। बुढ़िया उन्हें देख कर छाती और सिर कूटती हुई जोर जोर से रोने लगी। कौशाम्बी के चित्रकार ने उस से रोने का कारण पूछा। बुढ़िया ने कहा- बेटा ! यहाँ सुरप्रिय नाम के यक्ष का स्थान है। वहाँ प्रति वर्ष मेला भरता है। उस

मेले के दिन किसी न किसी चित्रकार को उस यक्ष का चित्र अवश्य बनाना पड़ता है। यदि चित्र में किसी प्रकार की त्रुटि रह जाय तो यक्ष चित्रकार के प्राण ले लेता है। यदि उस का चित्र बनाने के लिए कोई तैयार न हो तो यक्ष कुपित होकर नगर में उपद्रव मचाने लगता है। बहुत से लोगों को मार डालता है।

इस बात से डर कर बहुत से चितेरे नगर छोड़ कर भाग गए, फिर भी यक्ष का कोप कम नहीं हुआ। सांकेतनपुर में सभी लोग भयभीत रहने लगे। यह देख कर यक्ष को प्रसन्न करने के लिए राजा ने सिपाहियों को भेज कर चितेरों को फिर नगर में बुला लिया। मेले के दिन प्रत्येक चित्रकार के नाम की चिट्ठी घड़े में डाल कर एक कन्या द्वारा निकलवाई जाती है। जिसके नाम की चिट्ठी निकलती है उसी को यक्ष का चित्र बनाने के लिए जाना पड़ता है। आज मेले का दिन है। मेरे पुत्र के नाम की चिट्ठी निकली है। मेरा यह इकलौता बेटा है। इसी की कमाई से घर का निभाव हो रहा है। यह चिट्ठी यमराज के घर का निमन्त्रण है। इस वृद्धावस्था में इस पुत्र के बिना मेरा कौन सहारा है?

कौशाम्बी के चित्रकार ने कहा– माताजी! आप शोक मत कीजिए। यक्ष का चित्र बनाने के लिए आपके पुत्र के बदले मैं चला जाऊँगा। इस प्रकार उसने वृद्धा के शोक को दूर कर दिया। धैर्य, उत्साह और साहस पूर्वक वह पुलिस के साथ हो लिया। उस ने उसी समय अट्ठम तप का पच्चक्खाण कर लिया और चित्र बनाने के लिए केसर, कस्तूरी आदि महा सुगन्धित पदार्थों को साथ ले लिया। पवित्र होकर वह यक्ष के मन्दिर में पहुँचा। केसर, चन्दन, अगर, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों के विविध रंग बना कर उस ने यक्ष का चित्र बनाया। फिर चित्र की पूजा करके एकाग्र चित्त से उसके सामने बैठ कर और हाथ जोड़ कर कहने लगा–

हे यक्षाधिराज! मैंने आप का चित्र बनाया है। उस में यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो इस सेवक को क्षमा कीजिएगा। आप के सन्तोष से सभी का कल्याण है। नगर के सभी लोग आपकी प्रसन्नता चाहते हैं।

यक्ष चित्रकार की स्तुति से प्रसन्न हो गया और बोला- चित्रकार! मैं तुम पर सन्तुष्ट हूँ। अपना इच्छित वर मांगो।

चित्रकार ने कहा- यदि आप प्रसन्न हैं तो अब यहाँ के लोगों को अभयदान दे दीजिए। दया स्वर्ग और मोक्ष की जननी है।

चित्रकार का परोपकार से भरा हुआ कथन सुन कर यक्ष और भी प्रसन्न हो गया और बोला-आज से लेकर जीवन पर्यन्त मैं किसी जीव की हिंसा नहीं करूँगा। किन्तु यह वरदान तो मेरी सद्गति या परोपकार के लिए है। तुम अपने लिए कोई दूसरा वर मांगो।

चित्रकार ने उत्तर दिया- आपने मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर जीव हिंसा को बन्द कर दिया, यह बड़े हर्ष की बात है। यदि आप विशेष प्रसन्न हैं तो मैं दूसरा वर माँगता हूँ- आप अपने मन को आत्मकल्याण की ओर लगाइए।

यक्ष अत्यन्त प्रसन्न होकर बोला- तुम्हारी बात मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु यह भी मेरे हित के लिए है। तुम अपने हित के लिए कुछ मांगो।

यक्ष के बार बार आग्रह करने पर चित्रकार ने कहा- यदि आप मेरे पर अत्यधिक प्रसन्न हैं तो मुझे यह वर दीजिए कि मैं किसी व्यक्ति या वस्तु के एक भाग को देख कर सारे का चित्र खींच सकूँ।

यक्ष ने 'तथाऽस्तु' कह कर उसकी प्रार्थना के अनुसार वर दे दिया। चित्रकार अपने अभीष्ट को प्राप्त कर बहुत खुश हुआ और अपने स्थान पर चला आया। उसके मुँह से सारा हाल सुन कर राजा और प्रजा को बड़ा हर्ष हुआ। सभी निर्भय होकर

आनन्द पूर्वक रहने लगे। चित्रकार अपनी कुशलता के कारण सब जगह प्रसिद्ध हो गया। उसकी कीर्ति दूर दूर तक फैल गई।

एक बार शतानीक ने अपनी चित्रशाला चित्रित करने के लिए उसी चित्रकार को बुलाया। राजा ने उसकी बहुत प्रशंसा की और अपनी चित्रशाला में विविध प्रकार के प्राणी, सुन्दर दृश्य तथा दूसरी वस्तुएं चित्रित करने के लिए कहा।

चित्रकार अपनी कारीगरी दिखाने लगा। सिंह, हाथी आदि प्राणी ऐसे मालूम पड़ते थे जैसे वे अभी बोलेंगे। प्राकृतिक दृश्य ऐसे मालूम पड़ते थे जैसे वास्तविक हों। सभी चित्र सजीव तथा भावपूर्ण थे।

एक बार रानी मृगावती अपने महल की खिड़की में बैठी हुई थी। उसका अंगूठा चित्रकार की नजरों में पड़ गया। यक्ष द्वारा प्राप्त हुए वरदान के कारण उसने सारी मृगावती का हूबहू चित्र बना दिया। चित्र बनाते समय उसकी पीछी से काले रंग का एक धब्बा चित्र की जांघ पर गिर पड़ा। चित्रकार ने उसे पोंछ दिया किन्तु फिर भी वहाँ काला चिह्न बना रहा। चित्रकार ने सोचा– मृगावती की जांघ पर सचमुच काला तिल होगा इसी लिए वरदान के कारण बार बार पोंछने पर भी यह दाग यहाँ से नहीं मिटता। यह चिह्न देखने वाले के दिल में सन्देह पैदा करने वाला है, किन्तु नहीं निकलने पर क्या किया जाय। इस चित्र को वस्त्र पहिना देने चाहिएं जिससे यह तिल ढक जाय। यह सोच कर काम को दूसरे दिन के लिए मुल्तवी करके वह अपने घर चला गया।

अचानक उसी समय महाराज शतानीक चित्रशाला देखने के लिए आए। अनेक प्रकार के सुन्दर और कलापूर्ण चित्रों को देख कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। चित्र देखते हुए वे मृगावती के वस्त्र रहित चित्र के पास आ पहुँचे। चित्र को देख कर उन्हें चित्रकार की कुशलता पर आश्चर्य होने लगा। अचानक उनका ध्यान

जंघा पर पड़े हुए तिल के निशान पर गया। राजा के मन में सन्देह हो गया। वे सोचने लगे– इस चित्रकार का मृगावती के साथ गुप्त सम्बन्ध होगा, नहीं तो वह इस तिल को कैसे जान सकता है। उसका अपराध बहुत बड़ा है, इसके लिए उसे मृत्यु दण्ड मिलना चाहिए। यह निश्चय करके राजा ने उसके लिए मृत्युदण्ड की आज्ञा दे दी।

चित्रकार ने क्षमा याचना करते हुए कहा– महाराज! मुझे यक्ष की तरफ से वरदान मिला हुआ है। यह बात सभी लोग जानते हैं। आप भी इससे अपरिचित न होंगे। उस वर के कारण मैं किसी वस्तु या व्यक्ति का एक अङ्ग देख कर पूरा चित्र बना सकता हूँ। मैंने महारानी का केवल एक अंगूठा देखा था, उसी से वर के कारण सारा चित्र खींच दिया। जंघा के दाग को निकालने के लिए मैंने कई बार प्रयत्न किया किन्तु वह न निकला। हार कर मैंने दूसरे दिन इस चित्र को कपड़े पहिनाने का निश्चय किया जिस से यह दाग ढक जाय। मैंने आप से सच्ची बात निवेदन कर दी है, अब आप जो चाहें कर सकते हैं। आप हमारे मालिक हैं।

राजा ने चित्रकार की परीक्षा के लिए उसे एक कुब्जा का केवल मुंह दिखा कर सारी का चित्र बनाने की आज्ञा दी। चित्रकार ने कुब्जा का हूबहू चित्र बना दिया। राजा को उसकी बात पर विश्वास हो गया। फिर भी उसने इस बात को अपना अपमान समझा कि चित्रकार ने रानी का चित्र उससे बिना पूछे इस प्रकार बनाया। इस लिए राजा ने यह कहते हुए कि भविष्य में यह किसी कुलवती महिला का चित्र न खींचने पावे, चित्रकार का अंगूठा काट लेने की आज्ञा दे दी।

बिना दोष के दण्डित होने के कारण चित्रकार को यह बात बहुत बुरी लगी। उसने मन में बदला लेने का निश्चय किया।

धीरे धीरे बाएं हाथ से चित्र बनाने का अभ्यास कर लिया। इस के बाद उसने मृगावती का चित्र बनाया और उसे शतानीक के परम शत्रु अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योतन के पास ले गया।

राजा चण्डप्रद्योतन उस सुन्दर चित्र को देख कर आश्चर्य में पड़ गया और चित्रकार से पूछने लगा- यह चित्र काल्पनिक है या वास्तव में इतनी सुन्दर स्त्री संसार में विद्यमान है? ऐसा भाग्यशाली पुरुष कौन है जिसे ऐसी सुन्दरी पत्नी रूप में प्राप्त हुई है।

चित्रकार ने उत्तर दिया–महाराज! यह चित्र काल्पनिक नहीं है। यह चित्र आपके शत्रु कौशाम्बी के राजा शतानीक की पटरानी मृगावती का है। महाराज! चित्र तो चित्र ही है। मृगावती का वास्तविक सौन्दर्य इससे हजारों गुणा अधिक है।

चित्रकार की बात सुनते ही राजा के हृदय में काम विकार जागृत हो गया। साथ में पुराना वैर भी ताजा हो गया। उसने मन में सोचा- ऐसी सुन्दरी तो मेरे महलों में शोभा देती है। शतानीक के पास उसका रहना उचित नहीं है। यह सोच कर अपने वज्रजंघ नामक दूत को बुलाया और मृगावती की मांगनी करने के लिए शतानीक के पास भेज दिया।

दूत कौशाम्बी पहुँचा। शतानीक के सामने जाकर उसने चण्डप्रद्योतन का सन्देश सुनाया- महाराज! हमारे महाराजा ने आपकी रानी मृगावती की मांगनी की है और कहलाया है- जैसे मणि शीशे के साथ शोभा नहीं देती उसी प्रकार मृगावती आपके साथ नहीं शोभती। इस लिए उसे शीघ्र मेरे अधीन कर दीजिए। मुकुट सिर पर ही शोभता है, पैर पर नहीं। यदि आप को अपने जीवन और राज्य की चिन्ता हो तो बिना हिचकिचाहट मृगावती को सौंप दीजिए।

दूत का वचन सुन कर शतानीक को बहुत क्रोध आया। उस

ने उत्तर दिया– तुम्हारा राजा महामूर्ख है जो लोकविरुद्ध मांगनी करता है। हमेशा कन्या की मांगनी होती है विवाहिता स्त्री नहीं मांगी जाती. इस लिए तुम्हारे राजा को जाकर कहना– तुम्हारे सरीखे पैर के समान नीच राजा के घर मुकुट जैसी मृगावती नहीं शोभती। वह तो हमारे सरीखे सिर के समान उत्तम राजाओं के अन्तःपुर में ही शोभती है। अगर तुम्हें अपने जीवन, धन और राज्य को सुरक्षित रखना हो तो मृगावती को प्राप्त करने का प्रयत्न मत करना। दूत का वध करना नीति विरुद्ध समझ कर शतानीक ने उसे अपमानित करके नगरी से बाहर निकलवा दिया।

दूत ने अवन्ती में पहुँच कर सारी बात कही। चण्डप्रद्योतन ने कुपित होकर बड़े बड़े चौदह राजाओं की सेना के साथ कौशाम्बी पर चढ़ाई कर दी। सेना ने शीघ्रता से कौशाम्बी पहुँच कर नगरी के चारों तरफ घेरा डाल दिया। राजा शतानीक भी शत्रु को अपने राज्य पर चढ़ाई करते देख कर तैयार होने लगा। उसने नगरी के द्वार बन्द कर दिए और भीतर रह कर लड़ना शुरू किया। शतानीक बहुत देर तक लड़ता रहा परन्तु चण्डप्रद्योतन की सेना बहुत बड़ी थी। सागर के समान उसकी विशाल सेना को देख कर शतानीक हिम्मत हार गया। डर के कारण उसे भयातिसार हो गया और अन्त में उसी रोग से उसकी मृत्यु हो गई।

अकस्मात् अपने पति का मरण जान कर मृगावती को बहुत दुःख हुआ। अपने शील की रक्षा के लिए उचित अवसर जान कर उस ने शोक को हृदय में दबा लिया और एक चाल चली। उसने चण्डप्रद्योतन को कहलाया– मेरे पति का आप के भय से देहान्त हो गया है। इस लिए लौकिक रीति के अनुसार मैं अभी शोक में हूँ। मेरा पुत्र उदयन कुमार अभी छोटा है। वह राज्य को नहीं सम्भाल सकता। इस लिए कुछ समय बाद जब उदयन

कुमार राज्य सम्भाल लेगा और मैं शोकमुक्त हो जाऊँगी तो स्वयं आपके पास चली आऊँगी। आप किसी बात के लिए मुझ पर अप्रसन्न न होइएगा। यदि आपने मेरी इस बात पर ध्यान न दिया और शोक की अवस्था में भी राज्य और मुझ पर अधिकार जमाने का प्रयत्न किया तो मुझे प्राण त्यागने पड़ेंगे। इससे आपका मनोरथ मिट्टी में मिल जाएगा। इस लिए लड़ाई बन्द करके आप अपने राज्य की ओर चले जाइये इसी में कल्याण है।

राजा ने मृगावती की बात मान ली और लड़ाई बन्द करके सेना सहित अवन्ती की ओर प्रस्थान कर दिया।

चण्डप्रद्योतन के लौट जाने पर मृगावती ने पति का मृत्यु संस्कार किया। कौशाम्बी के चारों ओर मजबूत दीवाल बनवाई जिससे शत्रु शीघ्र नगरी में न घुस सके। उदयनकुमार को अस्त्र शस्त्रों की शिक्षा दी। धीरे धीरे उसे राज्य का भार सम्भालने योग्य बना दिया।

चण्डप्रद्योतन अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए उत्कण्ठित था। कुछ वर्षों के बाद उसने मृगावती को बुलाने के लिए अपने सेवकों को भेजा। सेवकों ने कौशाम्बी में जाकर मृगावती को चण्डप्रद्योतन का सन्देश सुनाया। मृगावती ने उत्तर दिया- मैं तुम्हारे राजा को मन से भी नहीं चाहती। मैंने अपने शील की रक्षा के लिए युक्ति रची थी। महाराजा शतानीक की मृत्यु हो जाने से मैं आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करूँगी। किसी दूसरे पुरुष को पति के रूप में स्वीकार नहीं कर सकती। इस लिए तुम लोग वापिस जाकर अपने राजा से कह दो कि वह अपने पापपूर्ण विचारों को छोड़ दे।

सेवकों को इस बात से खुशी हुई कि मृगावती अपने शील पर दृढ़ है। उन्होंने अवन्ती में जाकर सारी बात राजा से कही। चण्डप्रद्योतन ने उसी समय कौशाम्बी पर चढ़ाई कर दी और नगरी के

पास पड़ाव डाल कर दूत द्वारा मृगावती को कहलाया– मृगावती ! यदि तुम अपना और अपने पुत्र का भला चाहती हो तो शीघ्र मेरी बात मानलो नहीं तो तुम्हारा राज्य नष्ट कर दिया जायगा।

मृगावती ने आपत्ति को आई हुई जान कर नगरी के प्राकार पर सिपाहियों को तैनात कर दिया। सब प्रकार का प्रबन्ध करके वह अपने शील की रक्षा के लिए नवकार मन्त्र का जाप करने लगी।

उसी समय ग्रामानुग्राम विचर कर जगत् का कल्याण करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कौशाम्बी पधारे। नगरी के बाहर देवों ने समवसरण की रचना की। भगवान् के प्रभाव से आस पास के सभी प्राणी अपने वैर को भूल गए। राजा चण्ड-प्रद्योतन पर भी असर पड़ा। भगवान् का उपदेश सुनने के लिए वह समवसरण में आया। मृगावती को भी भगवान् के आगमन का समाचार जान कर बड़ी खुशी हुई। अपने पुत्र को साथ लेकर वह नगरी के बाहर भगवान् के दर्शनार्थ गई। वह भी धर्मोपदेश सुनने के लिए बैठ गई। भगवान् ने सभी के लिए हितकारक उप-देश देना शुरू किया।

भगवान् के उपदेश से मृगावती ने उसी समय दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। यह सुन कर चण्डप्रद्योतन को भी बड़ा हर्ष हुआ। उसने उदयन को कौशाम्बी के राजसिंहासन पर बैठा कर राज्या-भिषेक महोत्सव मनाया। मृगावती ने भी राजा को सदैव इसी प्रकार उदयन के ऊपर अपनी कृपादृष्टि बनाए रखने का सन्देश दिया।

इस के बाद मृगावती ने भगवान् के पास दीक्षा धारण कर ली तथा महासती चन्दनबाला की आज्ञा में विचरने लगी।

एक बार श्रमण भगवान् महावीर विचरते हुए कौशाम्बी पधारे। चन्दनबाला का भी अपनी शिष्याओं के साथ वहीं आगमन हुआ। एक दिन मृगावती अपनी गुरुआनी सती चन्दनबाला की आज्ञा

लेकर भगवान् के दर्शनार्थ गई। वापिस लौटते समय रास्ते में भीड़ होने के कारण उसे बहुत देर खड़ी रहना पड़ा। इतने में रात हो गई। मृगावती अंधेरा हो जाने पर उपाश्रय में पहुँची। वहाँ आकर उसने चन्दनबाला को वन्दना की। प्रवर्तिनी होने के कारण उसे उपालम्भ देते हुए चन्दनबाला ने कहा– साध्वियों को सूर्यास्त के बाद उपाश्रय के बाहर न रहना चाहिये।

मृगावती अपना दोष स्वीकार करके उसके लिये पश्चात्ताप करने लगी। समय होने पर चन्दनबाला तथा दूसरी साध्वियाँ अपने अपने स्थान पर सो गईं, किन्तु मृगावती बैठी हुई पश्चात्ताप करती रही। धीरे धीरे उसके घाती कर्म नष्ट हो गए। उसे केवलज्ञान होगया।

अँधेरी रात थी। सब सतियाँ सोई हुई थीं। उसी समय मृगावती ने अपने ज्ञान द्वारा एक काला साँप देखा। वह चन्दनबाला के हाथ की तरफ आ रहा था। यह देख कर मृगावती ने चन्दनबाला के हाथ को उठा लिया। हाथ के छूए जाने से चन्दनबाला की नींद खुल गई। पूछने पर मृगावती ने साँप की बात कह दी और निद्राभंग करने के लिए क्षमा मांगी।

चन्दनबाला ने पूछा–अंधेरे में आपने साँप को कैसे देख लिया? मृगावती ने उत्तर दिया– आपकी कृपा से मेरे दोष नष्ट हो गए हैं, अतः ज्ञान की ज्योति प्रकट हुई है। चन्दनबाला– पूर्ण या अपूर्ण?

मृगावती- आपकी कृपा होने पर अपूर्णता कैसे रह सकती है?

चन्दनबाला– तब तो आपको केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। बिना जाने मुझ से आशातना हुई है। मेरा अपराध क्षमा कीजिए।

चन्दनबाला ने मृगावती को वन्दना की। केवली की आशातना के लिए वह पश्चात्ताप करने लगी। उसी समय उसके घाती कर्म नष्ट हो जाने से उसे भी केवलज्ञान होगया।

आयुष्य पूरी होने पर सती मृगावती सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुई।

(८) सुलसा

आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पहले की बात है। मगध देश में राजगृही नाम की विशाल नगरी थी। वहाँ श्रेणिक नाम का प्रतापी राजा राज्य करता था। उसके सुनन्दा नाम वाली भार्या से उत्पन्न हुआ अभयकुमार नामक पुत्र था। वह औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी रूप चारों बुद्धियों का निधान था। वही राजा का प्रधान मंत्री था। नगरी धन, धान्य आदि से पूर्ण तथा सुखी थी।

उसी नगरी में नाग नाम का रथिक रहता था। वह राजा श्रेणिक का सेवक था। उसके श्रेष्ठ गुणों वाली सुलसा नामक भार्या थी। नाग सारथी ने गुरु के समक्ष यह नियम कर लिया था कि मैं कभी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करूँगा। दोनों स्त्री पुरुष परस्पर प्रेमपूर्वक सुख से जीवन व्यतीत करते थे। सुलसा सम्यक्त्व में दृढ़ थी। उसे कभी क्रोध न आता था।

एक बार नाग रथिक ने किसी सेठ के पुत्रों को आंगन में खेलते हुए देखा। बच्चे देवकुमार के समान सुन्दर थे। उनके खेल से सारा आंगन हास्यमय हो रहा था। उन्हें देख कर नाग रथिक के मन में आया– पुत्र के बिना घर सूना है। सब प्रकार का सुख होने पर भी सन्तान के बिना फीका मालूम पड़ता है। इस प्रकार के विचारों से उसके हृदय में पुत्रप्राप्ति की प्रबल इच्छा जाग उठी। वह पुत्रप्राप्ति के लिए विविध प्रकार के उपाय सोचने लगा। इस के लिए वह मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना करने लगा। सुलसा ने यह देख कर उससे कहा– प्राणनाथ! पुत्र, यश, धन आदि सभी वस्तुओं की प्राप्ति अपने अपने कर्मानुसार होती है। बाँधे हुए कर्म भोगने ही पड़ते हैं। इस में मनुष्य या देव कुछ नहीं कर सकते। मालूम पड़ता है, मेरे गर्भ से कोई सन्तान न होगी इस

लिए आप दूसरा विवाह कर लीजिए ।

नाग सारथी ने उत्तर दिया– मुझे तुम्हारे ही पुत्र की आवश्यकता है। मैं दूसरा विवाह नहीं करना चाहता।

सुलसा ने कहा– सन्तान, धन आदि किसी वस्तु का अभाव अन्तराय कर्म के उदय से होता है। अन्तराय को दूर करने के लिए हमें दान, तप, पच्चक्खाण आदि धर्म कार्य करने चाहिएं । धर्म से सभी बातों की प्राप्ति होती है। धर्म ही कल्पवृक्ष है। धर्म ही चिन्तामणि रत्न तथा कामधेनु है। भोले प्राणी स्वर्ग और मोक्ष के देने वाले धर्म को छोड़ कर इधर उधर भटकते हैं। उत्तम कुल, दीर्घ आयुष्य,स्वस्थ शरीर,पूर्ण इन्द्रियाँ, अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति. परस्पर प्रेम, गुणों का अनुराग, उत्तम सन्तान तथा ऐश्वर्य आदि सभी बातें धर्म से प्राप्त होती हैं। घर में लक्ष्मी, बाहु में बल, हाथों द्वारा दान, देह में सुन्दरता, मुंह में अमृत के समान मीठी वाणी तथा कीर्ति आदि सभी गुणों का कारण धर्म है।

किसी वस्तु के अपने पास न होने पर खेद न करना चाहिए। उसकी प्राप्ति के लिए शुभ कर्म तथा पुण्य उपार्जन करना चाहिये।

सुलसा की बात सुन कर नाग सारथी की भी धर्म की ओर विशेष रुचि हो गई। दोनों उसी दिन से दान, त्याग और तपस्या आदि धर्म कार्यों में विशेष अनुराग रखने लगे।

एक बार देवों की सभा लगी हुई थी। मनुष्यलोक की बात चली। शक्रेन्द्र ने सुलसा की प्रशंसा करते हुए कहा–भरतखण्ड के मगध देश की राजगृही नगरी में नाग नाम का सारथी रहता है। उसकी भार्या सुलसा को कभी क्रोध नहीं आता। वह धर्म में ऐसी दृढ़ है कि देव दानव या मनुष्य कोई भी उसे विचलित करने में समर्थ नहीं है। इन्द्र द्वारा की गई प्रशंसा को सुन कर हरिणगवेषी देव सुलसा की परीक्षा करने के लिए मृत्युलोक में आया। दो

साधुओं का रूप बना कर वह सुलसा के घर गया। साधुओं को देख कर सुलसा बहुत हर्षित हुई। मन में सोचने लगी– मेरा अहोभाग्य है कि निर्ग्रन्थ साधु भिक्षा के लिए मेरे घर पधारे हैं। साधुओं को वन्दना नमस्कार करने के बाद सुलसा ने हाथ जोड़ कर विनति की– मुनिराज! आप के पधारने से मेरा घर पवित्र हुआ है। आप को जिस वस्तु की चाहना हो फरमाइए।

मुनि ने उत्तर दिया– तुम्हारे घर में लक्षपाक तेल है। उग्र विहार के कारण बहुत से साधु ग्लान हो गए हैं। उनके उपचार के लिए इसकी आवश्यकता है।

'लाती हूँ' कह कर हर्षित होती हुई सुलसा तेल लाने के लिए अन्दर गई, जैसे ही वह ऊपर रक्खे तेल के भाजन को उतारने लगी कि देवमाया के प्रभाव से वह हाथ से फिसल कर नीचे गिर पड़ा। इसी प्रकार दूसरा और तीसरा भाजन भी नीचे गिर कर फूट गया।

इतना नुक्सान होने पर भी सुलसा के मन में बिल्कुल खेद नहीं हुआ। बाहर आकर उसने सारा हाल साधुजी से कहा। साधुवेषधारी देव प्रसन्न हो गया। उसने अपने असली रूप में प्रकट होकर सुलसा से कहा– शक्रेन्द्र ने जैसी तुम्हारी प्रशंसा की थी, वास्तव में तुम वैसी ही हो। मैंने तुम्हारी परीक्षा के लिए साधु का वेष बनाया था। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। जो तुम्हारी इच्छा हो मांगो।

सुलसा ने उत्तर दिया– आप मेरे हृदय की बात जानते ही हैं, फिर मुझे कहने की क्या आवश्यकता है?

देव ने ज्ञान द्वारा उसके पुत्रप्राप्ति रूप मनोरथ को जान कर सुलसा को बत्तीस गोलियाँ दीं और कहा– एक एक गोली खाती जाना। इनके प्रभाव से तुम्हें बत्तीस पुत्रों की प्राप्ति होगी। फिर कभी जब आवश्यकता पड़े मेरा स्मरण करना, मैं उसी समय उपस्थित हो जाऊँगा। यह कह कर देव अन्तर्धान हो गया।

गोलियाँ खाने से पहले सुलसा ने सोचा– मैं बत्तीस पुत्रों का क्या करूँगी ? यदि शुभ लक्षणों वाला एक ही पुत्र हो तो वही घर को आनन्द से भर देता है। अकेला चाँद रात्रि को प्रकाशित कर देता है किन्तु अनगिनत तारों से कुछ नहीं होता। इसी प्रकार एक ही गुणी पुत्र वंश को उज्ज्वल बना देता है, निर्गुण बहुत से पुत्र भी कुछ नहीं कर सकते। अधिक पुत्रों के होने से धर्मकार्य में भी बाधा पड़ती है। यदि मेरे बत्तीस लक्षणों वाला एक ही पुत्र उत्पन्न हो तो बहुत अच्छा है। यह सोच कर उसने सभी गोलियाँ एक साथ खा लीं। उसके प्रभाव से सुलसा के बत्तीस गर्भ रह गए और धीरे धीरे बढ़ने लगे। सुलसा के उदर में भयङ्कर वेदना होने लगी। उस असह्य वेदना की शान्ति के लिए सुलसा ने हरिणगवेषी देव का स्मरण किया। देव ने प्रकट होकर सुलसा से कहा तुम्हें एक एक गोली खानी चाहिए थी। बत्तीस गोलियों को एक साथ खाने से तुम्हारे एक साथ बत्तीस पुत्रों का जन्म होगा। इन में से किसी एक की मृत्यु होने पर सभी मर जाएंगे। यदि तुम अलग अलग बत्तीस गोलियाँ खाती तो अलग अलग बत्तीस पुत्रों को जन्म देती।

सुलसा ने उत्तर दिया– प्रत्येक प्राणी को अपने किए हुए कर्म भोगने ही पड़ते हैं। आपने तो अच्छा ही किया था किन्तु अशुभ कर्मोदय के कारण मुझ से गल्ती हो गई। यदि आप इस वेदना को शान्त कर सकते हों तो प्रयत्न कीजिए नहीं तो मुझे बाँधे हुए कर्म भोगने ही पड़ेंगे।

हरिणगवेषी देव ने सुलसा की वेदना को शान्त कर दिया। समय पूरा होने पर उसने शुभ लक्षणों वाले बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया। बड़े धूमधाम से पुत्रों का जन्म महोत्सव मनाया गया। बारहवें दिन सभी के अलग अलग नाम रक्खे गए।

पाँच पाँच धायमाताओं की देखरेख में सभी पुत्र धीरे धीरे बढ़ने लगे। नाग रथिक का घर पुत्रों के मधुर शब्द, सरल हँसी तथा बालक्रीडाओं से भर गया। सभी बालक एक से एक बढ़ कर सुन्दर थे। उन्हें देख कर माता पिता के हर्ष की सीमा न रही। योग्य अवस्था होने पर सभी को धर्म, कर्म और शस्त्र सम्बन्धी शिक्षा दी गई। सभी कुमार पुरुष की कलाओं में प्रवीण हो गए और राजा श्रेणिक की नौकरी करने लगे। युवा अवस्था प्राप्त होने पर नाग रथिक ने कुलीन और गुणवती कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया।

एक बार राजा श्रेणिक के पास कोई तापसी (संन्यासिनी) एक चित्र लाई। वह चित्र वैशाली के राजा चेटक की सुज्येष्ठा नामक पुत्री का था। उसे देख कर श्रेणिक के मन में उससे विवाह करने की इच्छा हुई। पिता की इच्छा पूरी करने के लिए अभय कुमार वणिक का वेश बना कर वैशाली में गया। वहाँ जाकर राजमहल के समीप दुकान कर ली। उसकी दुकान पर सुज्येष्ठा की एक दासी सुगन्धित वस्तुओं को खरीदने के लिए आने लगी। अभयकुमार ने एक पट पर श्रेणिक का चित्र बना रक्खा था। जिस समय दासी दुकान पर आती वह उस चित्र की पूजा करने लगता। एक बार दासी ने पूछा– यह किस का चित्र है?

मैं यह नहीं बता सकता, अभयकुमार ने उत्तर दिया। दासी के बहुत आग्रहपूर्वक पूछने पर अभयकुमार ने कहा– यह चित्र राजा श्रेणिक का है।

दासी ने सारी बात सुज्येष्ठा से कही। सुज्येष्ठा ने दासी से कहा ऐसा प्रयत्न करो जिससे इस राजा के साथ मेरा विवाह हो जाय। दासी ने जाकर यह बात अभयकुमार से कही। इस पर अभय कुमार ने एक सुरंग तैयार कराई और श्रेणिक महाराज को कह-

लाया-चैत्र शुक्ला द्वादशी के दिन इस सुरंग के द्वारा आप यहाँ आजाइएगा। सुज्येष्ठा को भी इस बात की खबर कर दी कि श्रेणिक राजा द्वादशी के दिन वैशाली में आएंगे।

उसी दिन श्रेणिक आया। सुज्येष्ठा उसके साथ जाने के लिए तैयार होने लगी। इतने में उसकी छोटी बहिन चेलणा ने कहा- मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी और श्रेणिक के साथ विवाह करूँगी। दोनों बहिनें तैयार होकर सुरंग के मुँह पर आई। वहाँ आकर सुज्येष्ठा बोली- मैं अपना रत्नों का पिटारा भूल आई हूँ। मैं उसे लेने जाती हूँ। मेरे आने तक तुम यहीं ठहरना। यह कह कर वह रत्नकरण्ड लाने वापिस चली गई। इतने में श्रेणिक वहाँ आ पहुँचा। वह सुलसा के बत्तीस पुत्रों के साथ वहाँ आया था। सुरंग के द्वार पर खड़ी हुई चेलणा को सुज्येष्ठा समझ कर श्रेणिक ने उसे रथ पर बिठा लिया और शीघ्रता से राजगृही की ओर प्रस्थान कर दिया।

इतने में सुज्येष्ठा आई। सुरंग के द्वार पर किसी को न देख कर वह समझ गई कि चेलणा अकेली चली गई है। उसने चिल्लाना शुरू किया। चेड़ा महाराज को खबर पहुँची। पुत्री का हरण हुआ जान कर उन्होंने पीछा किया। सुलसा के पुत्रों ने चेड़ा राजा की सेना को मार्ग ही में रोक लिया। युद्ध शुरू हुआ। उस में सुलसा का एक पुत्र मारा गया। एक की मृत्यु से बाकी बचे हुए इकतीस पुत्रों की भी मृत्यु हो गई। श्रेणिक चेलणा को लेकर राजगृही के समीप पहुँचा। राजा ने उसे सुज्येष्ठा के नाम से बुलाया तो चेलणा ने कहा- मैं सुज्येष्ठा नहीं हूँ। मैं तो उसकी छोटी बहिन चेलणा हूँ। राजा को अपनी भूल का पता लगा। बड़े समारोह के साथ श्रेणिक और चेलणा का विवाह हो गया।

सुलसा को अपने पुत्रों की मृत्यु का समाचार सुन कर बड़ा दुःख हुआ। वह विलाप करने लगी। एक साथ बत्तीस पुत्रों की

मृत्यु उसके लिए असह्य हो गई। उस का रुदन सुन कर आस पास के लोग भी शोक करने लगे। उस समय अभयकुमार नाग-रथिक के घर आया और सुलसा को सान्त्वना देने के लिए कहने लगा– सुलसे ! धर्म पर तुम्हारी दृढ़ श्रद्धा है। तुम उसके मर्म को पहिचानती हो। अविवेकी पुरुष के समान विलाप करना तुम्हें शोभा नहीं देता। यह संसार इन्द्रजाल के समान है। इन्द्रधनुष के समान नश्वर है। हाथी के कानों के समान चपल है। सन्ध्या राग के समान अस्थिर है। कमलपत्र पर पड़ी हुई बूँद के समान क्षणिक है। मृगतृष्णा के समान मिथ्या है। यहाँ जो आया है वह अवश्य जायगा। नष्ट होने वाली वस्तु के लिए शोक करना वृथा है। अभयकुमार के इस प्रकार के वचनों को सुन कर सुलसा और नाग रथिक का शोक कुछ कम हो गया। संसार की विचित्रता को समझ कर उन्होंने दुःख करना छोड़ दिया।

कुछ दिनों बाद भगवान् महावीर चम्पा नगरी में पधारे। नगरी के बाहर देवों ने समवसरण की रचना की। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। देशना के अन्त में अम्बड़ नाम का विद्याधारी श्रावक खड़ा हुआ। विद्या के बल से वह कई प्रकार के रूप पलट सकता था। वह राजगृही का रहने वाला था। उसने कहा–प्रभो ! आपके उपदेश से मेरा जन्म सफल होगया। अब मैं राजगृही जा रहा हूँ।

भगवान् ने फरमाया – राजगृही में सुलसा नाम वाली श्राविका है। वह धर्म में परम दृढ़ है।

अम्बड़ ने मन में सोचा– सुलसा श्राविका बड़ी पुण्यशालिनी है, जिसके लिए भगवान् स्वयं इस प्रकार कह रहे हैं। उसमें ऐसा कौन सा गुण है जिससे भगवान् ने उसे धर्म में दृढ़ बताया। मैं उसके सम्यक्त्व की परीक्षा करूँगा। यह सोच कर उसने परिव्राजक (संन्यासी) का रूप बनाया और सुलसा के घर जाकर कहा– आयुष्मति !

मुझे भोजन दो इससे तुम्हें धर्म होगा। सुलसा ने उत्तर दिया- जिन्हें देने से धर्म होता है, उन्हें मैं जानती हूँ।

वहाँ से लौट कर अम्बड़ ने आकाश में पद्मासन रचा और उस पर बैठ कर लोगों को आश्चर्य में डालने लगा। लोग उसे भोजन के लिए निमन्त्रित करने लगे किन्तु उसने किसी का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। लोगों ने पूछा- भगवन्! ऐसा कौन भाग्यशाली है जिसके घर का भोजन ग्रहण करके आप पारणा करेंगे।

अम्बड़ ने कहा- मैं सुलसा के घर का आहार पानी ग्रहण करूँगा।

लोग सुलसा को बधाई देने आए। उन्होंने कहा- सुलसे! तुम बड़ी भाग्यशालिनी हो। तुम्हारे घर भूखा संन्यासी भोजन करेगा।

सुलसा ने उत्तर दिया- मैं इसे ढोंग मानती हूँ।

लोगों ने यह बात अम्बड़ से कही। अम्बड़ ने समझ लिया- सुलसा परम सम्यग्दृष्टि है जिससे महान् अतिशय देखने पर भी वह श्रद्धा में डाँवाडोल नहीं हुई।

इसके बाद अम्बड़ श्रावक ने जैन मुनि का रूप बनाया। 'णिसीहि णिसीहि' के साथ नमुक्कार मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसने सुलसा के घर में प्रवेश किया। सुलसा ने मुनि जान कर उसका उचित सत्कार किया। अम्बड़ श्रावक ने अपना असली रूप बता कर सुलसा की बहुत प्रशंसा की। उसे भगवान् महावीर द्वारा की हुई प्रशंसा की बात कही। इसके बाद वह अपने घर चला गया।

सम्यक्त्व में दृढ़ होने के कारण सुलसा ने तीर्थङ्कर गोत्र बाँधा। आगामी चौबीसी में उसका जीव पन्द्रहवें तीर्थङ्कर के रूप में उत्पन्न होगा और उसी भव में मोक्ष जायगा।

(ठाणाग सूत्र, ठाणा ९ सूत्र ६९१-६२ टीका)

(६) सीता

भरतक्षेत्र में मिथिला नाम की नगरी थी। वहाँ हरिवंशी राजा वासुकि का पुत्र राजा जनक राज्य करता था। उसका दूसरा नाम विदेह था। रानी का नाम विदेहा था। राजा न्याय-नीति-परायण था। प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था अतः प्रजा भी उसे बहुत मानती थी।

रानी विदेहा में राजरानी के योग्य सब ही गुण विद्यमान थे। सुख पूर्वक समय बिताती हुई रानी एक समय गर्भवती हुई। समय पूरा होने पर रानी की कुक्षि से एक युगल, अर्थात् एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुआ। इससे राजा, रानी और प्रजा को बहुत ही प्रसन्नता हुई।

इसी समय सौधर्म देवलोक का पिंगल नाम का देव अवधि-ज्ञान से अपना पूर्वभव देख रहा था। रानी विदेहा की कुक्षि से उत्पन्न होने वाले युगल सन्तान में से पुत्र रूप में उत्पन्न होने वाले जीव के साथ उसे अपने पूर्व भव के वैर का स्मरण हो आया। अपने वैर का बदला लेने के लिये वह शीघ्र ही रानी के प्रसूति-गृह में आया और वहाँ से बालक को उठा कर चल दिया। वह उसे मार डालना चाहता था किन्तु बालक की सुन्दर आकृति देख कर उसे उस पर दया आ गई। इससे उसे वैताढ्य पर्वत पर ले जाकर एक बन में सुनसान जगह पर रख दिया। इस प्रकार अपने वैर का बदला चुका हुआ मान कर वह वापिस अपने स्थान पर लौट आया।

वैताढ्य पर्वत पर रथनूपुर नाम का नगर था। वहाँ पर चन्द्रगति नाम का विद्याधर राज्य करता था। वनक्रीड़ा करता हुआ वह उधर निकल आया। एक सुन्दर बालक को पृथ्वी पर पड़ा हुआ

देख कर उसे आश्चर्य और प्रसन्नता दोनों हुए। उसने तत्काल बालक को उठा लिया और अपने महल की ओर रवाना हुआ। घर आकर उसने वह बालक रानी को दे दिया। उसके कोई सन्तान नहीं थी इस लिए ऐसे सुन्दर बालक को प्राप्त कर उसे बहुत खुशी हुई। बालक की प्राप्ति के विषय में राजा और रानी के सिवाय किसी को कुछ भी मालूम न था इस लिये उन दोनों ने विचार किया कि इसे अपना निजी पुत्र होना जाहिर करके धूमधाम से इसका जन्मोत्सव मनाना चाहिये। ऐसा विचार कर राजा ने अपने परिजनों में तथा शहर में यह घोषणा करा दी कि रानी सगर्भा थी किन्तु कई कारणों से यह बात अब तक गुप्त रखी गई थी। आज रानी की कुक्षि से एक पुत्ररत्न का जन्म हुआ है। इस घोषणा को सुन कर प्रजा में आनन्द छा गया। विविध प्रकार से खुशियाँ मनाई जाने लगीं। पुत्र जन्मोत्सव मना कर राजा ने पुत्र का नाम भामण्डल रखा। सुखपूर्वक लालन पालन होने से वह द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा। क्रमशः बढ़ता हुआ बालक यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ। अब राजा चन्द्रगति को उसके अनुरूप योग्य कन्या खोजने की चिन्ता हुई।

अपने यहाँ पुत्र तथा पुत्री के उत्पन्न होने की शुभ सूचना एक दासी द्वारा प्राप्त करके राजा जनक खुश हो ही रहे थे इतने ही में पुत्र-हरण की दुःखद घटना घटी। दूसरी दासी द्वारा इस खबर को सुन कर राजा की खुशी चिन्ता में परिणत हो गई। उनके हृदय को भारी चोट पहुँची जिससे वे मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। प्रजा में भी अत्यन्त शोक छा गया। शीतल उपचार करने पर राजा की मूर्च्छा दूर हुई। पुत्री को ही पुत्र मान कर उन्होंने संतोष किया। जन्मोत्सव मना कर पुत्री का नाम सीता रक्खा। पाँच धायों द्वारा लालन पालन की जाती हुई सीता सुरक्षित बेल की तरह बढ़ने लगी।

योग्य वय होने पर स्त्री की चौसठ कलाओं में वह प्रवीण हो गई। अब राजा विदेह को उसके योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई। वर में नीचे लिखी बातें अवश्य देखनी चाहियें–

कुलं च शीलं च सनाथता च,विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च।
वरे गुणाः सप्त विलोकनीयास्ततः परं भाग्यवशा हि कन्या॥

अर्थात्–कुल,शील (स्वभाव और आचरण),सनाथता, (माता पिता एवं भाई आदि परिवार), विद्या, धन, शरीर (स्वास्थ्य आदि) वय (उम्र) ये सात बातें वर के अन्दर देख कर ही कन्या देनी चाहिये। इसके बाद कन्या अपने भाग्याधीन है।

वैताढ्य पर्वत के दक्षिण में अर्द्धबर्बर नाम का एक देश था। वहाँ अन्तरंग नाम का एक म्लेच्छ राजा राज्य करता था। उसके बहुत से पुत्र थे। एक समय वे बड़ी भारी सेना लेकर मिथिला पर चढ़ आये और नाना प्रकार से उपद्रव करने लगे। राजा विदेह की सेना थोड़ी होने के कारण वह उनके उपद्रव रोकने में असमर्थ थी। उसकी सेना बारबार परास्त होती थी। यह देख कर राजा विदेह बहुत घबराया। सहायता के लिये अपने मित्र राजा दशरथ के पास उसने एक दूत भेजा। दूत की बात सुन कर राजा दशरथ अपने मित्र राजा विदेह की सहायता के लिए सेनासहित मिथिला जाने को तैयार हुए। उसी समय राम और लक्ष्मण आकर उनके सामने उपस्थित हुए और विनय पूर्वक अर्ज करने लगे कि हे पूज्य! आपकी वृद्धावस्था है। अतः हम लोगों को ही मिथिला जाने की आज्ञा दीजिये। पुत्रों का विशेष आग्रह देख कर राजा दशरथ ने उन्हें मिथिला की ओर विदा किया। वहाँ पहुँच कर राम और लक्ष्मण ने ऐसा पराक्रम दिखलाया कि म्लेच्छ राजा की सेना भाग गई। राजा विदेह और मिथिलावासी जनों को शान्ति मिली, वे निरुपद्रव होगए। उनका अद्भुत पराक्रम देख

कर राजा विदेह को बहुत प्रसन्नता हुई। उनका उचित सत्कार करके उन्हें अयोध्या की ओर विदा किया।

सीता का दूसरा नाम जानकी था। वह परमसुन्दरी एवं रूपवती थी। उसके रूप लावण्य की प्रशंसा चारों ओर फैल चुकी थी। एक समय नारद मुनि उसे देखने के लिये मिथिला में आये। राजमहल में आकर वे सीधे वहाँ पहुँचे जहाँ जानकी अपनी सखियों के साथ खेल रही थी। नारद मुनि के विचित्र रूप को देख कर जानकी डर कर भागने लगी, दासियों ने शोर किया जिससे राजपुरुष वहाँ पहुँचे और नारद मुनि को पकड़ कर अपमान पूर्वक महल से बाहर निकाल दिया। नारद मुनि को बड़ा क्रोध आया। वे इस अपमान का बदला लेने का उपाय सोचने लगे। सीता का एक चित्र बना कर वे वैताढ्य गिरि पर विद्याधरकुमार भामण्डल के पास पहुँचे। भामण्डल को वह चित्रपट दिखला कर सीता को हर लाने के लिये नारदमुनि उसे उत्साहित कर वहाँ से चले गये। चित्रपट देख कर भामण्डल सीता पर मुग्ध होगया। उसकी प्राप्ति के लिये वह रात दिन चिन्तित रहने लगा। राजपुत्र की चिन्ता और उदासीनता का कारण मालूम करके चन्द्रगति ने एक दूत जनक के पास भेजा और अपने पुत्र भामण्डल के लिये सीता की मांगणी की। दूत की बात सुन कर राजा जनक ने उत्तर दिया कि– मैंने अपनी प्यारी पुत्री सीता का स्वयंवर द्वारा विवाह करने का निश्चय किया है। स्वयंवर में सब राजाओं को निमन्त्रण दिया जायगा। मेरी प्रतिज्ञा के अनुसार देवाधिष्ठित वज्रावर्त नाम का धनुष वहाँ रखा जायगा। जो धनुष पर बाण चढ़ाने में समर्थ होगा उसी के साथ सीता का पाणिग्रहण होगा। दूत ने वैताढ्य गिरि पर आकर सारी बात चन्द्रगति को कह सुनाई। राजा ने भामण्डल को आश्वासन दिया और सीता के स्वयंवर की प्रतीक्षा करने लगा।

दूत के लौट जाने पर राजा जनक ने बहुत कुशल कारीगरों को बुला कर सुन्दर स्वयंवर मण्डप बनाने की आज्ञा दी। तत्पश्चात् राजा ने विविध देशों के राजाओं के पास स्वयंवर का निमन्त्रण भेजा। निश्चित तिथि पर अनेक राजा और राजकुमार स्वयंवर मण्डप में उपस्थित हुए। राजा दशरथ राम, लक्ष्मण आदि अपने पुत्रों के साथ और विद्याधर चन्द्रगति अपने पुत्र भामण्डल के साथ वहाँ आये। सभी राजाओं के यथायोग्य आसन पर बैठ जाने के पश्चात् राजा जनक ने धनुष की ओर संकेत करके सब राजाओं को अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई। इसी समय एक प्रतिहारी के साथ सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत सीता स्वयंवर मण्डप में आई। उस के अद्भुत रूप लावण्य को देख कर उपस्थित सभी राजा और राजकुमार उसकी प्राप्ति के लिये अपने अपने इष्टदेव का ध्यान करने लगे।

राजा जनक की प्रतिज्ञा सुन कर बैठे हुए राजकुमारों में से प्रत्येक बारी बारी से धनुप के पास आकर अपना बल आजमाने लगे किन्तु धनुष पर बाण चढ़ाना तो दूर रहा, उस धनुष को हिलाने में भी समर्थ न हुए। जो राजकुमार बड़े गर्व के साथ अकड़ कर धनुष के पास आते थे असफल होजाने पर वे लज्जा से सिर नीचा करके वापिस अपने आसन पर जा बैठते थे। राजकुमारों की यह दशा देख कर राजा जनक के हृदय में चिन्ता उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा– क्या क्षत्रियों का बल पराक्रम पूरा हो चुका है? क्या मेरी प्रतिज्ञा पूरी न होगी? क्या सीता का विवाह न हो सकेगा? उसके हृदय में इस प्रकार के संकल्प विकल्प उठ रहे थे। इतने ही में काकुत्स्थकुलदीपक दशरथनन्दन राम अपने आसन से उठे। धनुष के पास आकर अनायास ही उन्होंने धनुष को उठा कर उस पर बाण चढ़ा दिया। यह देख कर राजा जनक की प्रसन्नता की

सीमा न रही। उनकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। सीता ने परम हर्ष के साथ अपने भाग्य की सराहना करते हुए राम के गले में वरमाला डाल दी।

राजा जनक और राजा दशरथ पहले से मित्र थे। अब उनकी मित्रता और भी गहरी हो गई। राजा जनक ने विधिपूर्वक सीता का विवाह राम के साथ कर दिया। राजा दशरथ अपने पुत्र और पुत्रवधू को साथ लेकर सानन्द अयोध्या लौट आए और सुखपूर्वक समय बिताने लगे।

स्वयंवर में आए हुए दूसरे राजा लोग निराश होकर अपने अपने नगर को वापिस लौटे। विद्याधरकुमार भामण्डल को अत्यधिक निराशा हुई। सीता की प्राप्ति न होने से वह रात दिन चिन्तित एवं उदास रहने लगा।

एक समय चार ज्ञान के धारक एक मुनिराज अयोध्या में पधारे। राजा दशरथ अपने परिवार सहित धर्मोपदेश सुनने के लिए गया। भामण्डल को साथ लेकर आकाशमार्ग से गमन करता हुआ चन्द्रगति भी उधर से निकला। मुनिराज को देख कर वह नीचे उतर आया। भक्तिपूर्वक वन्दना नमस्कार कर वह वहाँ बैठ गया। 'भामण्डल अब भी सीता की अभिलाषा से संतप्त हो रहा है' यह बात अपने ज्ञान द्वारा जान कर मुनिराज ने समयोचित देशना दी। प्रसंगवश चन्द्रगति और उसकी रानी पुष्पवती के तथा भामण्डल और सीता के पूर्वभव कह सुनाये। उसी में भामण्डल और सीता का इस भव में एक साथ जन्म लेना और तत्काल पूर्वभव के वैरी एक देव द्वारा भामण्डल का हरा जाना आदि सारा वृत्तान्त भी कह सुनाया। इसे सुन कर भामण्डल को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। मूर्च्छित होकर वह उसी क्षण भूमि पर गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद उसकी मूर्च्छा दूर हुई। जिस तरह मुनिराज ने कहा था उसी प्रकार उसने अपने पूर्वभव का सारा वृत्तान्त जान लिया।

सीता को अपनी बहिन समझ कर उसने उसे प्रणाम किया। जन्म से बिछुड़े हुए अपने भाई को प्राप्त कर सीता को भी अत्यन्त प्रसन्नता हुई। चन्द्रगति ने दूत भेजकर राजा जनक और उसकी रानी विदेहा को भी वहाँ बुलवाया और जन्मते ही जिसका हरण होगया था वह यह भामण्डल तुम्हारा पुत्र है आदि सारा वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया। यह सुन कर उन्हें परम हर्ष हुआ और भामण्डल को अपना पुत्र समझ कर छाती से लगा लिया। अपने वास्तविक माता पिता को पहिचान कर भामण्डल को भी बहुत प्रसन्नता हुई। उसने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। अपना पूर्वभव सुन कर चन्द्रगति को वैराग्य उत्पन्न होगया। भामण्डल को राजसिंहासन पर बिठा कर दीक्षा अङ्गीकार कर ली।

राजा दशरथ ने भी मुनिराज से अपने पूर्वभव के विषय में पूछा। अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुन कर राजा दशरथ को भी वैराग्य उत्पन्न होगया। उन्होंने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को राज्य देकर दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया।

राम के राज्याभिषेक की तय्यारी होने लगी। रानी कैकयी की दासी मन्थरा से यह सहन नहीं हो सका। उसने कैकयी को उक-साया और संग्राम के समय राजा दशरथ द्वारा दिये गये दो वर मांगने के लिये प्रेरित किया। दासी की बातों में आकर कैकयी ने राजा से दो वर मांगे- मेरे पुत्र भरत को राजगद्दी मिले और राम को चौदह वर्ष का वनवास। अपने वचन का पालन करने के लिये राजा ने उसके दोनों वरदान स्वीकार किये। पिता की आज्ञा से राम वन जाने के लिये तय्यार हुए। जब यह बात सीता को मालूम हुई तो वह भी राम के साथ वन जाने को तय्यार हो गई। रानी कौशल्या के पास जाकर वन जाने की अनुमति माँगने लगी। कौशल्या ने कहा- पुत्रि! राम पिता की आज्ञा से

वन जा रहा है। वह वीर पुरुष है। उसके लिये कुछ कठिन नहीं है किन्तु तू बहुत कोमलाङ्गी है। तू सदा महलों में रही है। वन में शीत ताप आदि के तथा पैदल चलने के कष्ट को कैसे सहन कर सकेगी? सीता ने कहा– माताजी! आपका कहना ठीक है किन्तु आपका आशीर्वाद मेरी सब कठिनाइयों को दूर करेगा। जिस प्रकार रोहिणी चन्द्रमा का, बिजली मेघ का और छाया पुरुष का अनुसरण करती है उसी प्रकार पतिव्रता स्त्रियों को अपने पति का अनुसरण करना चाहिए। पति के सुख में सुखी और दुःख में दुखी रहना उनका परम धर्म है। इस प्रकार विनय पूर्वक निवेदन कर सीता ने कौशल्या से वन जाने की आज्ञा प्राप्त कर ली।

राम की वन जाने की बात सुन कर लक्ष्मण एकदम कुपित हो गया। वह कहने लगा कि मेरे रहते हुए राम के राजगद्दी के हक को कौन छीन सकता है? पिताजी तो सरल प्रकृति के हैं किन्तु स्त्रियाँ स्वभावतः कुटिल हुआ करती हैं। अन्यथा कैकयी अपना वरदान इस समय क्यों माँगती? मैं राम को वन में न जाने दूँगा। मैं उन्हें राजगद्दी पर बिठाऊँगा। ऐसा सोच कर लक्ष्मण राम के पास आया। राम ने समझा कर उसका क्रोध शान्त किया। वह भी राम के साथ वन जाने को तय्यार हो गया। तत्पश्चात् सीता और लक्ष्मण सहित राम वन की ओर रवाना हो गए।

एक समय एक सघन वन में एक झोंपड़ी बना कर सीता, लक्ष्मण और राम ठहरे हुए थे। सीता के अद्भुत रूप लावण्य की शोभा सुन कर कामातुर बना हुआ रावण संन्यासी का वेष बना कर वहाँ आया। राम और लक्ष्मण के बाहर चले जाने पर वह झोंपड़ी के पास आया और भिक्षा माँगने लगा। भिक्षा देने के लिये जब सीता बाहर निकली तो रावण ने उसे पकड़ लिया और अपने पुष्पक विमान में बिठा कर लंका ले गया। वहाँ ले जाकर सीता को

अशोक वाटिका में रख दिया। अब कामी रावण सीता को अनेक तरह के प्रलोभन देकर उसे अपने जाल में फंसाने की चेष्टा करने लगा। हे देवि ! तुम प्रसन्न होकर मुझे स्वीकार करो। मैं तुम्हारा दास बन कर रहूँगा। मैं तुम्हें अपनी पटरानी बना कर रखूँगा। तुम्हारी आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करूँगा। किसी स्त्री पर बलात्कार न करने का मेरे नियम लिया हुआ है। अतः हे देवि ! तू मुझे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर। सीता ने रावण के शब्दों पर कुछ भी ध्यान न दिया। वह तो अपने मन में 'राम राम' की रट लगा रही थी। जब रावण ने देखा कि सीता पर उसके बताये गये प्रलोभनों का कुछ भी असर नहीं हो रहा है तब वह उसे अपनी तलवार का डर दिखाने लगा। सीता इससे डरने वाली न थी। उसने निर्भीक होकर जवाब दिया कि हे रावण ! तू अपनी तलवार का डर किसे बता रहा है? मुझे अपना पतिव्रत धर्म प्राणों से भी प्यारा है। अपने सतीत्व की रक्षा के लिये मैं हँसते हँसते अपने प्राण न्योछावर कर सकती हूँ। जिस प्रकार जीवित सिंह की मूँछों के बाल उखाड़ना और जीवित शेषनाग के मस्तक की मणि को प्राप्त करना असम्भव है उसी प्रकार सतियों के सतीत्व का अपहरण करना भी असम्भव है।

रावण ने साम, दाम, दण्ड और भेद इन चारों नीतियों का प्रयोग सीता पर कर लिया किन्तु उसकी एक भी युक्ति सफल न हुई। सीता को अपने सतीत्व में मेरु के समान निश्चल एवं दृढ समझ कर रावण निराश हो गया। वह वापिस अपने महल को लौट गया किन्तु वह कामाग्नि में दग्ध होने लगा। अपने पति की यह दशा देख कर मन्दोदरी को बहुत दुःख हुआ। वह कहने लगी– हे स्वामिन् ! सीता का हरण करके आपने बहुत अनुचित कार्य किया है। आप सरीखे उत्तम पुरुषों को यह कार्य

नाम की तीन रानियाँ और थीं। सीता को सगर्भा जान कर उनके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वे उस पर कोई कलंक चढ़ाना चाहती थीं अतः रातदिन उसका छिद्र ढूँढ़ने लगीं। एकदिन कपटपूर्वक उन्होंने सीता से पूछा कि सखि! तुम लंका में बहुत समय तक रही थी और रावण को भी देखा था। हमें भी बताओ कि रावण का रूप कैसा था? सीता की प्रकृति सरल थी। उसने कहा– बहिनो! मैंने रावण का रूप नहीं देखा किन्तु कभी कभी मुझे डराने धमकाने के लिए वह अशोक वाटिका में आया करता था इसलिए उसके केवल पैर मैंने देखे हैं। सौतों ने कहा– अच्छा उसके पैर ही चित्रित करके हमें दिखाओ। उन्हें देखने की हमें बहुत इच्छा हो रही है। सरल प्रकृति वाली सीता उनके कपटभाव को न जान सकी। सरल भाव से उसने रावण के दोनों पैर चित्रित कर दिये। सौतों ने उन्हें अपने पास रख लिया। अब वे अपनी इच्छा को पूरी करने का उचित अवसर देखने लगीं। एक समय राम अकेले बैठे हुए थे। तब सब सौतें मिल कर उनके पास गईं। चित्र दिखा कर वे कहने लगीं– स्वामिन्! जिस सीता को आप पतिव्रता और सती कहते हैं उसके चरित्र पर जरा गौर कीजिए। वह अब भी रावण की ही इच्छा करती है। वह नित्यप्रति इन चरणों के दर्शन करती है। सौतों की बात सुन कर राम विचार में पड़ गये किन्तु किसी अनबन के कारण सौतों ने यह बात बनाई होगी यह सोच कर राम ने उनकी बातों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। अपना प्रयास असफल होते देख सौतों की ईर्ष्या और भी बढ़ गई। उन्होंने अपनी दासियों द्वारा लोगों में धीरे धीरे यह बात फैलानी शुरू की। इससे लोग भी अब सीता को सकलंक समझने लगे।

एक दिन रात्रि के समय राम सादा वेष पहन कर लोगों का सुख दुःख जानने के लिये नगर में निकले। घूमते हुए वे एक धोबी के घर

शोभा नहीं देता। सीता महासती है। वह मन से भी परपुरुष की इच्छा नहीं करती। सतियों को कष्ट देना ठीक नहीं है। अतः आप इस दुष्ट वासना को हृदय से निकाल दीजिए और शीघ्र ही सीता को वापिस राम के पास पहुँचा दीजिए। रावण के छोटे भाई विभीषण ने भी रावण को बहुत कुछ समझाया किन्तु रावण तो कामान्ध बना हुआ था। उसने किसी की बात पर ध्यान न दिया।

राम लक्ष्मण जब वापिस लौट कर झोंपड़ी पर आये तो उन्होंने वहाँ सीता को न देखा, इससे उन्हें बहुत दुःख हुआ। वे इधर उधर सीता की खोज करने लगे किन्तु सीता का कहीं पता न लगा। सीता की खोज में घूमते हुए राम लक्ष्मण की सुग्रीव से भेट हो गई। सीता की खोज के लिये सुग्रीव ने भी चारों दिशाओं में अपने दूत भेजे। हनुमान् द्वारा सीता की खबर पाकर राम, लक्ष्मण और सुग्रीव बहुत बड़ी सेना लेकर लंका गये। अपनी सेना को सज्जित कर रावण भी युद्ध के लिये तय्यार हुआ। दोनों तरफ की सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। कई वीर योद्धा मारे गये। अन्त में वासुदेव लक्ष्मण द्वारा प्रतिवासुदेव रावण मारा गया। राम की विजय हुई। सीता को लेकर राम और लक्ष्मण अयोध्या को लौटे। माता कौशल्या, सुमित्रा और कैकयी को तथा भरत को और सभी नगर निवासियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। सभी ने मिल कर राम का राज्याभिषेक किया। न्याय नीतिपूर्वक प्रजा का पुत्रवत् पालन करते हुए राजा राम सुखपूर्वक दिन बिताने लगे।

एक समय रात्रि के अन्तिम भाग में सीता ने एक शुभ स्वप्न देखा। उसने अपना स्वप्न राम से कहा। स्वप्न सुन कर राम ने कहा— देवि ! तुम्हारी कुक्षि से किसी वीरपुत्र का जन्म होगा। सीता यतना पूर्वक अपने गर्भ का पालन करने लगी।

सीता के सिवाय राम के प्रभावती, रतिनिभा और श्रीदामा

के पास जा पहुँचे। धोबिन रात में देरी से आई थी। वह दरवाजा खटखटा रही थी। धोबी उसे बुरी तरह से डाट रहा था और कह रहा था कि मैं राम थोड़ा ही हूँ जिन्होंने रावण के पास रही हुई सीता को वापिस अपने घर में रख लिया। धोबी के इन शब्दों ने राम के हृदय को भेद डाला। उन्होंने सीता को त्यागने का निश्चय कर लिया।

दूसरे दिन राम ने सारी हकीकत लक्ष्मण से कही। लक्ष्मण ने कहा—पूज्य भ्राता! आप यह क्या कह रहे हैं? सीता शुद्ध है। वह महासती है। उसके विषय में किसी प्रकार की भी शङ्का न करनी चाहिये। राम ने कहा— तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु लोकापवाद से रघुकुल का निर्मल यश मलिन होता है। मैं इसे सहन नहीं कर सकता।

दूसरे दिन प्रातःकाल राम ने सीता को वन के दृश्य देखने रूप दोहद को पूरा करने के बहाने से रथ में बैठा कर जंगल में भेज दिया। एक भयंकर जंगल के अन्दर ले जाकर सारथी ने सीता से सारी हकीकत कही। सुनते ही सीता मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। शीतल पवन से कुछ देर बाद उसकी मूर्च्छा दूर हुई। सीता की यह दशा देख कर सारथी बहुत दुखी हुआ किन्तु वह विवश था। सीता को वहाँ छोड़ कर वह वापिस अयोध्या लौट आया। सीता अपने मन में सोच रही थी कि मैंने ऐसा कौन सा अशुभ कार्य किया या किसी पर झूठा कलंक चढाया है जिसके परिणाम स्वरूप इस जन्म में मुझ पर यह झूठा कलंक लगा है।

पुण्डरीकपुर का स्वामी राजा वज्रजंघ अपने मंत्रियों सहित उस वन में हाथी पकड़ने के लिये आया था। अपना कार्य करके वापिस लौटते हुए उसने विलाप करती हुई सीता को देखा। नजदीक जाकर उसने सीता से उसके दुःख का कारण पूछा। प्रधानमन्त्री ने राजा का परिचय देते हुए कहा— हे सुभगे! ये पुण्डरीकपुर के राजा वज्रजंघ हैं। ये परनारी के सहोदर परम श्रावक हैं। तुम

अपना वृत्तान्त इनसे कहो। ये अवश्य तुम्हारा दुःख दूर करेंगे।

मन्त्री के कथन पर विश्वास करके सीता ने अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा कहने लगा– हे आर्ये! एक धर्म वाले परस्पर बन्धु होते हैं। इसलिये तुम मेरी धर्म बहिन हो। तुम मुझे अपना भाई समझ कर मेरे घर को पावन करो और धर्म ध्यान करती हुई सुख पूर्वक अपना समय बिताओ। वज्रजंघ का शुद्ध हृदय जान कर सीता ने पुण्डरीकपुर में जाना स्वीकार कर लिया। राजा वज्रजंघ सीता को पालकी में बैठा कर अपने नगर में ले आया। सीता विधिवत् अपने गर्भ का पालन करने लगी।

समय पूरा होने पर सीता ने एक पुत्र युगल को जन्म दिया। राजा वज्रजंघ ने दोनों पुत्रों का जन्मोत्सव मनाया। उनमें से एक का नाम लव और दूसरे का नाम कुश रखा। दोनों राजकुमार आनन्दपूर्वक बढ़ने लगे। योग्य वय होने पर उन दोनों को शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा दिलाई गई। यौवन अवस्था प्राप्त होने पर राजा वज्रजंघ ने दूसरी बत्तीस राजकन्याओं का और अपनी पुत्री शशिकला का विवाह लव के साथ कर दिया। कुश के लिए राजा वज्रजंघ ने पृथ्वीपुर के राजा पृथुराज से उसकी कन्या की मांगणी की किन्तु लव, कुश के वंश को अज्ञात बता कर पृथुराज ने अपनी कन्या देने से इन्कार कर दिया। राजा वज्रजंघ ने इसे अपना अपमान समझा। राजा वज्रजंघ ने लव कुश को साथ लेकर पृथुराज के नगर पर चढ़ाई कर दी। उसकी प्रबल सेना के सामने पृथुराज की सेना न टिक सकी। परास्त होकर वह मैदान छोड़ कर भाग गई। पृथुराज भी अपने प्राण बचाने के लिए भागने लगा किन्तु लव, कुश ने उसे चारों ओर से घेर लिया। कुश ने कहा– राजन्! आप सरीखे उत्तम कुल वंश वाले हम जैसे हीन कुल वंश वालों के सामने से अपने प्राण बचा कर भागते हुए

शोभा नहीं देते। जरा मैदान में खड़े रह कर हमारा पराक्रम तो देखो जिससे हमारे कुल वंश का पता चल जाय। कुश के ये मर्मकारी वचन सुन कर पृथुराज का अभिमान चूरचूर हो गया। वह मन में सोचने लगा- इन दोनों वीरों का पराक्रम ही इनके उत्तम कुल वंश का परिचय दे रहा है। ये अवश्य ही किसी वीर क्षत्रिय की सन्तान हैं। इन्हें अपनी कन्या देने में मेरा गौरव ही है। ऐसा सोच कर पृथुराज ने राजा वज्रजंघ से सुलह करके अपनी कन्या का विवाह कुश के साथ कर दिया। इसी समय नारद मुनि वहाँ आ पहुँचे। राजा वज्रजंघ के प्रार्थना करने पर नारद मुनि ने लव और कुश के कुल वंश का परिचय दिया, जिससे पृथुराज को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह अपने आप को सौभाग्यशाली मानने लगा।

इसके बाद राजा वज्रजंघ लव और कुश के साथ अनेक नगरों पर विजय करता हुआ पुण्डरीकपुर लौट आया।

सती साध्वी सीता पर कलंक चढ़ाना, गर्भवती अवस्था में निष्कारण उसे भयङ्कर वन में छोड़ देना आदि सारा वृत्तान्त नारदजी द्वारा जान कर लव और कुश राम पर अति कुपित हुए। राजा वज्रजंघ की सेना को साथ में लेकर लव और कुश ने अयोध्या पर चढ़ाई कर दी। इस अचानक चढ़ाई से राम लक्ष्मण को अति विस्मय हुआ। वे सोचने लगे कि यह कौन शत्रु है और इस आकस्मिक आक्रमण का क्या कारण है? आखिर अपनी सेना को लेकर वे भी मैदान में आए। घमासान युद्ध शुरू हुआ। लव कुश के बाणप्रहार से परास्त होकर राम की सेना अपने प्राण लेकर भागने लगी। अपनी सेना की यह दशा देख कर वे विस्मय के साथ विचार में पड़ गए कि हमारी सेना ने आज तक अनेक युद्ध किये। सर्वत्र विजय हुई किन्तु ऐसी दशा कभी नहीं हुई। क्या उपार्जन की हुई कीर्ति पर आज धब्बा लग जायगा? कुछ भी हो

हमें वीरता पूर्वक शत्रु का मुकाबला करना ही चाहिए। ऐसा सोच कर लक्ष्मण धनुष बाण लेकर आगे बढ़ा। उसके आते हुए बाणों को लव और कुश बीच में ही काट देते थे। शत्रु पर फेंके सब शस्त्रों को निष्फल जाते देख कर लक्ष्मण अति कुपित हुए। विजय का कोई उपाय न देख कर शत्रु का सिर काट कर लाने के लिए उन्होंने चक्र चलाया। लव कुश के पास आकर उन दोनों भाइयों की प्रदक्षिणा देकर चक्र वापिस लौट आया। अब तो राम लक्ष्मण की निराशा का ठिकाना न रहा। वे दोनों उदास होकर बैठ गये और सोचने लगे कि मालूम होता है कि ये कोई नये बलदेव और वासुदेव प्रकट हुए हैं।

उसी समय नारद मुनि वहाँ आ पहुँचे। राम लक्ष्मण को उदास बैठे देख कर वे हंस कर कहने लगे- हर्षित होने के बदले आज आप उदास होकर कैसे बैठे हैं? अपने शिष्य और पुत्र के सामने पराजित होना तो हर्ष की बात है। राम लक्ष्मण ने कहा–महाराज! हम आपकी बात का रहस्य कुछ भी नहीं समझ सके। जरा स्पष्ट करके कहिये। नारदजी ने कहा ये लड़ने वाले दोनों वीर माता सीता के पुत्र हैं। चक्र ने भी इस बात की सूचना दी है क्योंकि वह स्वगोत्री पर नहीं चलता।

नारदजी की बात सुन कर राम लक्ष्मण के हर्ष का पारावार न रहा। वे अपने वीर पुत्रों से भेट करने के लिए आतुरता पूर्वक उनकी तरफ चले। लव कुश के पास जाकर नारदजी ने यह सारा वृत्तान्त कहा। उन्होंने अपने अस्त्र शस्त्र नीचे डाल दिये और आगे बढ़ कर सामने आते हुए राम लक्ष्मण के चरणों में सिर नमाया। उन्होंने भी प्रेमालिङ्गन कर आशीर्वाद दिया। अपने वीर पुत्रों को देख कर उन्हें अति हर्ष हुआ। इसके बाद राम ने सीता को लाने की आज्ञा दी। सीता के पास जाकर लक्ष्मण ने चरणों

में नमस्कार किया और अयोध्या में चल कर उसे पावन करने की प्रार्थना की। सीता ने कहा– वत्स ! अयोध्या चलने में मुझे कोई एतराज नहीं है किन्तु जिस लोकापवाद से डर कर राम ने मेरा त्याग किया था वह तो ज्यों का त्यों बना रहेगा। इसलिए मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि अपने सतीत्व की परीक्षा देकर ही मैं अयोध्या में प्रवेश करूँगी।

राम के पास आकर लक्ष्मण ने सीता की प्रतिज्ञा कह सुनाई। सती सीता को निष्कारण वन में छोड़ देने के कारण होने वाले पश्चात्ताप से राम पहले से ही खिन्न हो रहे थे। सीता की कठिन प्रतिज्ञा को सुन कर वे और भी अधिक खिन्न हुए। राम के पास अन्य कोई उपाय न था, वे विवश थे। उन्होंने एक अग्नि का कुण्ड बनवाया। इस दृश्य को देखने के लिए अनेक सुर नर वहाँ इकट्ठे हुए और उत्सुकता पूर्ण नेत्रों से सीता की ओर देखने लगे। अग्नि अपना प्रचण्ड रूप धारण कर चुकी थी। उसकी ओर आँख उठा कर देखना भी लोगों के लिए कठिन हो गया। उस समय सीता अग्निकुण्ड के पास आकर खड़ी हो गई और उपस्थित देव और मनुष्यों के सामने अग्नि से कहने लगी–

मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमध्ये,
यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि।
तदिह दह शरीरं पापकं पावक ! त्वं,
सुकृत निकृतकानां त्वं हि सर्वत्र साक्षी॥

अर्थात्– मन, वचन या काया में, जागते समय या स्वप्न में यदि रामचन्द्रजी को छोड़ कर किसी दूसरे पुरुष में मेरा पतिभाव हुआ हो तो हे अग्नि ! तुम इस पापी शरीर को जला डालो। सदाचार और दुराचार के लिए इस समय तुम्हीं साक्षी हो।

ऐसा कह कर सीता उस अग्निकुण्ड में कूद पड़ी। तत्काल अग्नि

बुझ कर वह कुण्ड जल से भर गया। शीलरक्षक देवों ने जल में कमल पर सिंहासन बना दिया और सती सीता उस पर बैठी हुई दिखने लगी। यह दृश्य देख कर लोगों के हर्ष का ठिकाना न रहा। सती के जयनाद से आकाश गूँज उठा। देवताओं ने सती पर पुष्पवृष्टि की।

राम उपस्थित जनसमाज के सामने पश्चात्ताप करने लगे– मैंने सती साध्वी पत्नी को इतना कष्ट दिया। सत्यासत्य का निर्णय किए बिना केवल लोकापवाद से डर कर भयङ्कर वन में छोड़ कर मैंने उसे प्राणान्त कष्ट दिया। यह मेरा अविचारपूर्ण कार्य था। सती को कष्ट में डाल कर मैंने भारी पाप उपार्जन किया है। मैं इस पाप से कैसे छूटूँगा। इस प्रकार पश्चात्ताप में पड़े हुए अपने पति को देख कर सीता कहने लगी– नाथ! आपका पश्चात्ताप करना व्यर्थ है। सोने को अग्नि में तपाने से उसकी कीमत बढ़ती है घटती नहीं। इसी प्रकार आपने मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाई है। यदि यह सारा बनाव न बना होता तो शील का माहात्म्य कैसे प्रकट होता? इस लिए आपको पश्चात्ताप करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार पति पत्नी के संवाद को सुन कर सब लोग कहने लगे कि–सर्वत्र सत्य की जय होती है। सती सीता सत्य पर अटल थी। अनेक विपत्तियाँ आने पर भी वह शील में दृढ़ रही इसी लिए आज उसकी सर्वत्र जय हो रही है।

उस समय चार ज्ञान के धारक एक मुनिराज वहाँ पधारे। सब लोगों ने विनयपूर्वक वन्दना की और धर्मोपदेश सुनने की इच्छा प्रकट की। विशेष लाभ समझ कर मुनिराज ने धर्मोपदेश फरमाया। कितने ही सुलभबोधि जीवों ने वैराग्य प्राप्त कर दीक्षा अङ्गीकार की। सीता ने मुनिराज से पूछा– हे भगवन्! पूर्व जन्म में मैंने ऐसा कौन सा कार्य किया जिससे मुझ पर यह कलंक

लगा ? कृपा करके कहिये ।

उपस्थित जनसमाज के सामने मुनिराज ने कहना शुरू किया। भव्यो! अपनी आत्मा का हित चाहने वाले पुरुषों को झूठ वचन, दोषारोपण, निन्दा और किसी की गुप्त बात को प्रकट करना इत्यादि अवगुणों का सर्वथा त्याग करना चाहिये। किसी निर्दोष व्यक्ति पर झूठा कलंक चढ़ाना तो अतिनिन्दनीय कार्य है। ऐसा व्यक्ति लोक में निन्दा का पात्र होता है और परलोक में अनेक कष्ट भोगता है। जो व्यक्ति शुद्ध संयम पालने वाले मुनिराज पर झूठा कलंक लगाता है उस पर सती सीता की तरह झूठा कलंक आता है। सीता के पूर्वभव की कथा इस प्रकार है–

भरतक्षेत्र में मृणालिनी नाम की नगरी थी। उसमें श्रीभूति नाम का एक प्रतिष्ठित पुरोहित रहता था। उसकी स्त्री का नाम सरस्वती था। उसके एक पुत्री थी जिसका नाम वेगवती था।

एक दिन अपनी सखियों के साथ खेलती हुई वेगवती नगरी से कुछ दूर जंगल की ओर निकल गई। आगे जाकर उसने देखा कि एक कृशकाय तपस्वी मुनिराज काउसग्ग करके ध्यान में खड़े हैं। नगरी में इसकी खबर मिलने से सैकड़ों नर नारी उनके दर्शन करने के लिए आ रहे हैं। यह देख कर वेगवती के हृदय में मुनि पर पूर्वभव का वैर जागृत हो गया। वह दर्शनार्थ आने वाले लोगों से कहने लगी– संसार को छोड़ कर साधु का वेष पहनने वाले भी कितने कपटी और ढोंगी होते हैं। भोले प्राणियों को ठगने के लिये वे क्या क्या दम्भ रचते हैं। पवित्र कर्मकाण्डी ब्राह्मणों की सेवा को छोड़ कर लोग भी ऐसे पाखण्डियों की ही सेवा करते हैं। मैंने अभी देखा था कि यह साधु एकान्त में एक स्त्री के साथ क्रीड़ा कर रहा था। इससे ध्यानस्थ मुनि का चित्त संतप्त हो उठा। वे विचारने लगे कि मैं निर्दोष हूँ इस लिए मुझे तो किसी प्रकार

का दुःख नहीं है किन्तु इससे जैन शासन कलङ्कित होता है। इस लिए मेरे सिर से जब यह कलंक उतरेगा तभी मैं काउसग्ग पार कर अन्न जल ग्रहण करूँगा। ऐसी कठोर प्रतिज्ञा करके मुनि ध्यान में विशेष दृढ़ बन गये।

शासनदेवी का आसन कंपित हुआ। उसने अवधिज्ञान द्वारा मुनि के भावों को जान लिया। वह तत्काल वहाँ आई और वेगवती के उदर में शूल रोग उत्पन्न कर दिया जिससे उसे प्राणान्त कष्ट होने लगा। वह उपस्थित जनसमुदाय के सामने मुनि को लक्ष्य करके उच्च स्वर से कहने लगी–भगवन्! आप सर्वथा निर्दोष हैं। मैंने आपके ऊपर मिथ्या दोष लगाया है। हे क्षमानिधे! आप मेरे अपराध को क्षमा करें। अपना अभिग्रह पूरा हुआ जान कर मुनि ने काउसग्ग पार लिया। जनता के आग्रह से मुनि ने धर्मोपदेश फरमाया। वेगवती सुलभबोधि थी। उपदेश से उसका हृदय परिवर्तित होगया। उसे धर्म पर पूर्ण श्रद्धा होगई। उसी समय उसने श्राविका के व्रत अङ्गीकार कर लिए। कुछ समय पश्चात् उसे संसार से वैराग्य हो गया। दीक्षा अङ्गीकार कर शुद्ध संयम का पालन करने लगी। कई वर्षों तक संयम का पालन कर वह पाँचवें देवलोक में उत्पन्न हुई। वहाँ से चव कर मिथिला के राजा जनक के घर पुत्रीरूप से उत्पन्न हुई। पूर्वभव में इसने मुनि पर झूठा कलंक लगाया था इसलिये इस भव में इस पर भी यह झूठा कलंक आया था।

अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुन कर सीता को संसार से विरक्ति होगई। उसी समय राम की आज्ञा लेकर उसने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। कई वर्षों तक शुद्ध संयम का पालन करती रही। अपना अन्तिम समय नजदीक आया जान कर उसने विधिपूर्वक संलेखना संथारा किया और मर कर बारहवें देवलोक में इन्द्र का पद प्राप्त किया। वहाँ से चव कर कितनेक भव करके मोक्ष प्राप्त करेगी।

(१०) सुभद्रा

प्राचीन समय में वसन्तपुर नाम का एक रमणीय नगर था। वहाँ जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसके मन्त्री का नाम जिनदास था। वह जैन धर्मानुयायी बारह व्रतधारी श्रावक था। उसकी पत्नी का नाम तत्त्वमालिनी था। अपने पति के समान वह पूर्ण धर्मानुरागिणी और श्राविका थी। उसकी कुक्षि से एक महारूपवती कन्या का जन्म हुआ। इससे माता और पिता दोनों को बहुत प्रसन्नता हुई। जन्मोत्सव मना कर उन्होंने उसका नाम सुभद्रा रक्खा।

माता पिता के विचार, व्यवहार और रहन सहन का सन्तान पर बहुत असर पड़ता है। सुभद्रा पर भी माता पिता के धार्मिक संस्कारों का गहरा असर पड़ा। बचपन से ही धर्म की ओर उसकी विशेष रुचि थी और धर्मक्रियाओं पर विशेष प्रेम था। माता पिता की देखादेख वह भी धार्मिक क्रियाएं करने लगी। थोड़े ही समय में सुभद्रा ने सामायिक, प्रतिक्रमण, नव तत्त्व, पच्चीस क्रिया आदि का बहुत सा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

योग्य वय होने पर जिनदास को सुभद्रा के योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई। सेठ ने विचार किया कि मेरी पुत्री की धर्म के प्रति विशेष रुचि है इस लिए किसी जैन धर्मानुयायी वर के साथ विवाह करने से ही इसका दाम्पत्य जीवन सुखमय हो सकता है। यह सोच कर जिनदास ऐसे ही वर की खोज में रहने लगा।

वसन्तपुर व्यापार का केन्द्र था। अनेक नगरों से आकर व्यापारी वहाँ व्यापार किया करते थे। एक समय चम्पानिवासी बुद्धदास नाम का व्यापारी वहाँ आया। वह बौद्ध मतावलम्बी था। एक दिन व्याख्यान सुन कर वापिस आती हुई सुभद्रा को उसने देखा। उसने उसके विषय में पूछताछ की। किसी ने उसे बताया कि

यह जिनदास श्रावक की पुत्री है, अभी कुंवारी है। किसी जैन-धर्मप्रेमी के साथ ही विवाह करने का इसके पिता का निश्चय है।

बुद्धदास के हृदय में उस कन्या को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो गई। वह मन में विचारने लगा कि मेरे में और तो सारे गुण विद्यमान हैं सिर्फ इतनी कमी है कि मैं जैनी नहीं हूँ। इसे प्राप्त करने के लिये मैं जैनी भी बन जाऊँगा। ऐसा दृढ़ निश्चय करके बुद्धदास अब जैन साधुओं के पास जाने लगा। दिखावटी विनय भक्ति करके वह उनके पास ज्ञान सीखने लगा। मुनि-वन्दन, व्याख्यानश्रवण, त्याग, पच्चक्खाण, सामायिक, पौषध आदि धार्मिक क्रियाएं करने लगा।

अब बुद्धदास पक्का धार्मिक समझा जाने लगा। सभी लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। धीरे धीरे जिनदास श्रावक को भी ये सारी बातें मालूम हुईं। एक दिन जिनदास ने उसे अपने घर भोजन के लिए निमन्त्रण दिया। बुद्धदास तो ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में था ही। उसे बहुत हर्ष हुआ। प्रातःकाल उठ कर उसने नित्य नियम किया। मुनिवन्दन करके उसने पोरिसी का पच्चक्खाण कर लिया। पोरिसी आने पर वह जिनदास श्रावक के घर आया। थाली परोसते समय उसने कहा मुझे अमुक विगय और इतने द्रव्यों के सिवाय आज त्याग है इसलिए इसका ध्यान रखियेगा।

बुद्धदास की इन बातों से जिनदास को यह विश्वास होगया कि धर्म पर इसका पूर्ण प्रेम है और यह धर्म के मर्म को अच्छी तरह जानता है। यह सुभद्रा के योग्य वर है ऐसा सोच कर जिनदास ने बुद्धदास के सामने अपने विचार प्रकट किये। पहले तो बुद्धदास ने ऊपरी ढोंग बता कर कुछ आनाकानी की किन्तु सेठ के अधिक कहने पर बुद्धदास ने कहा– यद्यपि इस समय मेरा विचार विवाह करने का नहीं था तथापि आप सरीखे बड़े आद-

मियों के वचनों का मैं उल्लंघन नहीं कर सकता। मैं तो आप सरीखे बड़े श्रावकों की आज्ञा का पालन करने वाला हूँ।

बुद्धदास का नम्रता भरा उत्तर सुन कर जिनदास का हृदय प्रेम से भर गया। शुभ मुहूर्त में उसने सुभद्रा का विवाह उसके साथ कर दिया। कुछ समय तक बुद्धदास वहीं पर रहा। बाद में उनकी आज्ञा लेकर वह अपने घर चम्पापुरी में लौट आया। वहाँ आने पर सुभद्रा को मालूम हुआ कि स्वयं बुद्धदास और उसका सारा कुटुम्ब बौद्धधर्मी है। बुद्धदास ने मेरे पिता को धोखा दिया है। सुभद्रा विचारने लगी कि अब क्या हो सकता है। जो कुछ हुआ सो हुआ। मैं अपना धर्म कभी नहीं छोड़ूँगी। धर्म अन्तरात्मा की वस्तु है। वह मुझे प्राणों से भी प्यारा है। प्राणान्त कष्ट आने पर भी मैं धर्म पर दृढ़ रहूँगी। ऐसा निश्चय कर सुभद्रा पूर्व की भाँति अपना नित्यनियम आदि धार्मिक क्रियाएं करती रही।

उसके इन कार्यों को देख कर उसकी सासू बहुत क्रोधित हुई। वह उससे कहने लगी– मेरे घर में रह कर तेरा यह ढोंग नहीं चल सकता। तू इन सब को छोड़ दे, अन्यथा तुझे कड़ा दण्ड भोगना पड़ेगा।

जब उसकी सासू ने देखा कि इन बातों का उस पर कुछ भी असर न पड़ा तब उसने उस पर किसी प्रकार का लाञ्छन लगा कर उसे अपने मार्ग पर लाने का निश्चय किया।

एक दिन एक जिनकल्पी मुनिराज उधर आ निकले। भिक्षा के लिए उन्होंने सुभद्रा के घर में प्रवेश किया। भक्तिपूर्वक वन्दना कर सुभद्रा ने उन्हें आहार बहराया। 'फूस के गिर जाने से मुनिराज की आंख में से पानी गिर रहा है' यह देख कर सुभद्रा ने बड़ी सावधानी से अपनी जीभ द्वारा फूस बाहर निकाल दिया। ऐसा करते समय सुभद्रा के ललाट पर लगी हुई कुंकुम की बिन्दी मुनिराज के ललाट पर लग गई। उसकी सासू ने अपनी इच्छापूर्ति के

लिये यह अवसर ठीक समझा। उसने मुनिराज के ललाट की बिन्दी की ओर संकेत करके बुद्धदास से कहा–पुत्र! वहू के दुराचार का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यह देख कर बुद्धदास को बहुत दुःख हुआ। वह सुभद्रा को दुराचारिणी समझने लगा। सुभद्रा ने सारी सत्य बात कह सुनाई। फिर भी बुद्धदास का सन्देह दूर नहीं हुआ। उसने सुभद्रा के साथ अपने सारे सम्बन्ध तोड़ दिये।

सुभद्रा ने विचार किया कि मेरे साथ साथ जैन मुनि पर भी कलंक आता है। इसलिए मुझे इस कलंक को अवश्य दूर करना चाहिए। तेले का तप करके वह काउसग्ग में स्थित हो गई। तीसरे दिन मध्य रात्रि में शासन देवी प्रकट होकर कहने लगी– सुभद्रे! तेरा शील अखण्डित है। धर्म पर तेरी दृढ़ श्रद्धा है। मैं तुझ पर प्रसन्न हुई हूँ। कोई वर मांग। सुभद्रा ने कहा– देवि! मुझे किसी वर की आवश्यकता नहीं है। मेरे सिर पर आया हुआ कलंक दूर होना चाहिये। 'तथास्तु' कह कर देवी अन्तर्ध्यान होगई।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब द्वाररक्षक शहर के दरवाजे उघाड़ने लगे तो वे उन्हें नहीं खोल सके। द्वार वज्रमय होगये। अनेक प्रयत्न करने पर भी जब दरवाजे नहीं खुले तो राजा के पास जाकर उन्होंने सारी हकीकत कही। राजा ने कहा– शहर के लुहारों और सुथारों को बुला कर दरवाजों को खुलवा लो। सेवकों ने ऐसा ही किया किन्तु दरवाजे न खुले। तब राजा ने आज्ञा दी कि हाथियों को छोड़ कर दरवाजों को तुड़वा दो। मदोन्मत्त हाथी छोड़े गये। उन्होंने पूरी ताकत लगा दी किन्तु दरवाजे टस से मस न हुए। अब तो राजा और प्रजा दोनों की चिन्ता काफी बढ़ गई। इसी समय एक आकाशवाणी हुई–

'कोई सती कच्चे सूत के धागे से चलनी को बाँध कर कूए से जल

निकाल कर दरवाजों पर छिड़के तो दरवाजे तत्काल खुल जावेंगे।'

आकाशवाणी को सुन कर राजा ने शहर में घोषणा करवाई कि 'जो सती इस काम को पूरा करेगी राज्य की ओर से उसका बड़ा भारी सन्मान किया जावेगा।'

निर्धारित किये हुए कुँए पर लोगों की भारी भीड़ जमा होने लगी। सभी उत्सुकतापूर्ण नेत्रों से देखने लगे कि देखें कौन सती इस कार्य को पूरा करती है। राजसन्मान और यश प्राप्त करने की इच्छा से अनेक स्त्रियों ने कुँए से पानी निकालने का प्रयत्न किया किन्तु सब व्यर्थ रहा। कच्चे सूत से बाँध कर चलनी जब कुंए में लटकाई जाती तो सूत टूट जाने से चलनी कुंए में गिर पड़ती अथवा कभी किसी की चलनी जल तक पहुँच भी जाती तो वापिस खींचते समय सारा जल छिद्रों से निकल जाता। राजा की आज्ञा से रानियों ने भी जल निकालने का प्रयत्न किया किन्तु वे भी सफल न हो सकीं। अब तो राजा को बहुत निराशा हुई।

राजा की घोषणा सुन कर सुभद्रा अपनी सासू के पास आई और जल निकालने के लिये कुंए पर जाने की आज्ञा मांगी। क्रुद्ध होती हुई सासू ने कहा– बस रहने दो, तुम कितनी सती हो मैं अच्छी तरह जानती हूँ। अपने घर में ही बैठी रहो। वहाँ जाकर सब लोगों के सामने हंसी क्यों करवाती हो ? सुभद्रा ने विनय पूर्वक कहा-- आप मुझे आज्ञा दीजिए। आपके आशीर्वाद से मैं अवश्य सफल होऊँगी। सुभद्रा का विशेष आग्रह देख कर सासू ने अनिच्छापूर्वक आज्ञा दे दी।

सुभद्रा कुंए पर आई। कच्चे सूत से चलनी बाँध कर वह आगे बढ़ी। सब लोग टकटकी बाँध कर निर्निमेष दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे। सुभद्रा ने चलनी को कुंए में लटकाया और जल से भर कर बाहर खींच लिया।

सुभद्रा के इस आश्चर्यजनक कार्य को देख कर सभी लोग बहुत प्रसन्न हुए। राजा और प्रजा में हर्ष छा गया। लोग सुभद्रा के सतीत्व की प्रशंसा करने लगे। सती सुभद्रा की जयध्वनि से आकाश गूँज उठा।

जयध्वनि के बीच सती एक दरवाजे की ओर बढ़ी। जल छिड़कते ही दरवाजा खुल गया। इस तरह सती ने शहर के तीन दरवाजे खोल दिये। चौथा दरवाजा अन्य किसी सती की परीक्षा के लिये छोड़ दिया।

सती सुभद्रा के सतीत्व की चारों ओर प्रशंसा फैल गई। राजा ने सती का यथेष्ट सन्मान किया और धूमधाम के साथ उसे घर पहुँचाया। सुभद्रा की सासू ने तथा उसके सारे परिवार वालों ने भी सारी बातें सुनीं। उन्होंने भी सुभद्रा के सतीत्व की प्रशंसा की और अपने अपने अपराध के लिये उससे क्षमा माँगी। सती के प्रयत्न से बुद्धदास तथा उसके माता पिता एवं परिवार के अन्य लोगों ने जैनधर्म अङ्गीकार कर लिया।

अब सुभद्रा का सांसारिक जीवन सुखपूर्वक बीतने लगा। पति, सासू तथा सम्बन्धी उसका सत्कार करने लगे। उसे किसी प्रकार का अभाव नहीं रहा, किन्तु सुभद्रा सांसारिक वासनाओं में ही फंसी रहना नहीं चाहती थी। उसे संसार की अनित्यता का भी ज्ञान था, इसलिये अपने सासू, ससुर तथा पति की आज्ञा लेकर उसने दीक्षा ले ली। शुद्ध संयम का पालन करती हुई अनेक वर्षों तक विचर विचर कर भव्य प्राणियों का कल्याण करती रही। अन्त में केवलज्ञान केवलदर्शन उपार्जन कर मोक्ष पधार गई।

(११) शिवा

प्राचीन समय में विशाला नाम की एक विशाल और सुन्दर नगरी थी। वहाँ चेटक राजा राज्य करता था। उसके सात कन्याएं थीं। उन में से एक का नाम शिवा था। जब वह विवाह के योग्य हुई तब राजा चेटक ने उसका विवाह उज्जैन के महाराज चण्डप्रद्योतन के साथ कर दिया।

शिवा देवी जिस प्रकार शरीर से सुन्दर थी उसी प्रकार गुणों से भी वह सुन्दर थी। विवाह के बाद उज्जैन में आकर वह अपने पति के साथ सुखपूर्वक समय बिताने लगी। अपने पति के विचारों का वह वैसे ही साथ देती जैसे छाया शरीर का साथ देती है। अवसर आने पर एक योग्य मन्त्री के समान उचित सलाह देने में भी वह न हिचकती थी। इन सब गुणों से राजा उसे बहुत मानने लगा और उसे अपनी पटरानी बना दिया।

राजा के प्रधान मन्त्री का नाम भूदेव था। इन दोनों में परस्पर इतना प्रेम था कि एक दूसरे से थोड़ी देर के लिये भी कोई अलग होना नहीं चाहता था। किसी भी बात में राजा मन्त्री पर अविश्वास नहीं करता था। यहाँ तक कि अन्तःपुर में भी राजा अपने साथ उसे निःशङ्क ले जाता था। इस कारण रानी शिवा देवी का भी उसके साथ परिचय हो गया। अपने पति की उस पर इतनी ज्यादह कृपा देख कर वह भी उसका उचित सत्कार करने लगी। मन्त्री का मन मलिन था। उसने इस सत्कार का दूसरा ही अर्थ लगाया। वह रानी को अपने जाल में फंसाने की चेष्टा करने लगा। रानी की मुख्य दासी को उसने अपनी ओर कर लिया। दासी के द्वारा अपना बुरा अभिप्राय रानी के सामने रखा।

रानी विचार करने लगी कि पुरुषों का हृदय कितना मलिन

होता है। कामान्ध व्यक्ति उचित अनुचित का कुछ भी विचार नहीं करते। रानी ने दासी को ऐसा डाँटा कि वह काँपने लगी। हाथ जोड़ कर उसने अपने अपराध के लिये क्षमा माँगी।

अपनी युक्ति को असफल होते देख कर मन्त्री बहुत निराश हुआ। अब उसने रानी को बलपूर्वक प्राप्त करने का निश्चय किया। इसके लिये वह कोई अवसर देखने लगा। एक दिन किसी अन्य राजा से मिलने के लिये राजा चण्डप्रद्योतन अपनी राजधानी से बाहर गया। अपने साथ चलने के लिए राजा ने भूदेव मन्त्री को भी कहा किन्तु बीमारी का बहाना करके वह वहीं रह गया। रानी शिवा देवी को प्राप्त करने का उसे यह अवसर उचित प्रतीत हुआ। घर से रवाना होकर वह राजमहल में पहुँचा और निःसंकोच भाव से वह अन्तःपुर में चला गया। रानी शिवा देवी के पास जाकर उसने अपनी दुष्ट भावना उसके सामने प्रकट की। उसने रानी को अनेक प्रलोभन दिये और जन्म भर उसका दास बने रहने की प्रतिज्ञा की।

रानी को अपना शील धर्म प्राणों से भी ज्यादह प्यारा था। वह पतिव्रत धर्म में दृढ़ थी। उसने निर्भर्त्सना पूर्वक मन्त्री को अन्तःपुर से निकलवा दिया। घर आने पर मन्त्री को अपने दुष्कृत्य पर बहुत पश्चात्ताप होने लगा। वह सोचने लगा कि जब राजा को मेरे कार्य का पता लगेगा तो मेरी कैसी दुर्दशा होगी। इसी चिन्ता में वह बीमार पड़ गया।

बाहर से लौटते ही राजा ने मन्त्री को बुलाया। वह डर के मारे कांपने लगा। बीमारी की अधिकता बता कर उसने राजा के सामने उपस्थित होने में असमर्थता प्रकट की। राजा को मन्त्री के बिना चैन नहीं पड़ता। वह सन्ध्या के समय शिवा देवी को साथ लेकर मन्त्री के घर पहुँच गया। अब तो मन्त्री का डर और भी बढ़ गया।

मन्त्री को शय्या पर पड़ा हुआ देख कर राजा को बहुत दुःख हुआ। प्रेम की अधिकता से वह स्वयं उसकी सेवा शुश्रूषा में लग गया। पति को सेवा करते हुए देख कर रानी शिवा देवी भी उसकी सेवा में लग गई। रानी का शुद्ध और गम्भीर हृदय जान कर मन्त्री अपने नीच कार्य का पश्चात्ताप करने लगा। उसकी आंखों से आंसुओं की धारा बह चली। रानी उसके भावों को समझ गई। उसे सान्त्वना देती हुई वह कहने लगी– भाई! पश्चात्ताप से पाप हल्का हो जाता है। एक बार भूल करके भी यदि मनुष्य अपनी भूल को समझ कर सन्मार्ग पर आ जाय तो वह भूला हुआ नहीं गिना जाता। मन्त्री ने शिवा देवी के पैरों में गिर कर क्षमा मांगी।

एक समय नगर में अग्नि का भयंकर उपद्रव हुआ। अनेक उपाय करने पर भी वह शान्त न हुआ। प्रजा में हाहाकार मच गया। तब इस प्रकार की आकाशवाणी हुई कि कोई शीलवती स्त्री अपने हाथ से चारों दिशाओं में जल छिड़के तो यह अग्नि का उपद्रव शान्त हो सकता है। आकाशवाणी को सुन कर बहुत सी स्त्रियों ने ऐसा किया किन्तु उपद्रव शान्त न हुआ। महल की छत पर चढ़ कर शिवादेवी ने चारों दिशाओं में जल छिड़का। जल छिड़कते ही अग्नि का उपद्रव शान्त हो गया। प्रजा में हर्ष छा गया। 'महासती शिवादेवी की जय' की ध्वनि से आकाश गूँज उठा।

एक समय ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी उज्जयिनी नगरी के बाहर उद्यान में पधारे। रानी शिवा देवी सहित राजा चण्डप्रद्योतन भगवान् को वन्दना नमस्कार करने के लिए गया। भगवान् ने धर्मोपदेश फरमाया। शील का माहात्म्य बताते हुए भगवान् ने फरमाया–

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बम्भयारिं नमंसंति, 'दुक्करं जे करन्ति तं ॥

अर्थात्— दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले पुरुषों को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं।

धर्मोपदेश सुन कर सभी लोग अपने स्थान को वापिस चले गये। सती शिवा देवी को संसार से विरक्ति होगई। राजा चण्डप्रद्योतन की आज्ञा लेकर उसने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। वह विविध प्रकार की कठोर तपस्या करती हुई विचरने लगी। थोड़े ही समय में सब कर्मों का क्षय करके उसने मोक्ष प्राप्त किया।

(१२) कुन्ती

प्राचीन समय में शौर्यपुर नाम का नगर था। वहाँ राजा अन्धक वृष्णि राज्य करता था। पटरानी का नाम सुभद्रा था। उसकी कुक्षि से समुद्र विजय, अक्षोभ, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र और वसुदेव ये दस पुत्र उत्पन्न हुए। ये दस दशार्ह कहलाते थे। इनके दो बहनें थीं— कुन्ती और माद्री। दोनों का रूप लावण्य अद्भुत था।

हस्तिनापुर में पाण्डु राजा राज्य करता था। वह महारूपवान्, पराक्रमी और तेजस्वी था। महाराज अन्धकवृष्णि ने अपनी दोनों पुत्रियों का विवाह पाण्डु राजा के साथ कर दिया। ये दोनों रानियाँ बड़ी ही विदुषी, धर्मपरायणा और पतिव्रता थीं। इनमें सौतिया डाह बिल्कुल न था। वे दोनों प्रेमपूर्वक रहती थीं। पाण्डु राजा दोनों रानियों के साथ आनन्द पूर्वक समय बिताने लगा। कुछ समय पश्चात् कुन्ती गर्भवती हुई। गर्भ समय पूरा होने पर कुन्ती ने एक महान् तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। पुत्रजन्म से पाण्डु राजा को बहुत प्रसन्नता हुई। बड़ी धूमधाम से उसने पुत्र जन्मोत्सव मनाया और पुत्र का नाम युधिष्ठिर रखा। इसके पश्चात् कुन्ती की कुक्षि से क्रमशः भीम और अर्जुन नाम के दो पुत्र और उत्पन्न हुए। रानी माद्री की कुक्षि से नकुल और सहदेव नामक दो पुत्र

हुए। ये पाँचों पाण्डव कहलाते थे। श्रेष्ठ गुरु के पास इन्हें उत्तम शिक्षा दिलाई गई। थोड़े ही समय में ये पाँचों शस्त्र और शास्त्र दोनों विद्याओं में प्रवीण हो गए।

एक समय पाण्डु राजा सैर करने के लिये जंगल में गये। रानी कुन्ती और माद्री दोनों भी साथ में थीं। वसन्तक्रीड़ा करता हुआ राजा पाण्डु आनन्द पूर्वक समय बिता रहा था। इसी समय अकस्मात् हृदय की गति बन्द हो जाने से उसकी मृत्यु हो गई। इस आकस्मिक वज्रपात से रानी कुन्ती और माद्री को बहुत शोक हुआ। जब यह खबर नगर में पहुँची तो चारों ओर कुहराम छा गया। पाण्डव शोक समुद्र में डूब गये। उन्होंने अपने पिता का यथाविधि अग्नि संस्कार किया। माता कुन्ती और माद्री को महलों में लाकर उनकी विनय भक्ति करते हुए वे अपना समय बिताने लगे। योग्य वय होने पर पाँचों पाण्डवों का विवाह कम्पिलपुर के राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी के साथ हुआ। द्रौपदी धर्मपरायणा एवं पतिव्रता थी।

राजा पाण्डु के बड़े भाई का नाम धृतराष्ट्र था। वे जन्मान्ध थे। उनकी पत्नी का नाम गान्धारी था। उनके दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे। जो कौरव कहलाते थे। दुर्योधन बड़ा कुटिल था। वह पाण्डवों से ईर्ष्या रखता था। वह उनका राज्य छीनना चाहता था। उसने पाण्डवों को जुआ खेलने के लिए तैयार कर लिया। पाण्डवों ने अपने राज्य को दाँव पर रख दिया। वे जुए में हार गये। कौरवों ने उनका राज्य छीन लिया। द्रौपदी सहित पाँचों पाण्डव वन में चले गये। वहाँ उन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़े। पुत्रवियोग से माता कुन्ती बहुत उदासीन रहने लगी।

एक समय कृष्ण वासुदेव कुन्ती देवी से मिलने के लिये आये। प्रणाम करके उन्होंने कहा–भूआजी ! आनन्द मंगल तो है ? कुन्ती ने उत्तर दिया–वत्स ! तुम्हीं सोचो–तुम्हारे भाई पाँचों

पाण्डव वन में कष्ट सहन कर रहे हैं। राजमहलों में पली हुई द्रौपदी भी उनके साथ कष्ट सहन कर रही है। उनका वियोग मुझे दुखी कर रहा है। ऐसी अवस्था में मेरे लिये आनन्द मंगल कैसा ? कृष्ण ने उसे सान्त्वना दी और शीघ्र ही उसके के दुःख को दूर करने का आश्वासन दिया।

कृष्ण वासुदेव दुर्योधन आदि कौरवों के पास आये। कुछ देकर पाण्डवों के साथ सन्धि कर लेने के लिये उन्हें बहुतेरा समझाया किन्तु कौरव न माने। परिणामस्वरूप महाभारत युद्ध हुआ। लाखों आदमी मारे गये। पाण्डवों की विजय हुई। युधिष्ठिर हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठे। कुन्ती राजमाता और द्रौपदी राजरानी बनी। न्याय और नीतिपूर्वक राज्य करने से प्रजा महाराज युधिष्ठिर को धर्मराज कहने लगी।

युद्ध में दुर्योधन आदि सभी कौरव मारे गये थे। पुत्रों के शोक से दुखी होकर धृतराष्ट्र और गान्धारी वन में जाकर रहने लगे। उनके शोक सन्तप्त हृदय को सान्त्वना देने तथा उनकी सेवा करने के लिये कुन्ती भी उनके पास वन में जाकर रहने लगी।

कुछ समय पश्चात् कुन्ती ने दीक्षा लेने के लिये अपने पुत्रों से अनुमति माँगी। पाण्डवों के इन्कार करने पर कुन्ती ने उन्हें समझाते हुए कहा– पुत्रो! जो जन्म लेकर इस संसार में आया है एक न एक दिन उसे अवश्य यहाँ से जाना होगा। यहाँ सदा किसी की न बनी रही है और न सदा बनी रहेगी। कल यहाँ कौरवों का राज्य था आज उनका नाम निशान भी नहीं है। आत्मशान्ति न राज्य से मिलती है, न धन से, न कुटुम्ब से और न वैभव से। आत्मशान्ति तो त्याग से ही मिल सकती है। मैंने राजरानी बन कर पति सुख देखा, तुम्हारे वन में चले जाने पर पुत्रवियोग का कष्ट सहन किया। तुम्हारे वापिस आने पर हर्षित हुई।

तुम्हारे राजसिंहासन बैठने पर मैं राजमाता बनी। मैंने संसार के सारे रंग देख लिये किन्तु मुझे आत्मिक शान्ति का अनुभव न हुआ। ये सांसारिक सम्बन्ध मुझे बन्धन मालूम पड़ते हैं। मैं इन्हें तोड़ डालना चाहती हूँ।

माता कुन्ती के उत्कृष्ट वैराग्य को देख कर पाण्डवों ने उसे दीक्षा लेने की अनुमति दे दी। पुत्रों की अनुमति प्राप्त कर कुन्ती ने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। विविध प्रकार की कठोर तपस्या करती हुई कुन्ती आर्या विचरने लगी। थोड़े ही समय में तपस्या द्वारा सभी कर्मों का क्षय कर वह मोक्ष में पधार गई।

(१३) दमयन्ती

विदर्भ देश में कुंडिनपुर (कुन्दनपुर) नाम का नगर था। वहाँ भीम राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम पुष्पवती था। उसकी कुक्षि से एक पुत्री का जन्म हुआ जिसका नाम दमयन्ती रक्खा गया। उसका रूप सौन्दर्य अनुपम था। उसकी बुद्धि तीव्र थी। थोड़े ही समय में वह स्त्री की चौंसठ कलाओं में प्रवीण होगई।

'दमयन्ती का विवाह उसकी प्रकृति, रूप, गुण आदि के अनुरूप वर के साथ हो' ऐसा सोच कर राजा भीम ने स्वयंवर द्वारा उसका विवाह करने का निश्चय किया। विविध देशों के राजाओं के पास आमन्त्रण भेजे। निश्चित तिथि पर अनेक राजा और राजकुमार स्वयंवर मण्डप में एकत्रित हो गए। कौशलदेश (अयोध्या) का राजा निषध भी अपने पुत्र नल और कुबेर के साथ वहाँ आया।

हाथ में माला लेकर एक सखी के साथ दमयन्ती स्वयंवर मण्डप में आई। राजाओं का परिचय प्राप्त करती हुई दमयन्ती धीरे धीरे आगे बढ़ने लगी। राजकुमार नल के पास आकर उसने उनके बल पराक्रम आदि का परिचय प्राप्त किया। दर्पण में पड़ने वाले

उनके शरीर का प्रतिबिम्ब देखा। रूप और गुण में नल अद्वितीय था। दमयन्ती ने उसे सर्व प्रकार से अपने योग्य वर समझा। उसने राजकुमार नल के गले में वरमाला डाल दी। योग्य वर के चुनाव से सभी को प्रसन्नता हुई। सभी ने नव वरवधू पर पुष्पों की वर्षा की। राजा भीम ने यथाविधि दमयन्ती का विवाह राजकुमार नल के साथ कर दिया। यथोचित आदर सत्कार कर राजा भीम ने उन्हें विदा किया।

राजा निषध नव वरवधू के साथ आनन्दपूर्वक अपनी राजधानी अयोध्या में पहुँच गये। पुत्र के विवाह की खुशी में राजा निषध ने गरीबों को बहुत दान दिया। कुछ समय पश्चात् राजा को संसार से विरक्ति होगई। अपने ज्येष्ठ पुत्र नल को राज्य का भार सौंप कर राजा ने दीक्षा अङ्गीकार करली। मुनि बन कर वे कठोर तपस्या करते हुए आत्मकल्याण करने लगे।

नल न्याय नीतिपूर्वक राज्य करने लगा। प्रजा को वह पुत्रवत् प्यार करता था। उसकी कीर्ति चारों ओर फैल गई। नल राजा का छोटा भाई कुबेर इस को सहन न कर सका। राजा नल से उसका राज्य छीन लेने के लिये वह कोई उपाय सोचने लगा। कुबेर जुआ खेलने में बड़ा चतुर था। उसका फेंका हुआ पासा उल्टा नहीं पड़ता था। उसने यही निश्चय किया कि नल को जुआ खेलने के लिये कहा जाय और शर्त में उसका राज्य दाव पर रख दिया जाय। फिर मेरा मनोरथ सिद्ध होने में कुछ देर न लगेगी।

एक दिन कुबेर नल के पास आया। उसने जुआ खेलने का प्रस्ताव रक्खा। राजा नल को भी जुआ खेलने का बहुत शौक था। उसने कुबेर का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इसके लिये एक दिन नियत किया गया। दोनों भाई जुआ खेलने बैठे। खेलते खेलते कुबेर ने कहा- भाई! इस तरह खेलने में आनन्द नहीं

आता। कुछ शर्त रखिये। राजा नल ने अपना सारा राज्य दाव पर रख दिया। कुबेर का पासा सीधा पड़ा। वह जीत गया। शर्त के अनुसार अब राज्य का स्वामी कुबेर हो गया।

राजा नल राजपाट को छोड़ कर जंगल में जाने को तैयार हुआ। दमयन्ती भी उसके साथ वन जाने को तैयार हुई। राजा नल ने उसे बहुत समझाया और कहा- प्रिये! पैदल चलना, भूख प्यास को सहन करना, सर्दी गर्मी में समभाव रखना, जंगली जानवरों से भयभीत न होना, इस प्रकार के और भी अनेक कष्ट जंगल में सहन करने पड़ते हैं। तुम राजमहलों में पली हुई हो। इन कष्टों को सहन न कर सकोगी। इसलिये तुम्हारे लिये यही उचित है कि तुम अपने पिता के यहाँ चली जाओ।

दमयन्ती ने कहा- स्वामिन्! आप क्या कह रहे हैं? क्या छाया शरीर से दूर रह सकती है? मैं आपसे अलग नहीं रह सकती। जहाँ आप हैं वहीं मैं हूँ। मैं आपके साथ वन में चलूँगी।

दमयन्ती का विशेष आग्रह देख कर नल ने उसे अपने साथ चलने के लिए कह दिया। नल और दमयन्ती ने वन की ओर प्रस्थान किया। चलते चलते वे एक भयंकर जंगल में पहुँच गये। सन्ध्या का समय हो चुका था और वे भी थक गए थे। इसलिए रात बिताने के लिए वे एक वृक्ष के नीचे ठहर गए। रास्ते की थकावट के कारण दमयन्ती को सोते ही नींद आगई। नल अपने भाग्य पर विचार कर रहा था। उसे नींद नहीं आई। वह सोचने लगा–दमयन्ती वन के कष्टों को सहन न कर सकेगी। मोह के कारण यह मेरा साथ नहीं छोड़ना चाहती है। इसलिए यही अच्छा है कि मैं इसे यहाँ सोती हुई छोड़ कर चला जाऊँ। ऐसा विचार कर नल ने दमयन्ती की साड़ी के एक किनारे पर लिखा- प्रिये! बाएं हाथ की ओर तुम्हारे पीहर कुण्डिनपुर का रास्ता है। तुम वहाँ चली

जाना। मुझे मत ढूँढना। मैं तुम्हें नहीं मिल सकूँगा। ऐसा लिख कर सोती हुई दमयन्ती को छोड़ कर नल आगे जंगल में चला गया।

कुछ आगे जाने पर नल ने जंगल में एक जगह जलती हुई आग देखी। उसमें से आवाज आ रही थी– हे इक्ष्वाकुकुलनन्दन राजा नल! तू मेरी रक्षा कर। अपना नाम सुन कर नल चौंक पड़ा। वह तेजी से उस ओर बढ़ा। आगे जाकर क्या देखता है कि जलती हुई अग्नि के बीच एक सांप पड़ा हुआ है और वह मनुष्य की वाणी में अपनी रक्षा की पुकार कर रहा है। राजा नल ने तत्काल साँप को अग्नि से बाहर निकाला। बाहर निकलते ही सर्प ने राजा नल के दाहिने हाथ पर डंक मारा जिससे वह कुबड़ा बन गया। अपने शरीर को विकृत देख कर नल चिन्ता करने लगा। राजा को चिन्तित देख कर सर्प ने कहा– हे वत्स! तू चिन्ता मत कर। मैं तेरा पिता निषध हूँ। संयम का पालन कर मैं ब्रह्मदेवलोक में देव हुआ हूँ। तू अभी अकेला है। तुझे पहिचान कर कोई शत्रु उपद्रव न करे इसलिए मैंने तेरा रूप विकृत बना दिया है। यह ले मैं तुझे रूपपरावर्तिनी विद्या देता हूँ जिससे तू अपनी इच्छानुसार रूप बना सकेगा। पूर्वभव के अशुभ कर्मों के उदय से कुछ काल के लिए तुझे यह कष्ट प्राप्त हुआ है। बारह वर्ष के बाद तेरा दम-यन्ती से पुनर्मिलन होगा और तुझे अपना राज्य वापिस प्राप्त होगा। ऐसा कह कर सर्परूपधारी देव अन्तर्ध्यान होगया।

राजा नल वहाँ से आगे बढ़ा। भयङ्कर जंगली जानवरों का सामना करता हुआ वह जंगल से बाहर निकला। नगर की ओर प्रयाण करता हुआ वह सुंसुमार नगर में जा पहुँचा।

सुँसुमार नगर में दधिपर्ण राजा राज्य करता था। एक समय उसका पट्टहस्ती मदोन्मत्त होकर गजबन्धनस्तम्भ को तोड़ कर भाग निकला। औरतों, बच्चों और मनुष्यों को कुचलता हुआ

हाथी पूरे वेग से दौड़ा जा रहा था। इससे नगर में हाहाकर मच गया। हाथी को वश में करने के लिए बहुत बड़ी सम्पत्ति देने के लिए राजा ने घोषणा करवाई। राजसन्मान और सम्पत्ति को सभी लोग चाहते थे किन्तु हाथी का सामना करना साक्षात् मृत्यु थी। मरना कोई नहीं चाहता था।

नल हाथी को पकड़ने की कला जानता था। इसलिए वह आगे बढ़ा। एक सफेद कपड़े को बांस पर लपेट कर हाथी के सामने खड़ा कर दिया और नल उसके पास छुप कर खड़ा हो गया। कपड़े को आदमी समझ कर उसे मारने के लिए ज्यों ही हाथी दौड़ कर उधर आया त्यों ही पास में छुपा हुआ नल हाथी का कान पकड़ कर उसकी गर्दन पर सवार हो गया। उसने हाथी के मर्मस्थान पर ऐसा मुष्टिप्रहार किया जिससे उसका मद तत्काल उतर गया। शान्त होकर वह जहाँ का तहाँ खड़ा होगया। नल ने उसे आलानस्तम्भ (हाथी के बांधने की जगह) में बाँध दिया।

राजा और प्रजा का भय दूर हुआ। सर्वत्र प्रसन्नता छा गई। राजा दधिपर्ण बहुत सन्तुष्ट हुआ। वस्त्राभरण से सन्मानित करके राजा ने उस कुबड़े को अपने पास बिठाया। राजा उसका परिचय पूछने लगा। नल ने अपना वास्तविक परिचय देना ठीक नहीं समझा। उसने कहा- मैंने अयोध्या नरेश नल के यहाँ रसोइए का काम किया है। राजा नल सूर्य की कृपा से सूर्यपाक रसवती बनाना जानते थे। बहुत आग्रह करने पर उन्होंने मुझे भी सिखा दिया है। तब राजा दधिपर्ण ने कहा तुम हमारे यहाँ रहो और रसोइए का काम करो। उसने राजा की बात मान ली और काम करने लगा।

राजा नल जब दमयन्ती को छोड़ कर चला गया तो कितनी ही देर तक दमयन्ती सुखपूर्वक सोती रही। रात्रि के पिछले पहर में उसने एक स्वप्न देखा- 'फलों से लदा हुआ एक आम्रवृक्ष

है। फल खाने की इच्छा से वह उस पर चढ़ी। उसी समय एक मदोन्मत्त हाथी आया और उसने आम्रवृक्ष को उखाड़ कर फेंक दिया। वह भूमि पर गिर पड़ी। हाथी उसकी ओर लपका और उसे अपनी सूँड में उठा कर भूमि पर पटका।

इस भयंकर स्वप्न को देख कर वह चौंक पड़ी। उठ कर उसने देखा तो राजा नल वहाँ पर नहीं था। वह उसे ढूँढ़ने के लिए इधर उधर जंगल में घूमने लगी किन्तु कहीं पता नहीं लगा। इतने में उसकी दृष्टि अपनी साड़ी के कोने पर पड़ी। राजा नल के लिखे हुए अक्षरों को देख कर वह मूर्च्छित होकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी। कितनी ही देर तक वह इसी अवस्था में पड़ी रही। वन का शीतल पवन लगने पर उसकी मूर्च्छा दूर हुई। अपने भाग्य को बारबार कोसती हुई वह अपने देखे हुए स्वप्न पर विचार करने लगी– आम्रवृक्ष के समान मेरे पति देव हैं। आम्रफल के समान राज्यलक्ष्मी है। मदोन्मत्त हाथी के समान कुबेर है। मुझे भूमि पर पछाड़ने का मतलब मेरे लिये पतिवियोग है।

बहुत देर तक विचार करने के पश्चात् दमयन्ती ने यही निश्चय किया कि अब मुझे पति द्वारा निर्दिष्ट मार्ग ही स्वीकार करना चाहिये। ऐसा सोच कर उसने कुण्डिनपुर की ओर प्रयाण किया। मार्ग बहुत विकट था। भयंकर जंगली जानवरों का सामना करती हुई दमयन्ती आगे बढ़ने लगी।

उन दिनों यशोभद्र मुनि ग्रामानुग्राम विचर कर धर्मोपदेश द्वारा जनता का कल्याण कर रहे थे। एक समय वे अयोध्या में पधारे। राजा कुबेर अपने पुत्रसहित धर्मोपदेश सुनने के लिये आया। धर्मोपदेश सुन कर कुबेर के पुत्र राजकुमार सिंहकेसरी को वैराग्य उत्पन्न होगया। पिता की आज्ञा लेकर उसने यशोभद्र मुनि के पास दीक्षा अङ्गीकार कर ली। कर्मों का क्षय करने के लिये वे

कठोर तपस्या करते हुए विचरने लगे। एक समय गुरु की आज्ञा लेकर सूर्य की आतापना लेने के लिये वे जंगल में गये। वहाँ जाकर निश्चल रूप से ध्यान में खड़े हो गये। परिणामों की विशुद्धता के कारण वे क्षपकश्रेणी में चढ़े और घाती कर्मों का क्षय कर उन्होंने तत्काल केवलज्ञान केवलदर्शन उपार्जन कर लिए। उनका केवल-ज्ञान महोत्सव मनाने के लिये देव आने लगे। यह दृश्य देख कर दमयन्ती भी उधर गई। वन्दना नमस्कार करके उसने अपने पूर्व-भव के विषय में पूछा। केवली भगवान् ने फरमाया—

इस जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र के अन्दर ममण नाम का एक राजा था। उसकी स्त्री का नाम वीरमती था। एक समय राजा और रानी दोनों कहीं बाहर जाने के लिये तैयार हुए। इतने में सामने एक मुनि आते हुए दिखाई दिये। राजा रानी ने इसे अपशकुन समझा। अपने सिपाहियों द्वारा मुनि को पकड़वा लिया और बारह घन्टे तक उन्हें वहाँ रोक रक्खा। इसके पश्चात् राजा और रानी का क्रोध शान्त हुआ। उन्हें सद्बुद्धि आई। मुनि के पास आकर वे अपने अपराध के लिये बारबार क्षमा माँगने लगे। मुनि ने उन्हें धर्मोपदेश दिया जिससे राजा और रानी दोनों ने जैनधर्म स्वीकार किया और वे दोनों शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करते हुए समय बिताने लगे। आयुष्य पूर्ण होने पर ममण का जीव राजा नल हुआ है और रानी वीरमती का जीव तू दमयन्ती हुई है। निष्कारण मुनिराज को बारह घन्टे तक रोक रखने के कारण इस जन्म में तुम पति पत्नी का बारह वर्ष तक वियोग रहेगा।

यह फरमाने के बाद केवली भगवान् के शेष चार अघाती कर्म नष्ट हो गए और वे उसी समय मोक्ष पधार गये।

केवली भगवान् द्वारा अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुन कर दम-यन्ती कर्मों की विचित्रता पर बारबार विचार करने लगी। अशुभ

कर्म बाँधते समय प्राणी खुश होता है किन्तु जब उनका अशुभ फल उदय में आता है तब वह महान् दुखी होता है। हँसते हँसते प्राणी जिन कर्मों को बाँधते हैं, रोने पर भी उनका छुटकारा नहीं होता। किस रूप में कर्म बंधते हैं और किस रूप में उदय में आते हैं यही कर्मों की विचित्रता है।

जंगल में आगे चलती हुई दमयन्ती को धनदेव नाम का एक सार्थपति मिला। वह अचलपुर जा रहा था। दमयन्ती भी उसके साथ हो गई। धनदेव ने उसका परिचय जानना चाहा किन्तु दमयन्ती ने अपना वास्तविक परिचय न दिया। उसने कहा कि मैं दासी हूँ। कहीं नौकरी करना चाहती हूँ। धनदेव ने विशेष छानबीन करना उचित न समझा। धीरे धीरे वे सब लोग अचलपुर पहुँचे। धनदेव का सार्थ (काफिला) नगर के बाहर ठहर गया।

अचलपुर में ऋतुपर्ण राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम चन्द्रयशा था। उसे मालूम पड़ा कि नगर के बाहर एक सार्थ ठहरा हुआ है। उसमें एक कन्या है। वह देवकन्या के समान सुन्दर है। कार्य में बहुत होशियार है। उसने सोचा यदि उसे अपनी दानशाला में रख दिया जाय तो बहुत अच्छा हो। रानी ने नौकरों को भेज कर उसे बुलाया और बातचीत करके उसे अपनी दानशाला में रख लिया।

चन्द्रयशा दमयन्ती की मौसी थी। चन्द्रयशा ने उसे नहीं पहिचाना। दमयन्ती अपनी मौसी और मौसा को भलि प्रकार पहिचानती थी किन्तु उसने अपना परिचय देना उचित न समझा। वह दानशाला में काम करने लग गई। आने जाने वाले अतिथियों को खूब दान देती हुई ईश्वरभजन में अपना समय बिताने लगी।

एक समय कुण्डिनपुर का एक ब्राह्मण अचलपुर आया। राजा रानी ने उचित सत्कार करके महाराजा भीम और रानी पुष्पवत

का कुशल समाचार पूछा। कुशल समाचार कहने के बाद ब्राह्मण ने कहा कि राजा भीम ने राजा नल और दमयन्ती की खोज के लिए चारों दिशाओं में अपने दूत भेज रखे हैं किन्तु अभी उनका कहीं भी पता नहीं लगा है। सुनते हैं कि राजा नल दमयन्ती को जंगल में अकेली छोड़ कर चला गया है। इस समाचार से राजा भीम की चिन्ता और भी बढ़ गई है। नल और दमयन्ती की बहुत खोज की किन्तु उनका कहीं भी पता नहीं लगा। आखिर निराश होकर अब मैं वापिस कुण्डिनपुर लौट रहा हूँ।

भोजन करके ब्राह्मण विश्राम करने चला गया। शाम को घूमता हुआ ब्राह्मण राजा की दानशाला में पहुँचा। दान देती हुई कन्या को देख कर वह आगे बढ़ा। वह उसे परिचित सी मालूम पड़ी। नजदीक पहुँचने पर उसे पहिचानने में देर न लगी। दमयन्ती ने भी ब्राह्मण को पहिचान लिया।

ब्राह्मण ने जाकर रानी चन्द्रयशा को खबर दी। वह तत्काल दानशाला में आई और दमयन्ती से प्रेमपूर्वक मिली। न पहिचानने के कारण उसने दमयन्ती से दासी का काम लिया था इसलिए वह पश्चात्ताप करने लगी और दमयन्ती से अपने अपराध के लिए क्षमा मांगने लगी। रानी चन्द्रयशा दमयन्ती को साथ लेकर महलों में आई। इस बात का पता जब राजा ऋतुपर्ण को लगा तो वह बहुत प्रसन्न हुआ।

इसके बाद ब्राह्मण की प्रार्थना पर राजा ऋतुपर्ण ने दमयन्ती को धूमधाम के साथ कुण्डिनपुर की ओर रवाना किया। यह खबर राजा भीम के पास पहुँची। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। कुछ सामन्तों को उसके सामने भेजा। महलों में पहुँच कर दमयन्ती ने मातापिता को प्रणाम किया। इसके पश्चात् उसने अपनी सारी दुःखकहानी कह सुनाई। किस तरह राजा नल उसे भयंकर वन में अकेली

सोती हुई छोड़ गया और किस किस तरह से उसे भयंकर जंगली जानवरों का सामना करना पड़ा, आदि वृत्तान्त सुन कर राजा और रानी का हृदय कांप उठा। उन्होंने दमयन्ती को सान्त्वना दी और कहा– पुत्रि ! तू अब यहाँ शान्ति से रह। नल राजा का शीघ्र पता लगाने के लिए प्रयत्न किया जायगा। दमयन्ती शान्तिपूर्वक वहाँ रहने लगी। राजा नल की खोज के लिये राजा भीम ने चारों दिशाओं में अपने आदमियों को भेजा।

एक समय सुंसुमार नगर का एक व्यापारी कुंडिनपुर आया। बातचीत के सिलसिले में उसने राजा से बतलाया कि नल राजा का एक रसोइया हमारे नगर के राजा दधिपर्ण के यहाँ रहता है। वह सूर्यपाक रसवती बनाना जानता है। पास में बैठी हुई दमयन्ती ने भी यह बात सुनी। उसे कुछ विश्वास हुआ कि वह राजा नल ही होना चाहिये। व्यापारी ने फिर कहा वह रसोइया शरीर से कुबड़ा है किन्तु बहुत गुणवान् है। पागल हुए हाथी को वश में करने की विद्या भी वह जानता है। यह सुन कर दमयन्ती को पूर्ण विश्वास होगया कि वह राजा नल ही है किन्तु विद्या के बल से अपने रूप को उसने बदल रक्खा है, ऐसा मालूम पड़ता है।

दमयन्ती के कहने पर राजा भीम को भी विश्वास होगया किन्तु वे एक परीक्षा और करना चाहते थे। उन्होंने कहा राजा नल अश्वविद्या में विशेष निपुण हैं। यह परीक्षा और कर लेनी चाहिये। इससे पूरा निश्चय हो जायगा। फिर सन्देह का कोई कारण नहीं रहेगा। इसलिये मैंने एक उपाय सोचा है– यहाँ से एक दूत सुंसुमार नगर राजा दधिपर्ण के पास भेजा जाय। उसके साथ दमयन्ती के स्वयंवर की आमन्त्रणपत्रिका भेजी जाय। दूत को स्वयंवर की निश्चिततिथि के एक दिन पहले वहाँ पहुँचना चाहिए। यदि वह कुबड़ा राजा नल होगा तब तो अश्वविद्या द्वारा वह राजा दधिपर्ण

को यहाँ एक दिन में पहुँचा देगा। राजा भीम की यह युक्ति सब को ठीक जँची। उसी समय एक दूत को सारी बात समझा कर सुंसुमार नगर के लिये रवाना कर दिया।

चलता हुआ दूत कई दिनों में सुंसुमार नगर में पहुँचा। राजा के पास जाकर उसने आमन्त्रणपत्रिका दी। राजा बहुत प्रसन्न हुआ, किन्तु उसे पढ़ते हुए राजा का चेहरा उदास होगया। कुण्डिन-पुर बहुत दूर था और स्वयंवर में सिर्फ एक दिन बाकी था। राजा सोचने लगा अब कुण्डिनपुर कैसे पहुँचा जाय। राजा की चिन्ता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। नल भी अपने मन में विचारने लगा कि आर्यकन्या दमयन्ती दुबारा स्वयंवर कैसे करेगी। चल कर मुझे भी देखना चाहिये। ऐसा सोच कर उसने कहा महाराज! आप चिन्ता क्यों करते हैं? यदि आपकी इच्छा कुण्डिनपुर जाने की हो तो श्रेष्ठ घोड़ों वाला एक रथ मंगाइये। मैं अश्वविद्या जानता हूँ। अतः आपको आज ही कुण्डिनपुर पहुँचा दूँगा।

कुबड़े की बात सुन कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय रथ मंगाया। राजा उसमें बैठ गया। कुबड़ा सारथी बना। घोड़े हवा से बातें करने लगे। थोड़े ही समय में वे कुण्डिनपुर पहुँच गये। राजा भीम ने उनका उचित सन्मान करके उत्तम स्थान में ठहराया। राजा दधिपर्ण ने देखा कि शहर में स्वयंवर की कुछ भी तैयारी नहीं है फिर भी शान्तिपूर्वक वे अपने नियत स्थान पर ठहर गये।

अब राजा भीम और दमयन्ती को पूर्ण विश्वास होगया कि यह कुबड़ा कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है किन्तु राजा नल ही है। राजा भीम ने शाम को उसे अपने महल में बुलाया। राजा ने उससे कहा हमने आपके गुणों की प्रशंसा सुन ली है तथा हमने स्वयं भी परीक्षा कर ली है। आप राजा नल ही हैं। अब हम लोगों पर कृपा कर

आप अपना असली रूप प्रकट कीजिए।

राजा भीम की बात के उत्तर में कुब्जरूपधारी नल ने कहा— राजन्! आप क्या कह रहे हैं? कहाँ राजा नल और कहाँ मैं? कहाँ उनका रूप सौन्दर्य और कहाँ मैं कुबड़ा। आप भ्रम में हैं। विपत्ति के मारे राजा नल कहीं जंगलों में भटक रहे होंगे। आप वहीं खोज करवाइये।

राजा भीम ने कहा— हस्तिविद्या, अश्वविद्या, सूर्यपाक रसवती विद्या आदि के द्वारा मुझे पूर्ण निश्चय होगया कि आप राजा नल ही हैं। राजन्! स्वजनों को अब विशेष कष्ट में डालना उचित नहीं है। ऐसा कहते हुए राजा का हृदय भर आया।

राजा नल भी अब ज्यादह देर के लिए अपने आप को न छिपा सके। तुरन्त रूपपरावर्तिनी विद्या द्वारा अपने असली रूप में प्रकट हो गए। राजा भीम, रानी पुष्पवती और दमयन्ती के हर्ष का पारावार न रहा। शहर में इस हर्ष समाचार को फैलते देर न लगी। प्रजा में खुशी छा गई। राजा दधिपर्ण भी वहाँ आया। न पहिचानने के कारण अपने यहाँ नौकर रखने के लिए उसने राजा नल से क्षमा माँगी।

जब यह खबर अयोध्या पहुँची तो वहाँ का राजा कुबेर तत्काल कुण्डिनपुर के लिए रवाना हुआ। जाकर अपने बड़े भाई नल के पैरों में गिरा और अपने अपराधों के लिए क्षमा मांगने लगा। बड़े भाई नल को वन में भेजने के कारण उसे बहुत पश्चात्ताप हो रहा था। अयोध्या का राज्य स्वीकार करने के लिए वह नल से प्रार्थना करने लगा।

नल और दमयन्ती को साथ लेकर कुबेर अयोध्या की ओर रवाना हुआ। नल दमयन्ती का आगमन सुन कर अयोध्या की प्रजा उनके दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी।

कुबेर ने राजगद्दी नल को सौंप दी। अब नल राजा हुआ और दमयन्ती महारानी बनी। न्याय नीतिपूर्वक राज्य करता हुआ राजा नल प्रजा का पुत्रवत् पालन करने लगा। कुछ समय पश्चात् महारानी दमयन्ती की कुक्षि से एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम पुष्कर रखा गया। जब राजकुमार पुष्कर युवावस्था को प्राप्त हुआ तो उसे राज्य का भार सौंप कर राजा नल और दमयन्ती ने दीक्षा ले ली।

जिन कर्मों ने नल दमयन्ती को वन वन भटकाया और अनेक कष्टों में डाला, नल और दमयन्ती ने उन्हीं कर्मों के साथ युद्ध करके उनका अन्त करने का निश्चय कर लिया।

कई वर्षों तक शुद्ध संयम का पालन कर नल और दमयन्ती देवलोक में गये। वहाँ से चव कर मनुष्य भव में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

(१४) पुष्पचूला

गङ्गा नदी के तट पर पुष्पभद्र नाम का नगर था। वहाँ पुष्पकेतु राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पुष्पवती था। उनके दो सन्तान थीं, एक पुत्र और दूसरी पुत्री। पुत्र का नाम पुष्पचूल था और पुत्री का नाम पुष्पचूला। भाई बहिन में परस्पर बहुत स्नेह था।

पुष्पचूला में जन्म से ही धार्मिक संस्कार जमे हुए थे। सांसारिक भोगविलास उसे अच्छे न लगते थे।

विवाह के बाद उसने दीक्षा ले ली। तपस्या और धर्मध्यान के साथ साथ दूसरों की वैयावच्च में भी वह बहुत रुचि दिखाने लगी। शुद्धभाव से सेवा में लीन रहने के कारण वह क्षपक श्रेणी में चढ़ी। उसके घातीकर्म नष्ट हो गए।

अपने उपदेशों से भव्यप्राणियों का कल्याण करती हुई महासती पुष्पचूला ने आयुष्य पूरी होने पर मोक्ष प्राप्त किया।

(१५) प्रभावती

विशाला नगरी के स्वामी महाराजा चेटक के सात पुत्रियाँ थीं। सभी पुत्रियाँ गुणवती, शीलवती तथा धर्म में रुचि वाली थीं। उनमें से मृगावती, शिवा, प्रभावती और पद्मावती सोलह सतियों में गिनी गई हैं। इनका नाम मङ्गलमय समझ कर प्रातःकाल जपा जाता है। त्रिशला कुण्डलपुर के महाराज सिद्धार्थ की रानी थी। उन्हीं के गर्भ से चरम तीर्थङ्कर श्रमण भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। चेलणा श्रेणिक राजा की रानी थी। उसने अपने उपदेश तथा प्रभाव से श्रेणिक को सम्यग्दृष्टि तथा भगवान् महावीर का परम भक्त बनाया। सातवीं पुत्री का नाम सुज्येष्ठा था। चेलणा की बड़ी बहिन सुज्येष्ठा ने बालब्रह्मचारिणी साध्वी होकर आत्मकल्याण किया। देश तथा धर्म के नाम को उज्ज्वल करने वाली ऐसी पुत्रियों के कारण चेड़ा महाराज जैन साहित्य में अमर रहेंगे।

प्रभावती का विवाह सिन्धुसौवीर देश के राजा उदयन के साथ हुआ था। उनकी राजधानी वीतभय नगर था। प्रभावती में जन्म से ही धर्म के दृढ़ संस्कार थे। उदयन भी धर्मपरायण राजा था। धर्म तथा न्याय से प्रजा का पालन करते हुए वे अपना जीवन सुखपूर्वक बिता रहे थे। कुछ समय पश्चात् प्रभावती के अभिचि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

एक बार श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विचर कर जनता का कल्याण करते हुए वीतभय नगर में पधारे। राजा तथा रानी दोनों दर्शन करने गए। भगवान् का उपदेश सुन कर प्रभावती ने दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। दीक्षा की आज्ञा देने से पहले राजा ने रानी से कहा– जिस समय तुम्हें देवलोक प्राप्त हो मुझे प्रतिबोध देने के लिए आना। प्रभावती ने उसकी बात मान कर

दीक्षा अङ्गीकार कर ली। कठोर तपस्या तथा निर्दोष संयम का पालन करती हुई वह आयुष्य पूरी होने पर काल करके देवलोक में उत्पन्न हुई।

अपने दिए हुए वचन के अनुसार उसने मृत्युलोक में आकर उदयन राजा को प्रतिबोध दिया। राजा ने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। कठोर तपस्या द्वारा वह राजर्षि हो गया।

यथासमय कर्मों को खपा कर दोनों मोक्ष प्राप्त करेंगे।

(१६) पद्मावती

पद्मावती वैशाली के महाराजा चेटक की पुत्री और चम्पानरेश महाराजा दधिवाहन की रानी थी। दधिवाहन न्यायी, प्रजावत्सल और धार्मिक राजा था। रानी भी उसी के समान गुणों वाली थी। राजा और रानी दोनों मर्यादित भोगों को भोगते हुए सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे।

एक बार रात्रि के पिछले पहर में रानी ने एक शुभस्वप्न देखा। पूछने पर स्वप्नशास्त्रियों ने बताया कि रानी के गर्भ से किसी प्रतापी पुत्र का जन्म होगा। राजा और रानी दोनों को बड़ी प्रसन्नता हुई।

रानी ने गर्भ धारण किया। कुछ दिनों बाद उसके मन में विविध प्रकार के दोहद (गर्भिणी की इच्छा) उत्पन्न होने लगे। एक बार रानी की इच्छा हुई– मैं राजा का वेश पहिनूँ। सिर पर मुकुट रक्खूँ। राजा मुझ पर छत्र धारण करे। इस प्रकार सजधज कर मेरी सवारी नगर में से निकले। इसके बाद वन में जाकर क्रीड़ा करूँ।

लज्जा के कारण रानी अपने इस दोहद को प्रकट न कर सकी, किन्तु इच्छा बहुत प्रबल थी इसलिए वह मन ही मन घुलने लगी। उसके चेहरे पर उदासी छा गई। शरीर प्रतिदिन दुर्बल होने लगा।

राजा ने रानी से दुर्बलता का कारण पूछा। रानी ने पहले

तो टालमटोल की किन्तु आग्रह पूर्वक पूछने पर उसने संकुचाते हुए अपने दोहद की बात कह दी।

गर्भ में रहे हुए बालक की इच्छा ही गर्भिणी की इच्छा हुआ करती है। उसी से बालक की रुचि और भविष्य का पता लगाया जा सकता है। पद्मावती के मन में राजा बनने की इच्छा हुई थी। यह जान कर दधिवाहन को बहुत प्रसन्नता हुई। उसे विश्वास हो गया कि पद्मावती के गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक बहुत तेजस्वी और प्रभावशाली होगा।

रानी का दोहद पूरा करने के लिए उसी प्रकार सवारी निकली। रानी राजा के वेश में हाथी के सिंहासन पर बैठी थी। राजा ने उस पर छत्र धारण कर रक्खा था। नगरी की सारी जनता यह दृश्य देखने के लिए उमड़ रही थी। उसे इस बात का हर्ष था कि उनका भावी राजा बड़ा प्रतापी होने वाला है।

सवारी का हाथी धीरे धीरे नगरी को पार करके वन में आ पहुँचा। उन दिनों वसन्त ऋतु थी। लताएं और वृक्ष फूल, फल तथा कोमल पत्तों से लदे थे। पक्षी मधुर शब्द कर रहे थे। फूलों की मीठी मीठी सुगन्ध आ रही थी। यह दृश्य देख कर हाथी को अपना पुराना घर याद आगया। बन्धन में पड़े रहना उसे अखरने लगा। उसका मन अपने पुराने साथियों से मिलने के लिये व्याकुल हो उठा। अंकुश की उपेक्षा करके वह भागने लगा। महावत ने उसे रोकने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु हाथी न माना। उसने महावत को नीचे गिरा दिया तथा पहले की अपेक्षा अधिक वेग से दौड़ना शुरू किया। राजा और रानी हाथी की पीठ पर रह गए।

स्वतन्त्रता सभी को प्रिय होती है। उसे प्राप्त करके हाथी प्रसन्न हो रहा था। साथ में उसे भय भी था कि कहीं दुबारा बन्धन में न पड़ जाऊँ इसलिये वह घोर वन की ओर सरपट दौड़ रहा था।

वह जिधर दौड़ रहा था उसी मार्ग में कुछ दूरी पर एक वट का वृक्ष था। राजा ने उसे देख कर रानी से कहा–देखो हाथी उस वृक्ष के नीचे से निकलेगा। जब वह उसके नीचे पहुँचे तुम वृक्ष की डाल पकड़ लेना। मैं भी ऐसा ही करूँगा। ऐसा करने पर हम दोनों इस आपत्ति से बच जाएंगे।

हाथी दौड़ता हुआ वटवृक्ष के नीचे आया। राजा ने शीघ्रता से एक डाल को पकड़ लिया। गर्भवती होने के कारण रानी ऐसा न कर सकी। वह हाथी पर रह गई। राजा वृक्ष से उतर कर अपनी राजधानी में चला गया।

हाथी दौड़ता दौड़ता घने वन में पहुँचा। उसे प्यास लग आई। पानी पीने के लिए वह एक जलाशय में उतरा। उस समय हाथी का होदा एक वृक्ष की शाखा के साथ लग गया। रानी उसे पकड़ कर नीचे उतर आई। हाथी ने पानी पीकर फिर दौड़ना शुरू किया। पद्मावती नीचे बैठ गई। उस समय वह अकेली और असहाय थी। कुछ समय पहले जिसकी आज्ञा प्राप्त करने के लिए हजारों व्यक्ति उत्सुक रहते थे, अब उसकी करुण पुकार को सुनने वाला कोई न था। चारों ओर से सिंह, व्याघ्र वगैरह जंगली प्राणियों के भयङ्कर शब्द सुनाई दे रहे थे। उस निर्जन वन में एक अबला के लिए अपने प्राणों को बचाना बहुत कठिन था। पद्मावती ने अपने जीवन को सन्देह में पड़ा जान कर सागारी संथारा कर लिया। अपने पापों के लिए वह आलोयणा करने लगी –

यदि मैंने इस भव या परभव में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु या वनस्पति काय के जीवों की हिंसा मन, वचन या काया से स्वयं की हो, दूसरे के द्वारा कराई हो, या करने वाले को भला समझा हो तो मेरा वह आरम्भ सम्बन्धी पाप मिथ्या अर्थात् निष्फल होवे। मैं ऐसे कार्य को बुरा मानती हूँ तथा जिन जीवों को मेरे

कारण कष्ट हुआ है उनसे क्षमा मांगती हूँ। इसी प्रकार त्रस अर्थात् बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों की मन, वचन या काया से हिंसा की हो, कराई हो या उसका अनुमोदन किया हो तो मेरा वह पाप मिथ्या होवे। मैं उसके लिए हृदय से पश्चात्ताप करती हूँ। यदि मैंने देवरानी, जेठानी, ननद, भौजाई, सासू, ससुर, जेठ, देवर आदि किसी भी कुटुम्बी को मर्मभेदी वचन कहा हो, उनकी गुप्त बात को प्रकट किया हो, धरोहर रक्खी हुई वस्तु को दबाया हो या और किसी प्रकार से उन्हें कष्ट पहुँचाया हो तो मेरा वह पाप मिथ्या होवे। मैं उनसे बारबार क्षमा माँगती हूँ। यदि मैंने जानते हुए या बिना जाने कभी झूठ बोला हो, चोरी की हो, स्वप्न में भी परपुरुष के लिए बुरी भावना की हो, परिग्रह का अधिक संचय किया हो, धन, धान्य, कुटुम्ब आदि पर ममत्व रक्खा हो तो मेरा वह पाप निष्फल होवे। यदि मैंने धन पाकर गर्व किया हो, किसी की निन्दा या चुगली की हो, इधर उधर बातें बना कर दो व्यक्तियों में झगड़ा कराया हो, किसी पर झूठा कलंक लगाया हो, धर्मकार्य में आलस्य किया हो, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये माया जाल रचा हो, किसी को धोखा दिया हो, सच्चे देव, गुरु तथा धर्म के प्रति अविश्वास किया हो, अधर्म को धर्म समझा हो तो मेरा वह पाप मिथ्या हो। मैं उसके लिए पश्चात्ताप करती हूँ। अपने अपराध के लिए संसार के सभी जीवों से क्षमा माँगती हूँ। संसार के सभी प्राणी मेरे मित्र हैं। मेरी शत्रुता किसी से नहीं है।

इस प्रकार आलोयणा करने से पद्मावती का दुःख कुछ हल्का हो गया। उसे वहीं पर नींद आ गई।

उठने पर पद्मावती ने नगर के लिए मार्ग खोजना शुरू किया। खोजते खोजते वह एक आश्रम में पहुँच गई। आश्रम निवासियों ने उसका अतिथिसत्कार किया। स्वस्थ होने पर उन्होंने उसे नगर

का मार्ग बता दिया।

पास वाले नगर में आकर पद्मावती साध्वियों के उपाश्रय में चली गई। वन्दना नमस्कार करके उनके पास बैठ गई। साध्वियों ने उससे पूछा- बहिन तुम कौन हो? कहाँ से आई हो?

पद्मावती ने उत्तर दिया- मैं एक रास्ता भूली हुई अबला हूँ। कष्ट और आपत्तियों से छुटकारा पाने के लिए आपकी शरण में आई हूँ। पद्मावती ने अपना वास्तविक परिचय देना ठीक न समझा।

साध्वियों ने उसे दुखी देख कर उपदेश देना शुरू किया- बहिन! यह संसार असार है। जो वस्तु पहले सुखमय मालूम पड़ती है वही बाद में दुःखमय हो जाती है। संसार में मालूम पड़ने वाले सुख वास्तविक नहीं हैं। वे नश्वर हैं। क्षणभंगुर हैं। जो कल राजा था वही आज दर दर का भिखारी बना हुआ है। जिस घर में सुबह के समय राग रंग दिखाई देते हैं, शाम को वहीं रुदन सुनाई पड़ता है। यह सब कर्मों की विडम्बना है। संसार की माया है। इसमें फंसा हुआ व्यक्ति सदा दुःख प्राप्त करता है। यदि तुम्हें सम्पूर्ण और शाश्वत सुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो संसार का मोह छोड़ दो। संसार के झगड़ों को छोड़ कर आत्मचिन्तन में लीन हो जाओ।

पद्मावती पर उपदेश का गहरा असर पड़ा। संसार के सारे संबन्ध उसे निःसार मालूम पड़ने लगे। उसने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। साध्वियों ने चतुर्विध संघ की आज्ञा लेकर पद्मावती को दीक्षा दे दी। जिस व्यक्ति का कोई इष्ट सम्बन्धी पास में न हो या जिसके साथ किसी की जान पहिचान न हो उसे दीक्षा देने के लिए संघ की आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

पद्मावती आत्मचिन्तन तथा धर्मध्यान में लीन रहने लगी। कुछ दिनों बाद साध्वियों को उसके गर्भ का पता लगा। दीक्षा

के समय इस बात को छिपा रखने के लिए उसे उलहना दिया गया। साध्वियों ने पद्मावती को गुप्त रूप से रख लिया, जिससे धर्म की निन्दा न हो और गर्भ को भी किसी प्रकार का धक्का न पहुँचे।

समय पूरा होने पर पद्मावती ने सुन्दर बालक को जन्म दिया। साध्वियाँ इस बात से असमञ्जस में पड़ गईं। लोकव्यवहार के अनुसार वे बालक को अपने पास नहीं रख सकती थीं किन्तु उस की रक्षा भी आवश्यक थी। दूसरी साध्वियों को इस प्रकार असमञ्जस में देख कर पद्मावती ने कहा– इस विषय में चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयं सारी व्यवस्था कर लूँगी जिससे लोक निन्दा भी न हो और बालक की रक्षा भी हो जाय।

रात पड़ने पर पद्मावती बालक को लेकर श्मशान में गई। जलती हुई चिता के प्रकाश में उसने बालक को इस तरह रख दिया जिससे आने जाने वाले की दृष्टि उस पर पड़ जाय। स्वयं एक झाड़ी के पीछे छिप कर देखने लगी।

थोड़ी देर बाद वहाँ एक चण्डाल आया। वह श्मशान भूमि का रक्षक था। उसके कोई सन्तान न थी। बालक को देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ और मन ही मन कहने लगा– मेरे भाग्य से कोई इस बालक को यहाँ छोड़ गया है। मेरे कोई सन्तान नहीं है। आज इस पुत्र की प्राप्ति हुई है। यह कह कर उसने बालक को उठा लिया।

घर जाकर चण्डाल ने बालक अपनी स्त्री को सौंप दिया। साथ में कहा– हमें इस पुत्र की प्राप्ति हुई है। इसे अच्छी तरह पालना। चण्डाल की स्त्री उस सुन्दर बालक को देख कर बहुत प्रसन्न हुई।

पद्मावती चण्डाल के पीछे पीछे गई थी। सारा हाल देख कर उसे सन्तोष हो गया कि अब बालक का भरण पोषण होता रहेगा। वापिस उपाश्रय में आकर वह धर्मध्यान में लीन रहने लगी।

बालक चण्डाल के घर बड़ा होने लगा। उसके शरीर पर प्रायः खुजली चला करती थी। इसलिये वह अपने अंगों को हाथ से खुजलाया करता था। इसी कारण से लोग उसे करकण्डू कहने लगे।

करकण्डू यद्यपि चण्डाल के घर पल रहा था फिर भी उसकी प्रत्येक चेष्टा से स्पष्ट मालूम पड़ता था कि वह भविष्य में राजा बनेगा। खेलते समय वह स्वयं राजा बनता। अपने किसी साथी को सिपाही बनाता और किसी को चोर। फिर उनका न्याय करता। अपराधी को सजा देता। इस प्रकार उसके प्रत्येक कार्य राजा के समान होते थे। बड़ा होने पर उसे श्मशान में रक्षा करने का कार्य सौंपा गया।

एक बार करकण्डू श्मशान में पहरा दे रहा था। उसी समय उधर से दो साधु निकले। आपस में बातचीत करते समय एक साधु के मुँह से निकला–

बाँस की इस झाड़ी में एक सात गाँठ वाली लकड़ी है। वह जिसे प्राप्त होगी उसे राज्य मिलेगा।

इस बात को करकण्डू तथा रास्ते चलते हुए एक ब्राह्मण ने सुना। दोनों लकड़ी लेने चले। दोनों ने उसे एक साथ छूआ। ब्राह्मण कहने लगा– इस लकड़ी पर मेरा अधिकार है और करकण्डू कहने लगा मेरा। दोनों में झगड़ा खड़ा होगया। कोई अपने अधिकार को छोड़ना नहीं चाहता था। बात बढ़ने पर न्यायालय तक पहुँची। ब्राह्मण और करकण्डू दोनों दरबार में उपस्थित हुए। दधिवाहन राजा न्याय करने वाला था। करकण्डू को देख कर दरबार के सभी लोग चकित रह गए। चण्डाल के पुत्र में इतना तेज और ओज देख कर वे आश्चर्य करने लगे।

करकण्डू ने अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहा– महाराज! मैं श्मशान का राजा हूँ। जिस प्रकार आपके राज्य में उत्पन्न हुई

सभी वस्तुओं पर आपका अधिकार है उसी प्रकार श्मशान में उत्पन्न हुई सभी वस्तुओं पर मेरा अधिकार है।

करकण्डू की युक्ति और साहस भरी बात को सुन कर दधिवाहन बहुत प्रसन्न हुआ। उसने मुस्कराते हुए कहा– करकण्डू! इस लकड़ी पर मैं तुम्हारा अधिकार मानता हूँ। श्मशान की सीमा में उत्पन्न होने के कारण यह तुम्हारी है। इसके प्रभाव से जब तुम्हें राज्य प्राप्त हो जाय तो एक गाँव इस ब्राह्मण को भी दे देना।

एक बार करकण्डू उस लकड़ी को लेकर कंचनपुर की ओर जा रहा था। उसी समय वहाँ के राजा का देहान्त होगया। राजा के न कोई पुत्र था और न उत्तराधिकारी। मन्त्रियों को इस बात की चिन्ता हुई कि राजा किसे बनाया जाय। सब ने इकट्ठे होकर निश्चय किया कि राज्य की श्रेष्ठ हस्तिनी के सूँड में हार डाल कर उसे नगर में घुमाया जाय। वह जिसके गले में हार डाल दे उसी को राजा बना देना चाहिए। निश्चय के अनुसार हथिनी घूमने लगी। उसके सूंड में हार था। पीछे पीछे राजपुरुष चल रहे थे। हथिनी चक्कर लगाती हुई नगर के दूसरे द्वार पर पहुँची। उसी समय उस द्वार से करकण्डू ने प्रवेश किया। हथिनी ने माला उस के गले में डाल दी।

करकण्डू कंचनपुर का राजा बन गया। ब्राह्मण को इस बात का पता लगा। उसने करकण्डू के पास आकर गाँव मांगा। करकण्डू ने पूछा–तुम किस के राज्य में रहते हो?

ब्राह्मण ने उत्तर दिया– राजा दधिवाहन के।

करकण्डू ने दधिवाहन राजा के नाम एक आज्ञापत्र लिखा कि इस ब्राह्मण को एक गाँव जागीरी में दो।

ब्राह्मण पत्र लेकर दधिवाहन के पास आया। उसे देख कर दधिवाहन कुपित हो गया। उसने ब्राह्मण से कहा– जाओ! कर-

कण्डू से कह दो कि तुम्हारा राज्य छीन कर मैं ब्राह्मण को गाँव दूँगा। साथ ही उसने लड़ाई के लिये तैयारी शुरू कर दी।

ब्राह्मण ने जाकर सारी बात करकण्डू से कही। उसने भी युद्ध की तैयारी की और चम्पा पर चढ़ाई कर दी।

बाप और बेटा दोनों एक दूसरे के शत्रु बन कर रणक्षेत्र में आ डटे। दूसरे दिन सुबह ही युद्ध शुरू होने वाला था।

पद्मावती को इस बात का पता चला। एक मामूली सी बात पर पिता पुत्र के युद्ध और उसके द्वारा होने वाले नरसंहार की कल्पना से उसे बहुत दुःख हुआ।

वह करकण्डू के पास गई। सिपाहियों ने जाकर उसे खबर दी- महाराज! कोई साध्वी आप से मिलना चाहती है। करकण्डू ने कहा-उसे आने दो।

पद्मावती ने आते ही कहा-बेटा!

करकण्डू आश्चर्य में पड़ गया। उसे क्या मालूम था कि यही साध्वी उस की मां है।

पद्मावती ने फिर कहा- करकण्डू! मैं तुम्हारी मां हूँ। दधिवाहन राजा तुम्हारा पिता है। ऐसा कह कर पद्मावती ने उसे शुरू से लेकर सारा हाल सुनाया। उसे माता मान कर करकण्डू ने भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। युद्ध का विचार छोड़ कर वह पिता से मिलने चला।

पद्मावती शीघ्रता पूर्वक चम्पापुरी में गई। एक साध्वी को आते देख कर नगरी का दरवाजा खुला। पद्मावती सीधी दधिवाहन के पास पहुँची और सारा हाल कहा।

'करकण्डू मेरा पुत्र है' यह जान कर दधिवाहन को बहुत हर्ष हुआ। उसी समय उन्हीं वस्त्रों से वह करकण्डू से मिलने चला। करकण्डू भी पिता से मिलने के लिए आ रहा था। मार्ग में ही दोनों मिल गए। करकण्डू दधिवाहन के पैरों में गिर पड़ा और अपने

अपराध के लिए क्षमा माँगने लगा। दधिवाहन ने उसे अपनी छाती से लगा लिया। पिता को बिछुड़ा हुआ पुत्र मिला और पुत्र को पिता। दोनों सेनाएं जो परस्पर शत्रु बन कर आई थीं, परस्पर मित्र बन गई। चम्पा और कंचनपुर दोनों का राज्य एक होगया। दधिवाहन करकण्डू को राजसिंहासन पर बिठा कर स्वयं धर्मध्यान में लीन रहने लगा।

तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि में लीन रहती हुई पद्मावती ने आत्म कल्याण किया।

(१) ठाणांग सूत्र (५) सती चन्दनबाला अपरनाम वसुमती
(२) ज्ञाताधर्मकथांग (६) राजीमती
(३) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (७) पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यान
(४) पंचाशक

८७६- सतियों के लिए प्रमाणभूत शास्त्र

निम्न लिखित शास्त्र और प्राचीन ग्रन्थों में सतियों का संक्षिप्त वर्णन मिलता है-

(१) ब्राह्मी — आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १९६
(२) सुन्दरी — ,, ,, गाथा ३४८
(३) चन्दनबाला — ,, गा० ५२०-२१
(४) राजीमती — दशवैकालिकनिर्युक्ति अ० २ गा० ८
उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २२
(५) द्रौपदी — ज्ञातासूत्र १६ वाँ अध्ययन
(६) कौशल्या — त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व ७
(७) मृगावती — आवश्यकनिर्युक्ति गा० १०४८
दशवैकालिकनिर्युक्ति अ० १ गा० ७६
(८) सुलसा — आवश्यकनिर्युक्ति गा० १२८४
(९) सीता — त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व ७

(१०) सुभद्रा दशवैकालिकनिर्युक्ति गा० ७३-७४ अ० १
(११) शिवा आवश्यक निर्युक्ति गा० १२८४
(१२) कुन्ती ज्ञाताधर्मकथाङ्ग १६ वाँ अध्ययन
(१३) दमयन्ती
(१४) पुष्पचूला आवश्यकनिर्युक्ति गा० १२८४
(१५) प्रभावती ,, गा० १२८४
(१६) पद्मावती आवश्यकनिर्युक्ति गा० १३११की भाष्य गाथा२०५-६

सतरहवां बोल संग्रह

८७७-विनय समाधि अध्ययन की १७ गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र के नवें अध्ययन का नाम विनयसमाधि है। उस में चार उद्देशे हैं। पहले उद्देशे में १७ गाथाएं हैं। दूसरे में २४। तीसरे में १५ और चौथे में ७। पहले उद्देशे की १७ गाथाओं का भावार्थ नीचे लिखे अनुसार है-

(१) जो शिष्य अहंकार, क्रोध, छल तथा प्रमाद के कारण गुरु की सेवा में रहता हुआ भी विनयधर्म की शिक्षा नहीं लेता। अहंकार आदि दुर्गुण उसके ज्ञान आदि सद्गुणों को उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जिस प्रकार बाँस का फल स्वयं बाँस को नष्ट कर देता है।

(२) जो दुर्बुद्धि शिष्य अपने गुरु को मन्दबुद्धि, अल्पवयस्क और अल्पज्ञ जान कर उनकी हीलना करता है, निन्दा करता है वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है तथा गुरु की बड़ी भारी अशातना करने वाला होता है।

(३) बहुत से मुनि वयोवृद्ध होने पर भी स्वभाव से मन्दबुद्धि होते हैं। बहुत से छोटी उमर वाले भी बुद्धिमान् तथा शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं। ज्ञान में न्यूनाधिक होने पर भी सदाचारी और सद्गुणी गुरुजनों का अपमान न करना चाहिए। उनका अपमान अग्नि के समान सभी गुणों को भस्म कर देता है।

(४) यह छोटा है, कुछ नहीं कर सकता ऐसा समझ कर भी जो व्यक्ति साँप को छेड़ता है उसे साँप काट खाता है और बहुत

अधिक हानि पहुँचा देता है। इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की हीलना करने वाला मन्द बुद्धि शिष्य जातिपथ अर्थात् जन्म मरणरूप संसार को बढ़ाता है।

(५) दृष्टिविष सर्प भी बहुत क्रुद्ध होने पर प्राणनाश से अधिक कुछ नहीं कर सकता किन्तु आशातना के कारण आचार्य के अप्रसन्न हो जाने पर अबोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञान का अभाव हो जाता है। फिर मोक्ष नहीं होता अर्थात् आचार्य की आशातना करने वाला कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

(६) जो अभिमानी शिष्य आचार्य की आशातना करता है वह जलती हुई आग पर पैर रख कर जाना चाहता है, आशीविष अर्थात् भयङ्कर साँप को क्रोधित करता है अथवा जीने की इच्छा से जहर खाता है।

(७) यह सम्भव है कि पैर रखने पर आग न जलाए, क्रोधित सर्प न डसे अथवा खाया हुआ विष अपना असर न दिखाए अर्थात् खाने वाले को न मारे किन्तु गुरु की निन्दा या अपमान से कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

(८) जो अभिमानी शिष्य गुरुजनों की आशातना करता है वह कठोर पर्वत को मस्तक की टक्कर से फोड़ना चाहता है। सोए हुए सिंह को लात मार कर जगाता है तथा शक्ति (खांडा) की तेज धार पर अपने हाथ पैरों को पटक कर स्वयं घायल होता है।

(९) यह सम्भव है कि कोई सिर की टक्कर से पर्वत को तोड़ दे, क्रोधित सिंह से भी बच जावे। खांडे पर पटके हुए हाथ पैर भी न कटें किन्तु गुरु की हीलना करने वाला शिष्य कभी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

(१०) आशातना द्वारा आचार्य को अप्रसन्न करने वाला व्यक्ति कभी बोधि को प्राप्त नहीं कर सकता। इस लिए वह मोक्ष सुख

का भागी भी नहीं हो सकता। अनाबाध मोक्ष सुख की इच्छा करने वाले भव्य पुरुष का कर्तव्य है कि वह सदा अपने धर्माचार्य को प्रसन्न रखने के लिये प्रयत्नशील रहे।

(११) जिस प्रकार अग्नि होत्री ब्राह्मण मन्त्रपूर्वक मधु घी आदि की विविध आहुतियों से अग्नि का अभिषेक और पूजा करता है उसी प्रकार अनन्तज्ञान सम्पन्न हो जाने पर भी शिष्य को आचार्य की नम्रभाव से उपासना करनी चाहिए।

(१२) शिष्य का कर्तव्य है कि जिस गुरु के पास आत्मा का विकास करने वाले धर्मशास्त्र की शिक्षा ले, उसकी पूर्ण रूप से विनय भक्ति करे। हाथ जोड़ कर उसे सिर से नमस्कार करे और मन, वचन, काया से गुरु का सदा उचित सत्कार करे।

(१३) लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य कल्याण चाहने वाले साधु की आत्मा को शुद्ध करने वाले हैं। इस लिए शिष्य सदा यह भावना करे कि जो गुरु मुझे सदा हित शिक्षा देते हैं, मुझे उनका आदर सत्कार करना चाहिए।

(१४) जिस प्रकार रात्रि के अन्त में देदीप्यमान सूर्य सारे भरतखंड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार आचार्य अपने श्रुत अर्थात् ज्ञान, शील अर्थात् चारित्र और बुद्धि से जीवाजीवादि पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार देवों के बीच बैठा हुआ इन्द्र शोभा देता है उसी प्रकार साधुओं की सभा के बीच बैठा हुआ आचार्य शोभा देता है।

(१५) जैसे बादल रहित निर्मल आकाश में शुभ्र चाँदनी और तारामण्डल से घिरा हुआ चाँद शोभा देता है उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच गणी अर्थात् आचार्य सुशोभित होता है।

(१६) आचार्य तीनों योगों की समाधि अर्थात् निश्चलता, श्रुतज्ञान, शील और बुद्धि से युक्त सम्यग्दर्शन आदि गुणों के

आकर (खान) होते हैं। मोक्षाभिलाषी को चाहिए कि वह आचार्य की निरन्तर आराधना करे। सदा उनकी सेवा में रहे और उन्हें प्रसन्न रक्खे।

(१७) बुद्धिमान् साधु को चाहिए कि वह शिक्षाप्रद उपदेशों को सुन कर अप्रमत्तभाव से आचार्य की सेवा करे। इस प्रकार सेवा करने से सद्गुणों की प्राप्ति होती है और जीव अन्त में सिद्धि को प्राप्त करता है। (दशवैकालिक अध्ययन ६ उद्देशा १)

८७८– भगवान् महावीर की तपश्चर्या विषयक १७ गाथाएं

आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, नवम अध्ययन के चौथे उद्देशे में भगवान् महावीर की तपश्चर्या का वर्णन है। उसमें सतरह गाथाएं हैं। उनका भावार्थ क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है।

भगवान सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं– हे आयुष्मन् जम्बू! भगवान् महावीर के पास से उनकी तपस्या का वर्णन मैंने जैसा सुना है वैसा तुम्हें कहता हूँ–

(१) किसी प्रकार का रोग न होने पर भी भगवान् ऊनोदरी अर्थात् परिमित आहार करते थे। रोग उत्पन्न होने पर उसके लिए औषधोपचार करना नहीं चाहते थे।

(२) सारे शरीर को अशुचि रूप समझ कर वे जुलाब, वमन, तैलाभ्यंग (मालिश), स्नान, सम्बाधन (पगचाँपी) और दातुन भी नहीं करते थे।

(३–४) इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर वे सदा अल्पभाषी होते हुए विचरते थे। शीत काल में भगवान् छाया में बैठ कर ध्यान किया करते थे और ग्रीष्म ऋतु में धूप में बैठ कर आतापना लेते थे। शरीर निर्वाह के लिए वे रूखे भात, मन्थु (बेर आदि का चूर्ण)

या उड़दों का आहार किया करते थे।

(५-६) लगातार आठ महीने तक भगवान् इन्हीं तीन वस्तुओं पर निर्वाह करते रहे। पन्द्रह दिन, महीना, दो महीने यहाँ तक कि छह महीने उन्होंने पानी का सेवन किए बिना बिता दिए। रूखे सूखे बचे हुए अन्न का भोजन करते हुए वे किसी वस्तु की इच्छा नहीं रखते हुए विचरते थे।

(७) इस प्रकार का अन्न भी वे बेले, तेले, चौले या पाँच पाँच उपवासों के बाद उपयोग में लाते थे। ऐसा करते हुए वे शरीर की समाधि का ध्यान रखते थे। मन में कभी ग्लानि न आने देते थे तथा नियाणा भी न करते थे।

(८) हेय और उपादेय के स्वरूप को जानने वाले भगवान् महावीर ने स्वयं पाप नहीं किया, दूसरों से नहीं कराया और न करने वाले को भला समझा।

(९) भगवान् नगर अथवा गाँव में जाकर दूसरों के लिए किये हुए आहार की गवेषणा करते थे। इस प्रकार शुद्ध आहार लेकर उसे सावधानी से उपयोग में लाते थे।

(१०) भिक्षा लेने के लिए जाते समय भगवान् के मार्ग में कौए वगैरह भूखे पक्षी तथा दूसरे प्राणी अपना आहार करते हुए बैठे रहते थे। भगवान् उन्हें किसी प्रकार की बाधा पहुँचाए बिना निकल जाते थे।

(११-१२) यदि मार्ग में या दाता के द्वार पर ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चण्डाल, बिल्ली या कुत्ते वगैरह को आहार मिल रहा हो तो उसे देख कर भगवान् किसी प्रकार का विघ्न नहीं डालते थे। मन में किसी प्रकार की अप्रीति किए बिना धीरे धीरे चले जाते थे। यहाँ तक कि भगवान् भिक्षाटन करते हुए कुन्थु वगैरह छोटे से छोटे प्राणी की भी हिंसा नहीं करते थे।

(१३) आहार भीगा हुआ हो या सूखा, ठण्डा हो या बहुत दिनों का बासी, उबाले हुए उड़दों का, पुराने अनाज का या जौ वगैरह नीरस धान्य का जो भी आहार मिल जाता वे उसे शान्तिपूर्वक काम में लाते। यदि बिल्कुल नहीं मिलता तो भी सन्तोष रखते थे।

(१४) भगवान् उत्कुटुक, गोदोहनिका, वीरासन वगैरह आसनों से बैठ कर विकार रहित होते हुए धर्म ध्यान करते थे। इच्छा रहित बन कर वे आत्मा की पवित्रता के लिए ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग्लोक के स्वरूप का ध्यान में विचार करते थे।

(१५) इस प्रकार कषाय रहित होकर गृद्धि को छोड़ कर, शब्दादि विषयों में अनासक्त रहते हुए भगवान् ध्यान में लीन रहते थे। छद्मस्थ अवस्था में भी संयम में लीन रहते हुए भगवान ने एक बार भी कषायादि रूप प्रमाद सेवन नहीं किया।

(१६-१७) अपने आप संसार की असारता को जान कर आत्मा की पवित्रता द्वारा मन, वचन और काया को अपने वश में रखते हुए भगवान् शान्त और कपट रहित होकर जीवन पर्यन्त पवित्र कार्यों में लगे रहे।

भगवान् ने इस प्रकार निरीह होकर शुद्ध संयम का पालन किया है। दूसरे साधुओं को भी इसी प्रकार करना चाहिए।

(आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध ९ वां अध्ययन ४ उद्देशा)

८७९- मरण सतरह प्रकार का

आयुष्य पूरी होने पर आत्मा का शरीर से अलग होना अथवा शरीर से प्राणों का निकलना मरण कहलाता है। इसके १७ भेद हैं-

(१) आवीचिमरण- आयुकर्म के भोगे हुए पुद्गलों का प्रत्येक क्षण में अलग होना आवीचिमरण है।

(२) अवधिमरण- नरक आदि गतियों के कारणभूत आयु-कर्म के पुद्गलों को एक बार भोग कर छोड़ देने के बाद जीव फिर

उन्हीं पुद्गलों को भोग कर मृत्यु प्राप्त करे तो बीच की अवधि को अवधिमरण कहते हैं अर्थात् एक बार भोग कर छोड़े हुए परमाणुओं को दुबारा भोगने से पहले पहले जब तक जीव उनका भोगना शुरू नहीं करता तब तक अवधिमरण होता है।

(३) आत्यन्तिकमरण– आयुकर्म के जिन दलिकों को एक बार भोग कर छोड़ दिया है यदि उन्हें फिर न भोगना पड़े तो उन दलिकों की अपेक्षा जीव का आत्यन्तिकमरण होता है।

(४) वलन्मरण– संयम या महाव्रतों से गिरते हुए व्यक्ति की मृत्यु वलन्मरण होती है।

(५) वशार्तमरण– इन्द्रिय विषयों में फंसे हुए व्यक्ति की मृत्यु वशार्तमरण होती है।

(६) अन्तः शल्यमरण– जो व्यक्ति लज्जा या अभिमान के कारण अपने पापों की आलोयणा किए बिना ही मर जाता है उसकी मृत्यु को अन्तःशल्यमरण कहते हैं।

(७) तद्भवमरण– तिर्यञ्च या मनुष्य भव में आयुष्य पूरी करके फिर उसी भव की आयुष्य बांध लेने पर तथा दुबारा उसी भव में उत्पन्न होकर मृत्यु प्राप्त करना तद्भवमरण है।

तद्भवमरण देव तथा नरक गति में नहीं होता, क्योंकि देव मर कर देव तथा नैरयिक मर कर नैरयिक नहीं होता।

(८) बालमरण– व्रतरहित प्राणियों की मृत्यु बालमरण है।

(९) पण्डितमरण– सर्वविरति साधुओं की मृत्यु को पण्डित मरण कहते हैं।

(१०) बालपण्डितमरण– देशविरति श्रावकों की मृत्यु को बालपण्डितमरण कहते है।

(११) छद्मस्थमरण– केवलज्ञान बिना प्राप्त किये छद्मस्थावस्था में मृत्यु हो जाना छद्मस्थमरण है।

(१२) केवलिमरण– केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद मृत्यु होना केवलिमरण है।

(१३) वैहायसमरण–आकाश में होनेवाली मृत्यु को वैहायस मरण कहते हैं। वृक्ष की शाखा आदि से बाँध देने पर या फाँसी आदि से मृत्यु हो जाना भी वैहायसमरण है।

(१४) गिद्धपिट्ठमरण–गिद्ध, शृगाल आदि मांसाहारी प्राणियों द्वारा खाया जाने पर होने वाला मरण गिद्धपिट्ठमरण है। यह दो प्रकार से होता है–शरीर का मांस खाने के लिए आते हुए हिंसक प्राणियों को न रोकने से या गिद्ध आदि के द्वारा खाए जाते हुए हाथी ऊँट आदि के कलेवर में प्रवेश करने से। अथवा अपने शरीर पर लाल रंग या मांस की तरह मालूम पड़ने वाली किसी वस्तु को लगा कर अपनी पीठ गिद्ध आदि को खिला देना और उससे मृत्यु प्राप्त करना गिद्धपिट्ठ मरण है। इस प्रकार की मृत्यु महासत्त्व शाली मनुष्य प्राप्त करते हैं। कर्मों की निर्जरा के लिए वे अपने शरीर को मांसाहारी प्राणियों का भक्ष्य बना देते है।

यदि यह मरण विवशता या अज्ञानपूर्वक अथवा कषाय के आवेश में हो तो वह बालमरण है। इसका स्वरूप चौथे भाग बोल नं० ७६८ में दिया जा चुका है।

(१५) भक्तप्रत्याख्यानमरण - यावज्जीवन तीन या चारों आहारों का त्याग करने के बाद जो मृत्यु होती है उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण कहा जाता है। इसी को भक्तपरिज्ञा भी कहते हैं।

(१६) इङ्गिनीमरण– यावज्जीवन चारों आहारों के त्याग के बाद निश्चित स्थान में हिलने डुलने का आगार रख कर जो मृत्यु होती है उसे इङ्गिनीमरण कहते हैं। इङ्गिनी मरण वाला अपने स्थान को छोड़ कर कहीं नहीं जाता। एक ही स्थान पर रहते हुए हाथ पैर आदि हिलाने डुलाने का उसे आगार होता है। वह

दूसरों से सेवा नहीं कराता।

(१७) पादपोपगमन मरण– संथारा करके वृक्ष के समान जिस स्थान पर जिस रूप में एक बार लेट जाय फिर उसी जगह उसी रूप में लेटे रहना और इस प्रकार मृत्यु होजाना पादपोपगमन मरण है। इस मरण में हाथ पैर हिलाने का भी आगार नहीं होता।

(समवायांग १७ वाँ समवाय) (प्रवचनसारोद्धार १७५ वाँ द्वार, गा० १००६-१७)

८८०– माया के सतरह नाम

कपटाचार को माया कहते हैं। इसके सतरह नाम हैं–

(१) माया।
(२) उवही– उपधि।
(३) नियडी– निकृति।
(४) वलए– वलय।
(५) गहणे– गहन।
(६) णूमे– न्यवम।
(७) कक्के– कल्क।
(८) कुरुए– कुरुक।
(९) जिम्हे– जैह्म।
(१०) दंभे– दम्भ।
(११) कूडे– कूट।
(१२) किब्बिसे– किल्विष।
(१३) अणायरणया– अनाचरणता।
(१४) गूहणया– गूहनता।
(१५) वंचणया– वंचनता।
(१६) परिकुँचणया– परिकुंचनता
(१७) सातिओग– सातियोग।

(समवायांग ५२ वाँ, मोहनीय कर्म के ५२ नामों में से)

८८१– शरीर के सतरह द्वार

पन्नवणा सूत्र के इक्कीसवें पद का नाम शरीर पद है। इसमें शरीरों के नाम, अर्थ, आकार, परिमाण आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। उन्हीं के आधार से शरीर के सतरह द्वारों का कथन किया जायगा–

(१) नाम द्वार– औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर।

(२) अर्थ द्वार–उदार अर्थात् प्रधान और स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। अथवा मांस, रुधिर और हड्डियों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है।

जिस शरीर में एक, अनेक, छोटा, बड़ा आदि रूप बनाने की विविध क्रियाएं होती हैं वह वैक्रियक शरीर कहलाता है।

प्राणिदया, तीर्थङ्कर भगवान् की ऋद्धि का दर्शन तथा संशय निवारण आदि प्रयोजनों से चौदह पूर्वधारी मुनिराज जो एक हाथ का पुतला निकालते हैं वह आहारक शरीर कहलाता है।

तैजस पुद्गलों से बना हुआ तथा आहार को पचाने की क्रिया करने वाला शरीर तैजस कहलाता है।

कर्मों से बना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है।

(३) अवगाहना द्वार– औदारिक शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजन से कुछ अधिक होती है। वैक्रियक शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक लाख योजन से कुछ अधिक होती है। आहारक शरीर की जघन्य अवगाहना एक हाथ से कुछ कम, उत्कृष्ट एक हाथ की होती है। तैजस और कार्मण शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट चौदह राजू परिमाण होती है।

(४) संयोग द्वार– जहाँ औदारिक शरीर होता है वहाँ तैजस और कार्मण शरीर की नियमा है अर्थात् निश्चित रूप से होते हैं। वैक्रियक, आहारक शरीर की भजना है अर्थात् जहाँ औदारिक शरीर होता है वहाँ ये दोनों शरीर पाये भी जा सकते हैं और नहीं भी। वैक्रियक शरीर में तैजस कार्मण की नियमा, औदारिक की भजना और आहारक का अभाव होता है। आहारक शरीर में वैक्रियक शरीर का अभाव होता है और शेष तीन शरीरों की

नियमा है। तैजस शरीर में कार्मण की और कार्मण में तैजस की नियमा है अर्थात् ये दोनों शरीर एक साथ रहते हैं। इन दोनों शरीरों में शेष तीन शरीरों की भजना है।

(५) द्रव्य द्वार– औदारिक और वैक्रियक शरीर के असंख्यात द्रव्य हैं। आहारक शरीर के संख्यात द्रव्य हैं। तैजस और कार्मण के अनन्त द्रव्य हैं। इन पांचों शरीरों के प्रदेश अनन्तानन्त हैं।

(६) द्रव्य की अपेक्षा अल्पबहुत्व द्वार– आहारक शरीर के द्रव्य सब से थोड़े हैं। वैक्रियक शरीर के द्रव्य उनसे असंख्यात गुणे अधिक हैं। औदारिक शरीर के द्रव्य उनसे असंख्यात गुणे अधिक हैं। तैजस और कार्मण शरीर के द्रव्य उनसे असंख्यात गुणे अधिक हैं किन्तु परस्पर दोनों तुल्य हैं।

(७) प्रदेश की अपेक्षा अल्पबहुत्व द्वार– आहारक शरीर के प्रदेश सब से थोड़े हैं। वैक्रियक शरीर के प्रदेश उनसे असंख्यात गुणे अधिक हैं। औदारिक शरीर के प्रदेश असंख्यात गुणे, तैजस के अनन्त गुणे और कार्मण शरीर के प्रदेश उनसे अनन्त गुणे हैं।

(८) द्रव्य प्रदेश की अपेक्षा अल्पबहुत्व द्वार– आहारक शरीर के द्रव्य सब से थोड़े हैं। वैक्रियक शरीर के द्रव्य उनसे असंख्यात गुणे अधिक हैं। औदारिक शरीर के द्रव्य उनसे असंख्यात गुणे हैं। आहारक शरीर के प्रदेश अनन्त गुणे हैं। वैक्रियक शरीर के प्रदेश उनसे असंख्यात गुणे हैं। औदारिक शरीर के प्रदेश उनसे असंख्यात गुणे हैं। तैजस और कार्मण शरीर के द्रव्य उनसे अनन्त गुणे हैं। तैजस शरीर के प्रदेश उनसे अनन्त गुणे हैं। कार्मण शरीर के प्रदेश उनसे अनन्त गुणे हैं।

(९) स्वामी द्वार– मनुष्य और तिर्यञ्चों के औदारिक शरीर होता है। तैजस और कार्मण शरीर चारों गति के जीवों के होते हैं। वैक्रियक शरीर नैरयिक और देवों के होता है तथा तिर्यञ्च और

मनुष्यों के भी हो सकता है। आहारक शरीर के स्वामी चौदह पूर्वधारी मुनिराज हैं।

(१०) संस्थान द्वार– औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों मे छहों संस्थान पाये जाते हैं। वैक्रियक में समचतुरस्र और हुण्डक दो संस्थान पाये जाते हैं। आहारक शरीर में एक समचतुरस्र संस्थान पाया जाता है।

(११) संहनन द्वार– औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर में छः संहनन पाये जाते हैं। आहारक में एक वज्रऋषभ नाराच संहनन पाया जाता है। वैक्रियक शरीर में कोई संहनन नहीं होता।

(१२) सूक्ष्म बादर द्वार– कार्मण शरीर सब शरीरों से सूक्ष्म है। तैजस शरीर उससे बादर है। आहारक उससे बादर है। वैक्रियक शरीर उससे बादर है। औदारिक शरीर उससे बादर है। औदारिक शरीर सब शरीरों से बादर है। वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर क्रमशः सूक्ष्म हैं।

(१३) प्रयोजन द्वार– आठ कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त करना औदारिक शरीर का प्रयोजन है। नाना प्रकार के रूप बनाना वैक्रियक शरीर का प्रयोजन है। प्राणिदया, संशयनिवारण, तीर्थंकरों की ऋद्धि का दर्शन आदि आहारक शरीर का प्रयोजन है। संसार में परिभ्रमण करते रहना तैजस और कार्मण शरीर का प्रयोजन है।

(१४) विषय द्वार– औदारिक शरीर का विषय रुचक द्वीप तक है। वैक्रियक शरीर का विषय असंख्यात द्वीप समुद्र पर्यन्त है। आहारक शरीर का विषय अढ़ाई द्वीप पर्यन्त है। तैजस और कार्मण शरीर का विषय चौदह राजू परिमाण है।

(१५) स्थिति द्वार– औदारिक शरीर की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम। वैक्रिय शरीर की जघन्य

स्थिति एक समय और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम। आहारक शरीर की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त। तैजस और कार्मण शरीर की स्थिति अनादि अनन्त है और अनादि सान्त है।

(१६) अवगाहना का अल्पबहुत्व द्वार– औदारिक शरीर की जघन्य अवगाहना सब से थोड़ी है। उससे तैजस, कार्मण की जघन्य अवगाहना विशेषाधिक है। वैक्रियक शरीर की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यात गुणी है। आहारक शरीर की जघन्य अवगाहना उससे असंख्यात गुणी है। आहारक शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना उससे विशेषाधिक है। औदारिक शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना उससे संख्यात गुणी अधिक है। वैक्रियक शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना उससे संख्यात गुणी अधिक है। तैजस और कार्मण शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना उससे असंख्यात गुणी है।

(१७) अन्तर द्वार– औदारिक शरीर का यदि अन्तर पड़े तो जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम। वैक्रियक शरीर का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल। आहारक का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम अर्ध पुद्गल परावर्तन। तैजस और कार्मण शरीर का अन्तर कभी नहीं पड़ता।

पाँच शरीरों का अन्तर दूसरे प्रकार से भी है। औदारिक वैक्रियक, तैजस और कार्मण ये चारों शरीर लोक में सदा पाये जाते हैं। इनका कभी अन्तर नहीं पड़ता। यदि आहारक शरीर का अन्तर पड़े तो उत्कृष्ट ६ महीने तक पड़ता है। (पन्नवणा पद २१)

८८२–विहायोगति के सतरह भेद

आकाश में गमन करने को विहायोगति कहते हैं। इसके १७ भेद हैं

(१) स्पृशद्गति– परमाणुपुद्गल, द्विप्रादेशिक स्कन्ध यावत् अनन्तप्रादेशिक स्कन्धों की एक दूसरे को स्पर्श करते हुए गति होना स्पृशद्गति है।

(२) अस्पृशद्गति– परमाणु या पुद्गलस्कन्धों की परस्पर स्पर्श के बिना गति होना अस्पृशद्गति है।

(३) उपसंपद्यमान गति– दूसरों का सहारा लेकर गमन करना। जैसे राजा, युवराज अथवा राज्य का भार संभालने वाला राजा का प्रतिनिधि या प्रधान मंत्री, ईश्वर (अणिमा आदि लब्धि वाला व्यक्ति), तलवर (ताजीमी सरदार जिसे राजा ने सन्तुष्ट होकर पट्टा दे रक्खा हो) माण्डविक (टूटे फूटे गाँव का मालिक) कौटुम्बिक (बहुत से कुटुम्बों का मुखिया), इभ्य (इतना बड़ा धनवान् जो अपने पास हाथियों को रक्खे अथवा हाथीप्रमाण धनराशि का स्वामी), श्रेष्ठी (सेठ जिसका मस्तक श्रीदेवी के स्वर्णपद से विभूषित रहता है), सेनापति और सार्थवाह क्रमशः एक दूसरे के सहारे पर चलते हैं। इसलिए वह उपसंपद्यमान गति है।

(४) अनुपसंपद्यमान गति– राजा, युवराज, ईश्वर आदि यदि एक दूसरे का अनुसरण करते हुए न चलें, बिना सहारे के चलें तो वह अनुपसंपद्यमान गति है।

(५) पुद्गलगति– परमाणु से लेकर अनन्तप्रादेशिक स्कन्धों तक के पुद्गल की गति को पुद्गलगति कहते हैं।

(६) मण्डूकगति– मेंढक के समान कूद कूद कर चलने को मण्डूक गति कहते हैं।

(७) नौका गति– जिस प्रकार नाव नदी के एक किनारे से दूसरे किनारे तक पानी में ही गमनागमन करती रहती है, इस प्रकार की गति को नौका गति कहते हैं।

(८) नयगति– नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन सात नयों की प्रवृत्ति अथवा मान्यता को नय गति कहते हैं।

(९) छायागति– घोड़ा, हाथी, मनुष्य, किन्नर, महोरग, गंधर्व

वृषभ, रथ तथा छत्र आदि की छाया के अनुसार जो गति हो उसे छायागति कहते हैं अर्थात् छाया में रहते हुए गति करना।

(१०) छायानुपात गति– पुरुष के अनुसार छाया चलती है, छाया के अनुसार पुरुष नहीं चलता। पुरुष के अनुसरण से होने वाली छाया की गति को छायानुपात गति कहते हैं।

(११) लेश्या गति– कृष्ण लेश्या नील लेश्या को प्राप्त करके उसी के वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श रूप में परिणत हो जाती है। इसी प्रकार नील लेश्या कापोत लेश्या को प्राप्त करके तद्रूप में परिणत हो जाती है। कापोतलेश्या तेजोलेश्या के रूप में, तेजोलेश्या पद्मलेश्या के रूप में और पद्मलेश्या शुक्ललेश्या के रूप में। लेश्याओं के इस प्रकार परिणत होने को लेश्या गति कहते हैं।

(१२) लेश्यानुपात गति– जिस लेश्या वाले पुद्गलों को ग्रहण करके जीव मरण प्राप्त करता है उसी लेश्या वाले पुद्गलों के साथ उत्पन्न होता है। जैसे मरते समय कृष्णलेश्या होने पर जन्म लेते समय भी वही रहेगी। इसी प्रकार सभी लेश्याओं के लिये जानना चाहिए। इसे लेश्यानुपात गति कहते हैं।

(१३) उद्दिश्यप्रविभक्तिक गति– यदि आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणी, गणधर या गणावच्छेदक आदि किसी को उद्देश करके गमन किया जाय तो उसे उद्दिश्यप्रविभक्तिक गति कहते हैं।

(१४) चतुःपुरुष प्रविभक्तिक गति– इस में चार भांगे हैं–
(क) चार पुरुष एक साथ तैयार हों और एक ही साथ प्रयाण करें।
(ख) एक साथ तैयार हों किन्तु भिन्न भिन्न समय में प्रयाण करें।
(ग) भिन्न भिन्न समय में तैयार हों और भिन्न भिन्न समय में ही प्रयाण करें।
(घ) भिन्न भिन्न समय में तैयार हों किन्तु एक ही समय में गति करें।

इन चारों भांगों में होने वाली गति को चतुःपुरुषप्रविभक्तिक गति कहते हैं।

(१५) वक्र गति– जो गति टेढ़ी मेढ़ी या जीव को अनिष्ट हो उसे वक्र गति कहते हैं। इसके चार भेद हैं–

(क) घट्टनता– लंगड़ाते हुए चलना।

(ख) स्तम्भनता– ग्रीवा में धमनी अर्थात् रक्त का संचालन करने वाली नाड़ी का रहना या अपना कार्य करना स्तम्भनता है, अथवा आत्मा का शरीर के प्रदेशों में रहना स्तम्भनता है।

(ग) श्लेषणता–घुटने का जाँघ के साथ सम्बन्ध होना श्लेषणता है।

(घ) पतनता– खड़े होते समय या चलते समय गिर पड़ना।

(१६) पंक गति – कीचड़ या पानी में जिस प्रकार कोई पुरुष लकड़ी आदि का सहारा लेकर चलता है, उसी प्रकार की गति को पंक गति कहते हैं।

(१७) बन्धनविमोचन गति– पकने पर या बन्धन से छूटने पर आम, बिजोरा, बिल्व, दाड़िम, पारावत आदि की जो गति होती है उसे बन्धनविमोचन गति कहते हैं। (पन्नवणा १६ वां प्रयोग पद)

८८३– भाव श्रावक के सतरह लक्षण

शास्त्र श्रवण करने वाले देशविरति चारित्र के धारक गृहस्थ को श्रावक कहते हैं। उसमें नीचे लिखे सतरह गुण होते हैं।

(१) श्रावक स्त्रियों के अधीन नहीं होता।

(२) श्रावक इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकता है अर्थात् उन्हें वश में रखता है।

(३) श्रावक अनर्थों के कारण भूत धन में लोभ नहीं करता।

(४) श्रावक संसार में रति अर्थात् अनुराग नहीं करता।

(५) श्रावक विषयों में गृद्धि भाव नहीं रखता।

(६) श्रावक महारम्भ नहीं करता, यदि कभी विवश होकर

करना ही पड़े तो अनिच्छा पूर्वक करता है।

(७) श्रावक गृहस्थावास को जाल के समान मानता है।

(८) श्रावक सम्यक्त्व से विचलित नहीं होता।

(९) श्रावक भेड़ चाल को छोड़ता है।

(१०) श्रावक सारी क्रियाएं आगम के अनुसार करता है।

(११) अपनी शक्ति के अनुसार दान आदि में प्रवृत्ति करता है।

(१२) श्रावक निर्दोष तथा पापरहित कार्य को करते हुए नहीं हिचकता।

(१३) श्रावक सांसारिक वस्तुओं में राग द्वेष से रहित होकर रहता है।

(१४) श्रावक धर्म आदि के स्वरूप का विचार करते समय मध्यस्थ रहता है। अपने पक्ष का मिथ्या आग्रह नहीं करता।

(१५) श्रावक धन तथा कुटुम्बियों के साथ सम्बन्ध रखता हुआ भी सभी को क्षणभङ्गुर समझ कर सम्बन्ध रहित की तरह रहता है।

(१६) श्रावक आसक्ति से सांसारिक भोगों में प्रवृत्त नहीं होता।

(१७) श्रावक हृदय से विमुख रहते हुए गृहस्थावास का सेवन करता है। (धर्मसंग्रह अधिकार २ गाथा २२)

८८४- संयम के सतरह भेद

मन, वचन और काया को सावद्य व्यापार से रोकना संयम है। इस के सतरह भेद हैं-

(१) पृथ्वीकाय संयम- तीन करण तीन योग से पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना न करना पृथ्वीकाय संयम है।

(२) अप्काय संयम- अप्काय के जीवों की हिंसा न करना।

(३) तेजस्काय संयम- तेजस्काय की हिंसा न करना।

(४) वायुकाय संयम-वायुकाय के जीवों की हिंसा न करना।

(५) वनस्पतिकाय संयम-वनस्पतिकाय की हिंसा न करना।

(६) द्वीन्द्रिय संयम– बेइन्द्रिय जीवों की हिंसा न करना।

(७) त्रीन्द्रिय संयम–तेइन्द्रिय जीवों की हिंसा न करना।

(८) चतुरिन्द्रिय संयम–चौरिन्द्रिय जीवों की हिंसा न करना।

(६) पञ्चेन्द्रिय संयम–पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा न करना।

(१०) अजीव संयम– अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं के ग्रहण से असंयम होता है उन्हें न लेना अजीव संयम है। जैसे– सोना, चाँदी आदि धातुओं अथवा शस्त्र को पास में न रखना। पुस्तक, पत्र तथा दूसरे संयम के उपकरणों को पडिलेहना करते हुए यतनापूर्वक बिना ममत्वभाव के मर्यादा अनुसार रखना असंयम नहीं है।

(११) प्रेक्षा संयम– बीज, हरी घास, जीव जन्तु आदि से रहित स्थान में अच्छी तरह देख भाल कर सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाएं करना प्रेक्षा संयम है।

(१२) उपेक्षा संयम– गृहस्थ तथा पासत्था आदि जो पाप-कार्य में प्रवृत्त हो रहा हो उसे पापकार्य के लिए प्रोत्साहित न करते हुए उपेक्षाभाव बनाए रखना उपेक्षासंयम है।

(१३) प्रमार्जना संयम– स्थान तथा वस्त्र पात्र आदि को पूँज कर काम में लाना प्रमार्जना संयम है।

(१४) परिष्ठापना संयम– आहार या वस्त्र पात्र आदि को जीवों से रहित स्थान में जयणा से शास्त्र में बताई गई विधि के अनुसार परठना परिष्ठापना संयम है। समवायांग सूत्र में इस को 'अपहृत्य संयम' लिखा है।

(१५) मनःसंयम– मन में ईर्ष्या, द्रोह, अभिमान आदि न रख कर उसे धर्मध्यान में लगाना मनःसंयम है।

(१६) वचन संयम– हिंसाकारी कठोर वचन को छोड़ कर शुभ वचन में प्रवृत्ति करना वचन संयम है।

(१७) काय संयम—गमनागमन तथा दूसरे आवश्यक कार्यों में काया की उपयोगपूर्वक शुभ प्रवृत्ति करना कायसंयम है।
(समवायांग १७) (हरिभद्रीयावश्यक प्रतिक्रमणाध्ययन) (प्रवचनसारोद्धार गा० ५५६)

८८५– संयम के सतरह भेद

संयम के दूसरी प्रकार से भी सतरह भेद हैं–

(१–५) हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप पाँच आश्रवों से विरति।

(६–१०) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों को उन के विषयों की ओर जाने से रोकना अर्थात् उन्हें वश में रखना।

(११–१४) क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों को छोड़ना।

(१५–१७) मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति रूप तीन दण्डों से विरति। (प्रवचनसारोद्धार द्वार ६६ गाथा ५५५)

८८६– चरम शरीरी को प्राप्त सतरह बातें

जो जीव उसी भव में मोक्ष जाने वाला होता है उसे पुण्य के उदय से नीचे लिखी सतरह बातें प्राप्त होती हैं–

(१) चरम शरीरी को परिणाम में भी रमणीय तथा उत्कृष्ट विषय सुख की प्राप्ति होती है।

(२) चरम शरीरी में अपनी जाति, कुल, सम्पत्ति, वय तथा दूसरे किसी प्रकार से हीनता का भाव नहीं रहता।

(३) दास दासी आदि द्विपद तथा हाथी, घोड़े, गाय, भैंस आदि चतुष्पद की उत्तम समृद्धि प्राप्त होती है।

(४) उसके द्वारा अपना और दूसरों का महान् उपकार होता है।

(५) उनका चित्त बहुत निर्मल होता है अर्थात् वे सदा

उत्तम विचार करते हैं।

(६) वे सभी बातों में धर्म को प्रधान मानते हैं।

(७) विवेक के द्वारा वस्तु का सच्चा स्वरूप जान लेने के कारण उनकी कोई क्रिया निष्फल नहीं होती।

(८) उन्हें उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध होने वाले तथा अप्रतिपाती चारित्र की प्राप्ति होती है।

(९) वे चारित्र के साथ एक हो जाते हैं अर्थात् उनके जीवन में शुद्ध चारित्र इस तरह परिणत हो जाता है कि उनसे बुरा काम होता ही नहीं। चारित्र का पालन करना उनका स्वभाव बन जाता है।

(१०) वे भव्य प्राणियों को सन्तोष देने वाले होते हैं।

(११) वे मन के व्यापार को रोकते हैं। इससे उन्हें शुभ ध्यान रूपी सुख की प्राप्ति होती है।

(१२) उन्हें आमर्षोषधि वगैरह उत्कृष्ट ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(१३) उन्हें अपूर्वकरण (आठवें गुणस्थान) की प्राप्ति होती है।

(१४) इसके बाद उन्हें क्षपक श्रेणी की प्राप्ति होती है। क्षपक श्रेणी और गुणस्थानों का स्वरूप इसी भाग के 'गुणस्थान चौदह' नामक ८४७ वें बोल में दिया जा चुका है।

(१५) वे मोहनीय कर्म रूपी महासागर से पार उतर जाते हैं।

(१६) ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों का सम्पूर्ण क्षय हो जाने पर उन्हें केवलज्ञान तथा केवलदर्शन की प्राप्ति होती है।

(१७) उन्हें परमसुख की प्राप्ति होती है।

(धर्मबिन्दु अध्याय ८ सूत्र ४८४-८६)

अठारहवां बोल संग्रह

८८७- अरिहन्त भगवान् में नहीं पाये जाने वाले अठारह दोष

अरिहन्त भगवान् अठारह दोष रहित होते हैं। सत्तरियसय ठाणा-वृत्ति में ये दोष दो प्रकार से गिनाये हैं। वे इस प्रकार हैं-

पंचेव अन्तराया, मिच्छत्तमन्नाणमविरइ कामो।
हास छग राग दोसा निद्दाऽट्ठारस इमे दोसा॥

(१) दानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) वीर्यान्तराय
(४) भोगान्तराय (५) उपभोगान्तराय (६) मिथ्यात्व
(७) अज्ञान (८) अविरति (९) काम (भोगेच्छा)
(१०) हास्य (११) रति (१२) अरति
(१३) शोक (१४) भय (१५) जुगुप्सा
(१६) राग (१७) द्वेष (१८) निद्रा- ये अठारह दोष हैं।

हिंसाइ तिगं कीला, हासाइ पंचगं च चउ कसाया।
भय मच्छर अन्नाणा, निद्दा पिम्मं इअ व दोसा॥

(१) हिंसा (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) क्रीड़ा (५) हास्य (६) रति (७) अरति (८) शोक (९) भय (१०) क्रोध (११) मान (१२) माया (१३) लोभ (१४) मद (१५) मत्सर (१६) अज्ञान (१७) निद्रा (१८) प्रेम (राग)- इस प्रकार ये अठारह दोष हैं। अरिहन्त भगवान् में ये अठारह दोष नहीं होते।

(सत्तरियसय ठाणावृत्ति गाथा १९२--९३) (प्रव० सा० द्वार ४१ गा०४५१--५२)

८८८- गतागत के अठारह द्वार

एक गति से काल करके जीव किन किन गतियों में जा सकता है तथा किन किन गतियों से आकर एक गति में उत्पन्न होता है इस बात के खुलासे को गतागत कहते हैं। इसके अठारह द्वार हैं-

(१) पहली नरक में जीव ग्यारह स्थानों से आता है- जलचर, स्थलचर, खेचर, उरःपरिसर्प, भुजपरिसर्प, इन पाँच सञ्ज्ञी तिर्यञ्चों के पर्याप्त, पाँच असंज्ञी तिर्यञ्चों के पर्याप्त और संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

पहली नरक से काल करके जीव छः स्थानों में जाता है-पाँच संज्ञी तिर्यञ्च के पर्याप्त और संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

(२) दूसरी नरक में जीव छः स्थानों से आता है- पाँच संज्ञी तिर्यञ्च के पर्याप्त तथा संख्यात वर्ष का कर्मभूमि मनुष्य।

इन्हीं छः स्थानों में जाता है।

(३) तीसरी नरक में पाँच स्थानों से आता है- जलचर, स्थलचर, खेचर और उरःपरिसर्प के संज्ञी पर्याप्त और संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

पहले की तरह छः स्थानों में जाता है।

(४) चौथी नरक में चार स्थानों से आता है- जलचर, स्थलचर और उरःपरिसर्प के संज्ञी पर्याप्त और संख्यात वर्ष का कर्मभूमि मनुष्य।

पहले के समान छः स्थानों में जाता है।

(५) पाँचवी नरक में तीन स्थानों से आता है- जलचर और उरःपरिसर्प के संज्ञी पर्याप्त तथा संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

पहले के समान छः स्थानों में जाता है।

(६) छठी नरक में दो स्थानों से आता है- संज्ञी जलचर

का पर्याप्त तथा संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

पहले के समान छः स्थानों में जाता है।

(७) सातवीं नरक में दो स्थानों से आता है- संज्ञी जलचर और संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य (स्त्री वेद को छोड़ कर)। पाँच स्थानों में जाता है- संज्ञी तिर्यञ्च का पर्याप्त।

(८) भवनपति और व्यन्तर देवों की आगति सोलह की- पाँच संज्ञी तिर्यञ्च के पर्याप्त, पाँच असंज्ञी तिर्यञ्च के अपर्याप्त, संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य, असंख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य, अकर्मभूमि मनुष्य, आन्तर द्वीपिक मनुष्य, खेचर जुगलिया और स्थलचर जुगलिया।

गति नौ स्थानों की- पाँच संज्ञी तिर्यञ्च, संख्यात काल का कर्मभूमि, पृथ्वी, पानी और वनस्पति।

(९) ज्योतिषी तथा पहले दूसरे देवलोक में जीव नौ स्थानों से आता है-पाँच संज्ञी तिर्यञ्च, संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य, असंख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य, अकर्मभूमि मनुष्य और स्थलचर जुगलिया।

नौ स्थानों में जाता है- पाँच संज्ञी तिर्यञ्च, संख्यात काल का कर्मभूमि, पृथ्वी, पानी और वनस्पति।

(१०) तीसरे देवलोक से आठवें देवलोक तक छह की आगति- पाँच संज्ञी तिर्यञ्च के पर्याप्त और संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

इन्हीं छह स्थानों में जाता है।

(११) नवें से बारहवें देवलोक तक चार की आगति-मिथ्यादृष्टि, अविरति सम्यग्दृष्टि, देशविरति सम्यग्दृष्टि और सर्वविरति सम्यग्दृष्टि मनुष्य।

गति एक की- संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

(१२) नवग्रैवेयक में दो की आगति- मिथ्यादृष्टि साधुलिङ्गी

तथा सम्यग्दृष्टि साधु।

गति एक की– संख्यात वर्ष का कर्मभूमि मनुष्य।

(१३) पाँच अनुत्तर विमान में दो की आगति– ऋद्धिप्राप्त अप्रमादी, अनृद्धिप्राप्त अप्रमादी।

गति एक की– संख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य।

(१४) पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में चोहत्तर की आगति–छयालीस प्रकार के तिर्यञ्च (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउ-काय, वायुकाय और प्रत्येक वनस्पति काय में प्रत्येक के चार भेद – सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त। इस प्रकार एकेन्द्रिय के बीस भेद। विकलेन्द्रिय के छः– बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त। पञ्चेन्द्रिय के बीस– जलचर, स्थलचर, खेचर, उरःपरिसर्प और भुजपरिसर्प में प्रत्येक के संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त) मनुष्य के तीन भेद (सञ्ज्ञी मनुष्य का पर्याप्त, अपर्याप्त और असञ्ज्ञी का अपर्याप्त) दस भवनपति, आठ वाण-व्यन्तर, पाँच ज्योतिषी, पहला देवलोक, दूसरा देवलोक। इस प्रकार कुल मिलाकर चोहत्तर हो जाते हैं।

गति उनचास में– ४६ तिर्यञ्च और तीन मनुष्य।

(१५) तेउकाय और वायुकाय में आगति ४९ की–४६ तिर्यञ्च और तीन मनुष्य।

गति छयालीस की– तिर्यञ्च के छयालीस भेद।

(१६) तीन विकलेन्द्रिय में आगति और गति दोनों उनचास की– ४६ तिर्यञ्च और ३ मनुष्य।

(१७) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में आगति सतासी की– उनचास ऊपर लिखे अनुसार, इकतीस प्रकार के देवता (दस भवनपति, आठ वाणव्यन्तर, पाँच ज्योतिषी और पहले से लेकर आठवें तक आठ देवलोक) और सात नरक।

गति बानवे की–संख्यात वर्ष का कर्मभूमि मनुष्य, असंख्यात वर्ष का कर्मभूमि मनुष्य, अकर्मभूमि, आन्तरद्वीपिक, स्थलचर युगलिया और सतासी ऊपर लिखे अनुसार।

(१८) मनुष्य में आगति छ्यानवें की–३८ तिर्यञ्च (पूर्वोक्त छयालीस में से तेउकाय और वायुकाय के आठ भेद छोड़ कर) मनुष्य के तीन, देवता के उनचास (दस भवनपति, आठ वाणव्यन्तर, पाँच ज्योतिषी, बारह देवलोक, नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान) पहली से लेकर छठी तक छह नरक। कुल मिला कर ९६।

गति एक सौ ग्यारह की– ४६ तिर्यञ्च, ३ मनुष्य, ४९ देवता ७ नारकी, असंख्यात काल का कर्मभूमि मनुष्य, अकर्मभूमि, आन्तर द्वीपिक, स्थलचर युगलिया, खेचर युगलिया और मोक्ष। कुल मिला कर १११ हो जाते हैं। (पन्नवणा पद ६)

८८९– लिपियाँ अठारह

जिस के द्वारा अपने भाव लिख कर प्रकाशित किए जा सकें उसे लिपि कहते हैं। आर्यदेशों में अठारह प्रकार की ब्राह्मी लिपि काम में लाई जाती है। वे इस प्रकार हैं–

(१) ब्राह्मी
(२) यवनानी
(३) दोसापुरिया
(४) खरौष्ठी
(५) पुक्खरसरिया
(६) भोगवती
(७) पहराइया
(८) अंतक्खरिया
(९) अक्खरपुट्ठिया
(१०) वैनयिकी
(११) निह्नविकी
(१२) अंकलिपि
(१३) गणितलिपि
(१४) गंधर्वलिपि
(१५) आदर्शलिपि
(१६) माहेश्वरी
(१७) दोमिलिपि
(१८) पौलिन्दी

(प्रज्ञापना पद १ सूत्र ७१) (समवायांग १८ वाँ)

८६०– साधु के अठारह कल्प

दशवैकालिक सूत्र के महाचार नामक छठे अध्ययन में साधु के लिये अठारह स्थान (कल्प) बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं–

वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं ।
पलियंक निसज्जा य सिणाणं सोहवज्जणं ॥

अर्थात्– छः व्रत, छः काया के आरंभ का त्याग, अकल्पनीय वस्तु, गृहस्थ के पात्र, पर्यंक, निषद्या, स्नान और शरीर की शुश्रूषा। इनका त्याग करना ये अठारह स्थान हैं।

(१–६) प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन का त्याग करना ये छः व्रत हैं। प्रथम पाँच व्रतों का स्वरूप इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में ३१६ बोल में दिया गया है। रात्रि भोजन त्याग– रात्रि में सूक्ष्म त्रस और स्थावर प्राणी दिखाई नहीं देते हैं इसलिए उस समय आहार के गवेषणा, ग्रहण और परिभोग सम्बन्धी शुद्ध एषणा नहीं हो सकती। हिंसादि महादोषों को देख कर भगवान् ने साधुओं के लिये रात्रि भोजन त्याग का विधान किया है। दशवैकालिक चौथे अध्ययन में भी इन छहों व्रतों का स्वरूप दिया गया है।

(७–१२) पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पति काय और त्रस काय इन छहों का स्वरूप इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग के बोल नं ४६२ में दिया गया है। साधु को तीन करण और तीन योग से इन छः कायों के आरंभ का त्याग करना चाहिये। एक काया की हिंसा में उसके आश्रित अनेक चाक्षुष एवं अचाक्षुष त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा होती है। अग्नि अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र है। यह छहों दिशा में रहे हुए जीवों का विनाशक है। छःकाय का आरंभ दुर्गति को बढ़ाने वाला है ऐसा जान कर साधुओं को यावज्जीवन के लिए इनका आरंभ छोड़ देना चाहिये।

(१३) अकल्प्य त्याग– मुनि अकल्पनीय पिंड, शय्या, वस्त्र और पात्र आदि को ग्रहण न करे। नित्य आमंत्रित आहार, क्रीत आहार, औद्देशिक आहार तथा आहृत आहार आदि को ग्रहण न करे अर्थात् कोई गृहस्थ साधु से ऐसा निवेदन करे कि 'भगवन्! आप भिक्षा के लिये कहाँ फिरते फिरेंगे, कृपया नित्यप्रति मेरे ही घर से आहार ले लिया करें' गृहस्थ के इस निवेदन को स्वीकार कर नित्य प्रति उसी के घर से आहार आदि लेना नित्य आमंत्रित पिण्ड कहलाता है। इसी प्रकार गृहस्थ के एक जगह से दूसरी जगह जाने से क्षेत्र भेद होने पर भी सदा उसी के यहाँ से भिन्न भिन्न परिवर्तित स्थानों पर जाकर आहार लेना नित्य पिण्ड ही है। साधु के निमित्त मोल लाया हुआ पदार्थ क्रीत कहलाता है। साधु के वास्ते तैयार किया हुआ पदार्थ औद्देशिक कहलाता है। साधु के लिये साधु के स्थान पर लाया हुआ पदार्थ आहृत कहलाता है। साधु के लिये उपरोक्त आहार आदि पदार्थ अकल्पनीय हैं क्योंकि उपरोक्त आहार आदि को लेने से साधु को छःकाया के जीवों की हिंसा की अनुमोदना लगती है। अतः धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले निष्परिग्रह साधु को औद्देशिकादि आहार ग्रहण न करना चाहिये।

जिस प्रकार मुनि के लिये सदोष आहार अकल्पनीय है उसी प्रकार यदि शय्या, वस्त्र और पात्र आदि सदोष हों तो वे भी मुनि के लिये अकल्पनीय हैं।

(१४) भाजन– साधु को गृहस्थी के बर्तनों में अर्थात् कांसी, पीतल आदि की थाली या कटोरी आदि में भोजन न करना चाहिए। इसी प्रकार मिट्टी के बर्तनों में भी साधु को भोजन न करना चाहिए। गृहस्थी के बर्तनों को वापरने से साधु को पूर्वकर्म और पश्चात्कर्म आदि कई दोष लगते हैं अर्थात् जब साधु गृहस्थ के बर्तनों में

आहार आदि करने लग जायगा तो गृहस्थ उन बर्तनों को कच्चे जल आदि से धोकर साधु को भोजन करने के लिए देगा और साधु के भोजन कर लेने के बाद गृहस्थ उन बर्तनों को शुद्ध करने में कच्चे जल आदि का व्यवहार करेगा तथा बर्तनों को साफ करके उस पानी को अयतना पूर्वक इधर उधर फेंक देगा जिससे जीवों की विराधना होगी, इत्यादि अनेक दोषों से संयम की विराधना होने की सम्भावना रहती है इसलिए छःकाया के रक्षक निर्ग्रन्थ साधु को गृहस्थ के बर्तनों में आहार आदि न करना चाहिये।

(१५) आसन– निर्ग्रन्थ साधु को गृहस्थ के आसन, पलंग, खाट, कुर्सी आदि पर न बैठना चाहिये। इन पर बैठने से साधु को अनाचरित नाम का दोष लगता है। यदि कदाचित् किसी कारण विशेष से कुर्सी आदि पर बैठना पड़े तो बैठने से पहले उनकी अच्छी तरह पडिलेहणा कर लेनी चाहिये क्योंकि उपरोक्त आसनों में सूक्ष्म छिद्र होते हैं। अतः साधुओं द्वारा ये आसन सभी प्रकार से वर्जित हैं।

(१६) निषद्या– निर्ग्रन्थ साधु को गृहस्थ के घर में जाकर बैठना न चाहिये। गृहस्थों के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य का नाश होने की सम्भावना रहती है क्योंकि वहाँ बैठने से स्त्रियों का परिचय होता है और स्त्रियों का विशेष परिचय ब्रह्मचर्य का घातक होता है। प्राणियों का वध तथा संयम का घात आदि दोष भी उत्पन्न होते हैं। भिक्षा के लिये आये हुए दीन अनाथ गरीब प्राणियों के दान में अन्तराय पड़ता है। गृहस्थों के घर में बैठने से स्वयं घर के स्वामी को भी क्रोध उत्पन्न होता है। 'साधु का काम है आहार लिया और चल दिया। घर में बैठने से क्या प्रयोजन? प्रतीत होता है यह साधु चाल चलन का कच्चा है' इत्यादि प्रकार से गृहस्थ के मन में साधु के प्रति अनेक प्रकार की शङ्का उत्पन्न

हो सकती है। इसलिये अत्यन्त वृद्ध, रोगी या उत्कृष्ट तपस्वी इन तीन के सिवाय अन्य किसी भी निर्ग्रन्थ साधु को गृहस्थ के घर न बैठना चाहिये।

(१७) स्नान त्याग- निर्ग्रन्थ साधु को कच्चे जल से या गर्म जल से स्नान करने का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। स्नान करने से जल के जीवों की विराधना होती है तथा बह कर जाते हुए जल से अन्य जीवों की भी विराधना होती है। इसलिए साधु को अस्नान नामक कठिन व्रत का यावज्जीवन पूर्णतया पालन करना चाहिए। कारण बिना कभी भी देश या सर्व स्नान न करना चाहिए। इसी प्रकार चन्दन केसर आदि सुगन्धित पदार्थ भी साधु को अपने शरीर पर न लगाने चाहिए। ब्रह्मचर्य की दृष्टि से भी साधु को स्नान न करना चाहिए, स्नान काम का अङ्ग माना गया है। कहा भी है-

स्नानं मद दर्प करं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम्।
तस्मात्कामं परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रताः॥

अर्थात्-स्नान मद और दर्प उत्पन्न करता है। पहला कामाङ्ग माना गया है। यही कारण है कि इन्द्रियों को दमन करने वाले संयमी साधु काम का त्याग कर कभी स्नान नहीं करते। दशवैकालिक तीसरे अध्ययन में स्नान को साधु के लिए अनाचीर्ण बतलाया गया है।

(१८) शोभावर्जन- मलिन एवं परिमित वस्त्रों को धारण करने वाले द्रव्य और भाव से मुण्डित, मैथुन कर्म के विकार से उपशान्त मुनि को अपने शरीर की विभूषा, शोभा और शृङ्गार आदि का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए क्योंकि शरीर की शोभा और शृङ्गार आदि करने से दुस्तर और रौद्र संसार समुद्र में भ्रमण कराने वाले चिकने कर्मों का बन्ध होता है। इसलिये छः काय जीवों के रक्षक ब्रह्मचारी मुनि को शरीर विभूषा का सर्वथा त्याग

कर देना चाहिए।

उपरोक्त अठारह कल्पों का यथावत् पालन करने वाले विशुद्ध तप क्रिया में रत रहने वाले मुनि अविचल मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं।

(दशवैकालिक अध्ययन ६ गाथा ८--६६) (समवायांग १८)

८६१– दीक्षा के अयोग्य अठारह पुरुष

सब प्रकार के सावद्य व्यापार को छोड़ कर मुनि व्रत अङ्गीकार करने को दीक्षा कहते हैं। नीचे लिखे अठारह व्यक्ति दीक्षा के लिए अयोग्य होते हैं–

(१) बाल– जन्म से लेकर आठ वर्ष तक बालक कहा जाता है। बाल स्वभाव के कारण वह देशविरति या सर्वविरति चारित्र को अङ्गीकार नहीं कर सकता। भगवान् वज्रस्वामी ने छः माह की अवस्था में भी भाव से संयम स्वीकार कर लिया था ऐसा कहा जाता है। आठ वर्ष की यह मर्यादा सामान्य साधुओं के लिए निश्चित की गई है। आगमविहारी होने के कारण उन पर यह मर्यादा लागू नहीं होती। कुछ आचार्य गर्भ से लेकर आठ वर्ष तक बाल्यावस्था मानते हैं।

(२) वृद्ध– सत्तर वर्ष से ऊपर वृद्धावस्था मानी जाती है। शारीरिक अशक्ति के कारण वृद्ध भी दीक्षा के योग्य नहीं होते। कुछ आचार्य साठ वर्ष से ऊपर वृद्धावस्था मानते हैं। यह बात १०० वर्ष की आयु को लक्ष्य करके कही गई है। कम आयु होने पर उसी अनुपात से वृद्धावस्था जल्दी मान ली जाती है।

(३) नपुँसक–जिसके स्त्री और पुरुष दोनों वेदों का उदय हो उसे नपुँसक कहते हैं। प्रायः अशुभ भावना वाला तथा लोक निन्दा का पात्र होने के कारण वह दीक्षा के अयोग्य होता है।

(४) क्लीव– पुरुष की आकृति वाला नपुंसक। स्त्रीवेद का तीव्र उदय होने के कारण वह दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(५) जड़– जड़ तीन प्रकार का होता है– भाषाजड़, शरीर जड़ और करणजड़ ।

(क) भाषाजड के तीन भेद हैं– जलमूक, मन्मनमूक और एलक मूक । जो व्यक्ति पानी में डूबे हुए के समान केवल बुद-बुद करता है कुछ भी स्पष्ट नहीं कह सकता उसे जलमूक कहते हैं । बोलते समय जिसके मुँह से कोई शब्द स्पष्ट न निकले, केवल अधूरे और अस्पष्ट शब्द निकलते रहें उसे मन्मनमूक कहते हैं । जो व्यक्ति भेड़ या बकरी के समान शब्द करता है उसे एलक-मूक कहते हैं । ज्ञान ग्रहण में असमर्थ होने के कारण भाषाजड़ दीक्षा के योग्य नहीं होता ।

(ख) शरीर जड़– जो व्यक्ति बहुत मोटा होने के कारण विहार गोचरी, वन्दना आदि करने में असमर्थ है उसे शरीरजड़ कहते हैं ।

(ग) करणजड़– जो व्यक्ति समिति, गुप्ति, प्रतिक्रमण, प्रत्यु-पेक्षण, पडिलेहना आदि साधु के लिए आवश्यक क्रियाओं को नहीं समझ सकता या कर सकता वह करणजड़ (क्रियाजड) है ।

तीनों प्रकार के जड दीक्षा के लिए योग्य नहीं होते ।

(६) व्याधित– किसी बड़े रोग वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं होता ।

(७) स्तेन– खात खनना, मार्ग में चलते हुए को लूटना आदि किसी प्रकार से चोरी करने वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं होता । उसके कारण संघ की निन्दा तथा अपमान होता है ।

(८) राजापकारी– राजा, राजपरिवार, राज्य के अधिकारी या राज्य की व्यवस्था का विरोध करने वाला दीक्षा के योग्य नहीं होता । उसे दीक्षा देने से राज्य की ओर से सभी साधुओं पर क्षोभ होने का भय रहता है ।

(९) उन्मत्त– यक्ष आदि के आवेश या मोह के प्रबल उदय

से जो कर्तव्याकर्तव्य को भूल कर परवश हो जाता है और अपनी विचार शक्ति को खो देता है वह उन्मत्त कहलाता है।

(१०) अदर्शन– दृष्टि अर्थात् बिना नेत्रों वाला अन्धा। अथवा दृष्टि अर्थात् सम्यक्त्व से रहित स्त्यानगृद्धि निद्रा वाला। अन्धा आदमी जीवों की रक्षा नहीं कर सकता और स्त्यानगृद्धि वाले से निद्रा में कई प्रकार के उत्पात हो जाने का भय रहता है। इस लिए वे दोनों दीक्षा के योग्य नहीं होते।

(११) दास– घर की दासी से उत्पन्न हुआ, अथवा दुर्भिक्ष आदि में धन देकर खरीदा हुआ या जिस पर कर्ज का भार हो उसे दास कहते हैं। ऐसे व्यक्ति को दीक्षा देने से उसका मालिक वापिस छुड़ाने का प्रयत्न करता है। इस लिए वह भी दीक्षा का अधिकारी नहीं होता।

(१२) दुष्ट–दुष्ट दो तरह का होता है– कषायदुष्ट और विषय-दुष्ट। जिस व्यक्ति के क्रोध आदि कषाय बहुत उग्र हों उसे कषाय दुष्ट कहते हैं और सांसारिक कामभोगों में फँसे हुए व्यक्ति को विषयदुष्ट कहते हैं।

(१३) मूढ– जिस में हिताहित का विचार करने की शक्ति न हो।

(१४) ऋणार्त– जिस पर राज्य आदि का ऋण हो।

(१५) जुङ्गित– जुङ्गित का अर्थ है दूषित या हीन। जुङ्गित तीन प्रकार का होता है– जाति जुंगित, कर्म जुंगित और शरीर जुंगित।

(क) जाति जुंगित– चंडाल, कोलिक, डोम आदि अस्पृश्य जाति के लोग जाति जुंगित हैं।

(ख) कर्म जुंगित– कसाई, शिकारी, मच्छीमार, धोबी आदि निन्द्य कर्म करने वाले कर्म जुंगित हैं।

(ग) शरीर जुंगित– हाथ, पैर, कान, नाक, ओठ–इन अंगों से रहित, पंगु, कुबड़ा, बहरा, काणा, कोढ़ी वगैरह शरीर जुंगित हैं।

चमार, जुलाहा आदि निम्न कोटि के शिल्प से आजीविका करने वाले शिल्प जुङ्गित हैं। यह जुङ्गित का चौथा प्रकार भी है। वे सभी दीक्षा के अयोग्य हैं। इन्हें दीक्षा देने से लोक में अपयश होने की संभावना रहती है।

(१६) अवबद्ध– धन लेकर नियत काल के लिये जो व्यक्ति पराधीन बन गया है वह अवबद्ध कहलाता है। इसी प्रकार विद्या पढ़ने के निमित्त जिसने नियत काल तक पराधीन रहना स्वीकार कर लिया है वह भी अवबद्ध कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति को दीक्षा देने से क्लेश आदि की शंका रहती है।

(१७) भृतक– नियत अवधि के लिये वेतन पर कार्य करने वाला व्यक्ति भृतक कहलाता है। उसे दीक्षा देने से मालिक अप्रसन्न हो सकता है।

(१८) शैक्ष निस्फेटिका– माता पितादि की रजामन्दी के बिना जो दीक्षार्थी भगा कर लाया गया हो या भाग कर आया हो वह भी दीक्षा के अयोग्य होता है। उसे दीक्षा देने से माता पिता के कर्म बन्ध का संभव है एवं साधु अदत्तादान दोष का भागी होता है। (प्रवचन सारोद्धार द्वार १०७)

(धर्मसंग्रह अधिकार ३ गाथा ७८ टीका)

पुरुषों की तरह उक्त अठारह प्रकार की स्त्रियाँ भी उक्त कारणों से दीक्षा के अयोग्य बतलाई गई हैं। इनके सिवाय गर्भवती और स्तन चूँघने वाले छोटे बच्चों वाली स्त्रियाँ भी दीक्षा के अयोग्य हैं। इस प्रकार दीक्षा के अयोग्य स्त्रियाँ कुल बीस हैं। (प्रवचन सारोद्धार द्वार १०८)

नोट— उपरोक्त अठारह बोल उत्सर्ग मार्ग को लक्ष्य में रख कर कहे गए हैं। अपवाद मार्ग में गुरु आदि उस दीक्षार्थी की योग्यता देख कर सूत्र व्यवहार के अनुसार दीक्षा दे सकते हैं।

८९२– ब्रह्मचर्य के अठारह भेद

मन, वचन और काया को सांसारिक वासनाओं से हटा कर आत्मचिन्तन में लगाना ब्रह्मचर्य है। इसके अठारह भेद हैं–

दिवा कामरइसुहा तिविहं तिविहेण नवविहा विरई।
ओरालिया उ वि तहा तं बंभ अट्ठदसभेयं ॥

अर्थात्– देवसम्बधी भोगों का मन, वचन और काया से स्वयं सेवन करना, दूसरे से कराना तथा करते हुए को भला जानना, इस प्रकार नौ भेद हो जाते हैं। औदारिक अर्थात् मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी भोगों के लिए भी इसी प्रकार नौ भेद हैं। कुल मिलाकर अठारह भेद हो जाते हैं।

इन अठारह प्रकार के भोगों का सेवन न करना अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य है।

(समवायांग १८ वा समवाय) (प्र० सा० द्वार १६८ गाथा ६१)

८९३– अब्रह्मचर्य के अठारह भेद

ऊपर लिखे भोगों को सेवन करना अठारह प्रकार का अब्रह्मचर्य है। (सम० १८ वाँ समवाय) (आवश्यकनिर्युक्ति प्रतिक्रमणाध्ययन)

८९४– पौषध के अठारह दोष

जो व्रत धर्म की पुष्टि करता है उसे पौषधव्रत कहते हैं अथवा अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमा रूप पर्व दिन धर्मवृद्धि के कारण होने से पौषध कहलाते हैं। इन पर्वों में उपवास करना पौषधोपवास व्रत है। यह व्रत चार प्रकार का है–(१) आहार पौषध (२) शरीर पौषध (३) ब्रह्मचर्य पौषध (४) अव्यापार पौषध।

आहार का त्याग करके धर्म का पोषण करना आहार पौषध है। स्नान, उबटन, वर्णक, विलेपन, पुष्प, गन्ध, ताम्बूल, वस्त्र, आभरण रूप शरीर सत्कार का त्याग करना शरीर पौषध है।

अब्रह्म (मैथुन) का त्याग कर कुशल अनुष्ठानों के सेवन द्वारा धर्मवृद्धि करना ब्रह्मचर्य पौषध है। कृषि, वाणिज्यादि सावद्य व्यापारों का त्याग कर धर्म का पोषण करना अव्यापार पौषध है।

आहार तनुसत्कारा ब्रह्म सावद्य कर्मणाम् ।
त्यागः पर्व चतुष्टय्यां, तद्विदुः पौषधव्रतम् ॥

भावार्थ– चारों पर्वों के दिन आहार, शरीर सत्कार, अब्रह्म और सावद्य व्यापारों का त्याग करना पौषधव्रत कहा गया है।

उक्त पौषध व्रत के शास्त्रकारों ने अठारह दोष बताए हैं। वे ये हैं–

(१) पौषध निमित्त ठूंस ठूंस कर सरस आहार करना।

(२) पौषध की पहली रात्रि में मैथुन सेवन करना।

(३) पौषध के लिये नख, केश आदि का संस्कार करना।

(४) पौषध के ख्याल से वस्त्र धोना या धुलवाना।

(५) पौषध के लिये शरीर की शुश्रूषा करना।

(६) पौषध के निमित्त आभूषण पहिनना।

पौषधव्रत लेने के पहले दिन उक्त छः बातें करने से पौषध दूषित होता है। इस लिये इनका सेवन न करना चाहिये।

(७) अव्रती (व्रत न लिए हुए व्यक्ति) से वैयावृत्य कराना।

(८) शरीर का मैल उतारना।

(९) बिना पूँजे शरीर खुजलाना।

(१०) अकाल में निद्रा लेना, जैसे– दिन में नींद लेना, पहर रात जाने के पहले सो जाना और पिछली रात में उठकर धर्म-जागरण न करना।

(११) बिना पूँजे परठना।

(१२) निंदा, विकथा और हँसी मजाक करना।

(१३) सांसारिक बातों की चर्चा करना।

(१४) स्वयं डरना या दूसरों को डराना

(१५) कलह करना।

(१६) खुले मुंह अयतना से बोलना।

(१७) स्त्री के अंग उपांग निहारना (निरखना)।

(१८) काका, मामा आदि सांसारिक सम्बन्ध के नाम से सम्बोधन करना।

सात से अठारह तक ये बारह बातें, पौषध लेने के बाद की जायँ तो दोष रूप हैं। पौषध के इन अठारह दोषों का परिहार करके शुद्ध पौषध करना चाहिये। (श्रावक के चार शिक्षाव्रत)

८९५– अठारह पापस्थानक–

पाप के हेतु रूप हिंसादि स्थानक पापस्थानक हैं। पापस्थानक अठारह हैं–

(१) प्राणातिपात– प्रमाद पूर्वक प्राणों का अतिपात करना अर्थात् आत्मा से उन्हें जुदा करना प्राणातिपात (हिंसा) है। हिंसा की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार कहते हैं:–

> पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च
> उच्छ्वास निःश्वासमथान्यदायुः।
> प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-
> स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥

अर्थात्-पाँच इन्द्रियाँ, मनबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये भगवान ने दश प्राण कहे हैं। इन का आत्मा से पृथक् करना हिंसा है।

प्राणातिपात द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। विनाश, परिताप और संक्लेश के भेद से यह तीन प्रकार का है। पर्याय का नाश करना विनाश है, दुःख उत्पन्न करना परिताप है और क्लेश पहुँचाना संक्लेश है। करण और योग के भेद से यह नव प्रकार का है। इन्हीं नौ भेदों को चार कषाय से गुणा करने

से प्राणातिपात के छत्तीस भेद होजाते हैं।

(२) मृषावाद– मिथ्या वचनों का कहना मृषावाद है। मृषावाद द्रव्य, भाव के भेद से दो प्रकार का है। अभूतोद्भावन, भूतनिह्नव, वस्त्वन्तरन्यास और निन्दा के भेद से इसके चार प्रकार हैं। ये चारों प्रकार इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के २७० वें बोल में दिये हैं।

(३) अदत्तादान- स्वामी,जीव,तीर्थंकर और गुरु द्वारा न दी हुई सचित्त,अचित्त और मिश्र वस्तु को बिना आज्ञा प्राप्त किये लेना अदत्तादान अर्थात् चोरी है। महाव्रत की व्याख्या देते हुए इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग के ३१६ वें बोल में इसका विशद वर्णन है।

(४) मैथुन– स्त्री पुरुष के सहवास को मैथुन कहते हैं। देव, मनुष्य और तिर्यञ्च के भेद से तथा करण और योग के भेद से इसके अनेक भेद हैं। अब्रह्मचर्य के अठारह भेद इस भाग में अन्यत्र दिये हैं।

(५) परिग्रह– मूर्छा- ममता पूर्वक वस्तुओं का ग्रहण करना परिग्रह है। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से परिग्रह दो प्रकार का है। धर्मसाधन के सिवाय धन धान्यादि ग्रहण करना बाह्य है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि आभ्यन्तर परिग्रह हैं।

(६–९)–क्रोध, मान, माया, लोभ–कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले जीव के प्रज्वलन, अहंकार, वञ्चना एवं मूर्च्छा रूप परिणाम क्रमशः क्रोध,मान,माया,लोभ हैं। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के बोल नं० १५८ से १६६ तथा २९१ में कषाय, प्रमाद आदि के वर्णन में इनका विशेष स्वरूप दिया गया है तथा अनन्तानुबन्धी आदि भेदों का निरूपण भी किया गया है।

(१०) राग– माया और लोभ जिसमें अप्रकट रूप से विद्यमान हों ऐसा आसक्तिरूप जीव का परिणाम राग है।

(११) द्वेष– क्रोध और मान जिसमें अव्यक्त भाव से मौजूद हों ऐसा अप्रीति रूप जीव का परिणाम द्वेष है।

(१२) कलह– झगड़ा, राड़ करना कलह है।

(१३) अभ्याख्यान– प्रकटरूप से अविद्यमान दोषों का आरोप लगाना– (झूठा आल) देना अभ्याख्यान है।

(१४) पैशुन्य–पीठ पीछे किसी के दोष प्रकट करना, चाहें उसमें हों या न हों, पैशुन्य है।

(१५) परपरिवाद– दूसरे की बुराई करना, निन्दा करना परपरिवाद है।

(१६) अरति रति– मोहनीय कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर जो उद्वेग होता है वह अरति है और इसी के उदय से अनुकूल विषयों के प्राप्त होने पर चित्त में जो आनन्द रूप परिणाम उत्पन्न होता है वह रति है। जीव को जब एक विषय में रति होती है तब दूसरे विषय में स्वत: अरति हो जाती है। यही कारण है कि एक वस्तु विषयक रति को ही दूसरे विषय की अपेक्षा से अरति कहते हैं। इसी लिये दोनों को एक पापस्थानक गिना है।

(१७) मायामृषा– मायापूर्वक झूठ बोलना मायामृषा है। दो दोषों के संयोग से यह पापस्थानक माना गया है। इसी प्रकार मान और मृषा इत्यादि के संयोग से होने वाले पापों का भी इसी में अन्तर्भाव समझना चाहिये। वेष बदल कर लोगों को ठगना मायामृषा है, ऐसा भी इसका अर्थ किया जाता है।

(१८) मिथ्यादर्शनशल्य– श्रद्धा का विपरीत होना मिथ्या दर्शन है। जैसे शरीर में चुभा हुआ शल्य सदा कष्ट देता है इसी प्रकार मिथ्या दर्शन भी आत्मा को दुखी बनाये रखता है।

प्रवचनसारोद्धार में अठारह पापस्थानों में 'अरति रति' नहीं देकर छठा 'रात्रि भोजन' पापस्थानक दिया है।

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ६ में बताया है कि इन अठारह पापस्थानों से जीव कर्मों का संचय कर गुरु बनता है। बारहवें शतक के

पाँचवे उद्देशे में अठारह पापस्थानों को चतुःस्पर्शी बतलाया है।

(ठाणांग ठाणा१ सूत्र ४८,४९) (प्रवचन सारोद्धार २३७ द्वार)

(दशाश्रुतस्कंध छठी दशा) (भगवती श० १ उ० ६ तथा श० १२ उ० ५)

८९६-- चोर की प्रसूति अठारह--

नीचे लिखी अठारह बातें चोर की प्रसूति समझी जाती हैं अर्थात् स्वयं चोरी न करने पर भी इन बातों को करने वाला चोर का सहायक होने के कारण चोरी का अपराधी माना जाता है। वे इस प्रकार हैं--

भलनं कुशलं तर्जा, राजभागोऽवलोकनम्।
अमार्गदर्शनं शय्या, पदभङ्गस्तथैव च ॥
विश्रामः पादपतनमासनं गोपनं तथा।
खण्डस्य खादनं चैव तथाऽन्यन्माहराजिकम् ॥
पाद्याग्न्युदक रज्जूनां, प्रदानं ज्ञानपूर्वकम्।
एताः प्रसूतयो ज्ञेयाः, अष्टादश मनीषिभिः ॥

(१) भलन- तुम डरो मत, मैं सब कुछ ठीक कर लूँगा, इस प्रकार चोर को प्रोत्साहन देना भलन नाम की प्रसूति है।

(२) कुशल- चोरों के मिलने पर उन से सुख दुःख आदि का कुशलप्रश्न पूछना।

(३) तर्जा- हाथ आदि से चोरी करने के लिए भेजने आदि का इशारा करना।

(४) राजभाग- राजा द्वारा नहीं जाने हुए धन को छिपा लेना और पूछने पर इन्कार कर देना।

(५) अवलोकन-- किसी के घर में चोरी करते हुए चोरों को देख कर चुप्पी साध लेना।

(६) अमार्गदर्शन- पीछा करने वालों द्वारा चोरों का मार्ग

पूछने पर दूसरा मार्ग बता कर असली मार्ग को छिपा लेना।

(७) शय्या- चोर को ठहरने का स्थान देना।

(८) पदभङ्ग- जिस मार्ग से चोर गया है उस मार्ग पर पशु वगैरह ले जाकर चोर के पदचिह्नों को मिटा देना।

(९) विश्राम- अपने घर में विश्राम करने की अनुमति देना।

(१०) पादपतन-प्रणाम आदि के द्वारा चोर को सन्मान देना।

(११) आसन- चोर को आसन या विस्तर देना।

(१२) गोपन- चोर को छिपा कर रखना।

(१३) खण्ड खादन-चोर को मीठा और स्वादिष्ट भोजन देना।

(१४) माहराजिक- चोर को जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसे गुप्त रूप से उसके पास पहुँचाना।

(१५) पाद्यदान- कहीं बाहर से आए हुए चोर को थकावट उतारने के लिए पानी या तेल आदि देना।

(१६) चोर को रसोई बनाने के लिए आग देना।

(१७) पीने के लिए ठण्डा पानी देना।

(१८) चोर के द्वारा लाए हुए पशु आदि को बाँधने के लिए रस्सी देना। (प्रश्नव्याकरण अधर्मद्वार ३, टीका)

८९७- क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय अध्ययन की अठारह गाथाएं

संसार में जितने भी अविद्या प्रधान पुरुष हैं, अर्थात् मिथ्यात्व से जिनका ज्ञान कुत्सित है वे सभी दुःख भागी हैं। अपने भले बुरे के विवेक से शून्य वे पुरुष इस अनन्त संसार में अनेक बार दरिद्रतादि दुःखों से दुखी होते हैं।

(२) स्त्री आदि के सम्बन्ध आत्मा को परवश बना देते हैं इस लिए ये पाश रूप हैं। ये तीव्र मोह को उत्पन्न कर आत्मा की ज्ञान

शक्ति को आवृत कर देते हैं और ये ही अज्ञानियों को दुःख के कारण हैं। यह विचार कर विवेकी पुरुष को स्वयं सत्य और सदागम की खोज करनी चाहिए एवं प्राणियों पर मैत्रीभाव रखना चाहिए।

(३) सत्यान्वेषी विवेकी पुरुष को यह सोचना चाहिए कि स्वकृत कर्मों से दुखी हुए जीव को माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र और पुत्रवधू आदि घनिष्ठ सम्बन्धी भी दुःखों से नहीं छुड़ा सकते। वास्तव में धर्म ही सत्य है एवं उसके बिना संसार में कोई भी शरण रूप नहीं है।

(४) अपनी बुद्धि से उपरोक्त बात सोच कर एवं सम्यग्दृष्टि होकर जीव को विषयों में रहे हुए आसक्ति भाव को मिटा देना चाहिये, स्वजनों में राग न रखना चाहिए एवं पूर्व परिचय की इच्छा भी न करनी चाहिए।

(५) उपरोक्त बात को ही शास्त्रकार दूसरे शब्दों में दोहरा कर उसका फल बताते हैं। गाय, घोड़े, मणि, कुंडल एवं सेवक वर्ग इन सभी का त्याग करने एवं संयम का पालन करने से यह आत्मा इसी भव में वैक्रियलब्धि द्वारा एवं परलोक में देव बन कर इच्छानुसार रूप बनाने वाला हो जाता है।

(६) सत्य के स्वरूप का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं–स्थावर एवं जंगम सम्पत्ति, धान्य एवं गृह सामग्री ये सभी, कर्मों का फल भोगते हुए जीव को दुःख से नहीं बचा सकते।

(७) सत्य स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए शास्त्रकार आश्रव निरोध का उपदेश देते हैं–

इष्ट संयोग और अनिष्ट वियोग से होने वाला सुख सभी जीवों को इष्ट है, उन्हें अपनी आत्मा प्रिय है तथा वे उसकी रक्षा करना चाहते हैं। यह सोच कर भय एवं वैर से निवृत्त होकर आत्मा को किसी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए।

(८) प्राणातिपात रूप आश्रव निरोध का उपदेश देकर शास्त्रकार परिग्रह रूप आश्रव निरोध के लिये कहते हैं– प्रथम एवं अन्तिम आश्रवनिरोध के कथन से बीच के आश्रवों का निरोध भी समझ लेना चाहिये।

धन धान्यादि परिग्रह को साक्षात् नरक समझ कर तृणमात्र का भी परिग्रह न करना चाहिए। क्षुधाविकल होने पर उसे अपने पात्र में गृहस्थ द्वारा दिया गया भोजन करना चाहिये।

(९) आश्रव निरोध रूप संयम क्रिया अनावश्यक है इस मान्यता के विषय में शास्त्रकार कहते हैं–

मुक्ति मार्ग का विचार करते हुए कई लोग कहते हैं कि प्राणातिपातादि रूप पाप का त्याग किये बिना ही तत्त्वज्ञान मात्र से जीव सभी दुःखों से छूट जाता है।

(१०) औषध के ज्ञान मात्र से ही रोगी स्वस्थ नहीं होता किन्तु उसके सेवन से। इसी प्रकार क्रिया शून्य तत्त्वज्ञान भी भव दुःखों से नहीं छुड़ा सकता, यह सत्य है। बन्ध और मोक्ष को मानने वाले जो लोग ज्ञान को मुक्ति का अंग कहते हैं परन्तु मुक्ति के लिये कोई उपाय नहीं करते, वे लोग सत्य से परे हैं। केवल वाक्शक्ति से अपनी आत्मा को आश्वासन ही देते हैं।

(११) उक्त मान्यता के विषय में शास्त्रकार और भी कहते हैं–

'तत्त्व ज्ञान से ही मुक्ति हो जाती है' ये वचन एवं संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाएं आत्मा को पापों से बचाने में समर्थ नहीं हैं। न मन्त्र रूप विद्या की शिक्षा ही पाप से आत्मा की रक्षा कर सकती है। अपने को पंडित समझने वाले एवं हिंसादि पापों में फँसे हुए ये लोग वास्तव में बाल (अज्ञानी) हैं।

(१२) अब सामान्यतः मुक्ति मार्ग के विरोधियों को दोष दिखाते हुए कहते हैं–

जो लोग शरीर,स्निग्ध,गौर,रूप,वर्ण एवं सुन्दर आकार में सब प्रकार मन,वचन और काया से आसक्त हैं। हम कैसे सुन्दर वर्ण और आकृति वाले बनें ? इसके लिए जो निरन्तर सोचा करते हैं, रसायन आदि की चर्चा करते हैं एवं उसका उपयोग करते हैं। ये सभी लोग वास्तव में दुःख के भागी हैं।

(१३) इन्हें कैसे दुःख होता है यह बताते हुए शास्त्रकार उपदेश करते हैं–

इस अनन्त संसार में ये लोग जन्म मरण रूप दुःखमय दीर्घ मार्ग में पहुँचे हुए हैं इसीलिये सभी द्रव्य और भाव दिशाओं की ओर देखते हुए निद्रादि प्रमाद का त्याग कर इस प्रकार विचरना चाहिए कि आत्मा इन्हीं में न भटक कर अपने गन्तव्य स्थान (मुक्ति) में पहुँच जाय।

(१४) संसार के दुःखों से छुटकारा चाहने वाले को चाहिए कि वह केवल मोक्ष को ही अपना उद्देश्य बना ले और किसी वस्तु की इच्छा न करे। यह शरीर भी उसे पूर्व कृत कर्मों को क्षय करने के लिए ही अनासक्ति भाव से धारण करना चाहिए।

(१५) उसे कर्म के हेतु मिथ्यात्व, अविरति आदि को हटा कर क्रिया पालन के अवसर की इच्छा रखते हुए विचरना चाहिए। गृहस्थ द्वारा अपने लिए बनाए हुए भोजन में से संयम निर्वाह योग्य परिमित आहार पानी लेकर उसे खाना चाहिए।

(१६) मुमुक्षु को उक्त आहार का कतई लेपमात्र भी संचय न करना चाहिए। जैसे पक्षी केवल अपने पंखों के साथ उड़ जाता है उसी प्रकार उसे भी पात्रादि धर्मोपकरण लेकर स्थानादि की आसक्ति न रखते हुए निरपेक्ष होकर विचरना चाहिए।

(१७) संयमी को ग्राम नगरादि में एषणा समिति का पालन करते हुए अनियत वृत्ति वाला होकर विचरना चाहिए। उसे

प्रमाद रहित होकर गृहस्थों के यहाँ आहार की खोज करनी चाहिए।

(१८) उक्त उपदेश के प्रति आदर भाव हो इसलिए शास्त्रकार उपदेष्टा का वर्णन करते हैं–

सर्व श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन के धारक, इन्द्रादि से पूजित, विशाल तीर्थ के नायक ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने यह उपदेश फरमाया है।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ६)

८६८– दशवैकालिक प्रथम चूलिका की अठारह गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र की दो चूलिकाएं हैं। प्रथम चूलिका में १८ गाथाएं हैं। संयम से गिरते हुए साधु को स्थिर करने के लिए उन गाथाओं में अठारह बातों का निर्देश किया गया है। किसी आपत्ति के आजाने पर साधु का चित्त चञ्चल हो जाय और संयम के प्रति उसे अरुचि हो जाय तो संयम को छोड़ने से पहले उसे इन अठारह बातों पर विचार करना चाहिए। जिस प्रकार चञ्चल घोड़ा लगाम से और मदोन्मत्त हाथी अंकुश से वश में आ जाते हैं उसी प्रकार इन अठारह बातों का विचार करने से चञ्चल बना हुआ साधु का मन पुनः संयम में स्थिर हो जाता है। वे अठारह ये हैं–

(१) इस दुःखम काल में जीवन दुःख पूर्वक व्यतीत होता है।

(२) गृहस्थ लोगों के कामभोग तुच्छ और क्षणस्थायी हैं।

(३) इस काल के बहुत से मनुष्य कपटी एवं मायावी हैं।

(४) मुझे जो दुःख हुआ है वह बहुत काल तक नहीं रहेगा।

(५) संयम को छोड़ देने पर मुझे गृहस्थों की सेवा करनी पड़ेगी।

(६) वमन किए हुए भोगों का पुनः पान करना होगा।

(७) आरम्भ और परिग्रह का सेवन करने से नीच गतियों में ले जाने वाले कर्म बंधेंगे।

(८) पुत्र पौत्रादि के बन्धनों में फंसे हुए गृहस्थों को पूर्ण रूप से धर्म की प्राप्ति होना दुर्लभ है।

(९) विषूचिकादि रोग हो जाने पर बहुत दुःख होता है।

(१०) गृहस्थ का चित्त सदा संकल्प विकल्पों से घिरा रहता है।

(११) गृहस्थावास क्लेश सहित है और संयम क्लेश रहित है।

(१२) गृहस्थावास बन्धन रूप है और संयम मोक्ष रूप है।

(१३) गृहस्थावास पाप रूप है और चारित्र पाप से रहित है।

(१४) गृहस्थों के कामभोग तुच्छ एवं सर्व साधारण हैं।

(१५) प्रत्येक के पुण्य और पाप अलग अलग हैं।

(१६) मनुष्य का जीवन कुश के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चञ्चल है।

(१७) मेरे बहुत ही प्रबल पाप कर्मों का उदय है इसीलिये संयम छोड़ देने के निन्दनीय विचार मेरे हृदय में उत्पन्न हो रहे हैं।

(१८) पूर्वकृत कर्मों को भोगने के पश्चात् ही मोक्ष होता है, बिना भोगे नहीं। अथवा तप द्वारा पूर्वकृत कर्मों का क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है।

ये अठारह बातें हैं। इन्हीं का निर्देश अठारह गाथाओं में किया गया है। उनका भावार्थ क्रमशः इस प्रकार है।

(१) कामभोगों में आसक्त, गृद्ध एवं मूर्च्छित बना हुआ अज्ञानी साधु आगामी काल के विषय में कुछ भी विचार नहीं करता।

(२) जिस प्रकार स्वर्ग से चव कर मनुष्य लोक में उत्पन्न होने वाला इन्द्र अपनी पूर्व की ऋद्धि को याद कर पश्चात्ताप करता है उसी प्रकार चारित्र धर्म से भ्रष्ट साधु भी पश्चात्ताप करता है।

(३) जब साधु संयम का पालन करता है तब तो सब लोगों का वन्दनीय होता है किन्तु संयम से पतित हो जाने के बाद वह अवन्दनीय हो जाता है। जिस प्रकार इन्द्र द्वारा परित्यक्ता देवी

पश्चात्ताप करती है उसी प्रकार संयम से भ्रष्ट हुआ साधु भी पश्चात्ताप करता है।

(४) संयम में स्थिर साधु सब लोगों का पूजनीय होता है, किन्तु संयम से भ्रष्ट हो जाने के बाद वह अपूजनीय हो जाता है। संयम भ्रष्ट साधु राज्यभ्रष्ट राजा के समान सदा पश्चात्ताप करता है।

(५) संयम का पालन करता हुआ साधु सर्वमान्य होता है किन्तु संयम छोड़ देने के बाद वह जगह जगह अपमानित होता है। जैसे किसी छोटे से गांव में कैद किया हुआ नगर सेठ पश्चात्ताप करता है उसी प्रकार संयम से पतित साधु भी पश्चात्ताप करता है।

(६) जिस प्रकार लोह के कांटे पर लगे हुए मांस को खाने के लिये मछली उस पर झपटती है किन्तु गले में कांटा फंस जाने के कारण पश्चात्ताप करती हुई मृत्यु को प्राप्त करती है, इसी प्रकार यौवन अवस्था के बीत जाने पर वृद्धावस्था के समय संयम से पतित होने वाला साधु भी पश्चात्ताप करता है। जिस प्रकार मछली न तो उस लोह के कांटे को गले से नीचे उतार सकती है और न गले से बाहर निकाल सकती है, उसी प्रकार वह वृद्ध साधु न तो भोगों को भोग सकता है और न उन्हें छोड़ सकता है। यों ही कष्टमय जीवन समाप्त कर मृत्यु के मुँह में पहुँच जाता है।

(७) विषय भोगों के झूठे लालच में फंस कर संयम से गिरने वाले साधु को जब इष्ट संयोगों की प्राप्ति नहीं होती तब बन्धन में पड़े हुए हाथी के समान बारबार पश्चात्ताप करता है।

(८) स्त्री, पुत्र आदि से घिरा हुआ और मोह में फंसा हुआ वह संयमभ्रष्ट साधु कीचड़ में फंसे हुए हाथी के समान पश्चात्ताप करता है।

(९) संयम से पतित हुआ कोई कोई साधु इस प्रकार विचार करता है कि यदि मैं साधुपना न छोड़ता और वीतराग प्ररूपित

संयम धर्म का पालन करता हुआ शास्त्रों का अभ्यास करता रहता तो आज मैं आचार्य पद पर सुशोभित होता।

(१०) जो महर्षि संयमक्रिया में रत हैं वे संयम को स्वर्गीय सुखों से भी बढ़ कर मानते हैं किन्तु जो संयम स्वीकार करके भी उस में रुचि नहीं रखते उन्हें संयम नरक के समान दुखदायी प्रतीत होता है।

(११) संयम में रत रहने वाले देवों के समान सुख भोगते हैं और संयम से विरक्त रहने वाले नरक के समान दुःख भोगते हैं, ऐसा जान कर साधु को सदा संयम मार्ग में ही रमण करना चाहिये।

(१२) संयम और तप से भ्रष्ट साधु बुझी हुई यज्ञ की अग्नि और जिसकी विषैली दाढ़ें निकाल दी गई हैं ऐसे विषधारी सांप के समान सब जगह निरस्कृत होता है।

(१३) ग्रहण किये हुए व्रतों को खण्डित करने वाला और अधर्म मार्ग का सेवन करने वाला संयम भ्रष्ट साधु इस लोक में अपयश और अकीर्ति का भागी होता है और परलोक में नरक आदि नीच गतियों में भ्रमण करता हुआ चिर काल तक असह्य दुःख भोगता है।

(१४) संयम से भ्रष्ट जो साधु कामभोगों में गृद्ध बन कर उनका सेवन करता है वह मर कर नरक आदि नीच गतियों में जाता है। फिर जिनधर्म प्राप्ति रूप बोधि उसके लिए दुर्लभ हो जाती है।

(१५) संकट आ पड़ने पर संयम से डिगने वाले साधु को विचार करना चाहिए कि नरकों में उत्पन्न होकर मेरे इस जीव ने अनेक कष्ट सहन किये हैं और वहाँ की पल्योपम और सागरोपम जैसी दुःख-पूर्ण लम्बी आयु को भी समाप्त करके वहाँ से निकल आया है तो यह चारित्रविषयक कष्ट तो है ही क्या चीज? यह तो अभी थोड़े ही समय में नष्ट हो जायगा।

(१६) साधु को संयम के प्रति जब अरुचि उत्पन्न हो उस समय उसे ऐसा विचार करना चाहिए कि मेरा यह अरति जन्य दुःख अधिक दिनों तक नहीं रहेगा क्योंकि जीव की विषयवासना अशाश्वत है। यदि शरीर में शक्ति के रहते हुए यह नष्ट न होगी तो वृद्धावस्था आने पर अथवा मरने पर तो अवश्य नष्ट हो जायगी।

(१७) जिस मुनि की आत्मा धर्म में दृढ़ होती है, अवसर पड़ने पर वह अपने प्राणों को धर्म पर न्योछावर कर देता है किन्तु संयम मार्ग से विचलित नहीं होता। जिस प्रकार प्रलय काल की प्रचण्ड वायु भी सुमेरु पर्वत को कम्पित नहीं कर सकती उसी प्रकार चञ्चल इन्द्रियाँ भी उक्त मुनि को धर्म से विचलित नहीं कर सकतीं।

(१८) बुद्धिमान् साधु को पूर्वोक्त रीति से विचार करके ज्ञान और विनय आदि लाभ के उपायों को जानना चाहिए और मन, वचन, काया रूप तीन गुप्तियों से गुप्त होकर जिन वचनों का यथावत् पालन करना चाहिए। (दशवैकालिक पहली चूलिका)

उन्नीसवां बोल संग्रह

८६६– कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष

घोडगलया य खम्भे कुड्डे माले य सवरि बहु नियले।
लंबुत्तर थण उड्ढी संजय खलिणे य वायस कविट्ठे॥
सीसो कंपिय मूई अंगुलि भमुहा य वारुणी पेहा।
एए काउसग्गे हवन्ति दोसा इगुणवीसं॥

अर्थात्– घोटक, लता, स्तम्भकुड्य, माल, शबरी, वधू, निगड, लम्बोत्तर, स्तन, ऊर्द्धिका, संयती, खलीन, वायस, कपित्थ, शीर्षोत्कम्पित, मूक, अंगुलिकाभ्रू, वारुणी, प्रेक्षा ये कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष हैं।

(१) घोटक दोष– घोड़े की तरह एक पैर को आकुंचित कर (मोड़ कर) खड़े रहना।

(२) लतादोष– तेज हवा से प्रकम्पित लता की तरह कांपना।

(३) स्तम्भकुड्य दोष– खम्भे या दीवाल का सहारा लेना।

(४) मालदोष– माल यानि ऊपरी भाग में सिर टेक कर कायोत्सर्ग करना।

(५) शबरी दोष–वस्त्र रहित शबरी (भिल्लनी) जैसे गुह्यस्थान को हाथों से ढक कर खड़ी रहती है उसी तरह दोनों हाथ गुह्यस्थान पर रख कर खड़े रहना।

(६) वधू दोष–कुलवधू की तरह मस्तक झुका कर खड़े रहना।

(७) निगड़ दोष– बेड़ी पहने हुए पुरुष की तरह दोनों पैर फैला कर अथवा मिला कर खड़े रहना।

(८) लम्बोत्तर दोष–अविधि से चोलपट्टे को नाभि के ऊपर

और नीचे घुटने तक रख कर खड़े रहना।

(९) स्तन दोष– डांस, मच्छर के भय से अथवा अज्ञान से चोलपट्टे द्वारा छाती ढक कर कायोत्सर्ग करना।

(१०) ऊर्द्धिका दोष– एड़ी मिला कर और पंजों को फैला कर खड़े रहना अथवा अंगूठे मिला कर और एड़ी फैला कर खड़े रहना ऊर्द्धिका दोष है।

(११) संयती दोष– साध्वी की तरह कपड़े से शरीर ढक कर कायोत्सर्ग करना।

(१२) खलीन दोष– लगाम की तरह रजोहरण को आगे रख कर खड़े रहना। लगाम से पीड़ित अश्व की तरह मस्तक को ऊपर नीचे हिलाना खलीन दोष है, कई आचार्य खलीन दोष की ऐसी व्याख्या भी करते हैं।

(१३) वायस दोष– कौवे की तरह चञ्चल चित्त होकर इधर उधर आखें घुमाना अथवा दिशाओं की ओर देखना।

(१४) कपित्थ दोष– षट्पदिका (जूँ) के भय से चोलपट्टे को कपित्थ की तरह गोलाकार कर जंघादि के बीच रख कर खड़े रहना। मुट्ठी बाँध कर खड़े रहना कपित्थ दोष है ऐसा भी अर्थ किया जाता है।

(१५) शीर्षोत्कम्पित दोष– भूत लगे हुए व्यक्ति की तरह सिर धुनते हुए खड़े रहना।

(१६) मूक दोष– मूक व्यक्ति की तरह हुँ हुँ इस तरह अव्यक्त शब्द करते हुए कायोत्सर्ग करना।

(१७) अंगुलिकाभ्रू दोष– आलापकों (पाठ की आवृत्तियों) को गिनने के लिए अंगुली हिलाना एवं दूसरे व्यापार के लिए भौंह चला कर संकेत करना।

(१८) वारुणी दोष– तैयार की जाती हुई शराब से जैसे 'बुड-

बुड' शब्द निकलता है उसी प्रकार अव्यक्त शब्द करते हुए खड़े रहना अथवा शराबी की तरह झूमते हुए खड़े रहना।

(१६) प्रेक्षा दोष– नवकार आदि का का चिन्तन करते हुए वानर की तरह ओठों को चलाना।

योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य ने कायोत्सर्ग के इक्कीस दोष बतलाये हैं। उनके मतानुसार स्तम्भ दोष, कुड्य दोष, अंगुली दोष और भ्रू दोष चार हैं, जिनका ऊपर स्तम्भकुड्य दोष, अंगुलिकाभ्रू दोष इन दो दोषों में समावेश किया गया है।

(आवश्यक कायोत्सर्गाध्ययन गा० १५४६-४७)

(प्रवचन सारोद्धार गाथा २४७--२६२) (योगशास्त्र तृतीय प्रकाश)

६००– ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र की १६ कथाएं

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के गौतम स्वामी आदि ग्यारह गणधर हुए हैं। "उप्पण्णेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इस त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर गणधरों ने द्वादशाङ्गी की रचना की, जिसमें ज्ञान दर्शन चारित्र ये तीन मोक्ष के उपाय बतलाए गए हैं। सब शास्त्रों के मुख्य रूप से चार विभाग हैं– द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग। छठे अङ्ग 'ज्ञाताधर्मकथाङ्ग' सूत्र में कथानुयोग का वर्णन है।

भगवान् महावीर स्वामी के ग्यारह गणधरों में से पाँचवें गणधर श्री सुधर्मा स्वामी की ही पाट परम्परा चली है। वर्तमान द्वादशांगी के रचयिता श्री सुधर्मा स्वामी ही माने जाते हैं। उनके प्रधान शिष्य श्री जम्बू स्वामी ने प्रश्न किये हैं और उन्होंने उत्तर दिये हैं। उत्तर देते समय सुधर्मा स्वामी ने प्रत्येक स्थल में ये शब्द कहे हैं– हे आयुष्मन् जम्बू ! जैसा मैंने भगवान् महावीर स्वामी से सुना है, वैसा ही तुझे कहता हूँ।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि इस द्वादशांगी का कथन सर्वज्ञ देव श्री महावीर स्वामी ने भव्य प्राणियों के हितार्थ किया है। इसमें श्री गौतम स्वामी और श्री सुधर्मा स्वामी की स्वतन्त्र प्ररूपणा कुछ भी नहीं है। 'जैसा भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है वैसा ही मैं तुझे कहता हूँ' इस वाक्य से श्री सुधर्मा स्वामी ने "आणाए धम्मो" अर्थात् वीतराग भगवान् की आज्ञा में ही धर्म है और उनके वचन को विनय पूर्वक स्वीकार करना धर्म का मुख्य अंग है, इस तत्त्व का भली भांति प्रतिपादन किया है। श्री जम्बू स्वामी ने बारबार प्रश्न किये हैं। इससे यह बतलाया गया है कि शिष्य को विनयपूर्वक जिज्ञासा बुद्धि से प्रश्न करके गुरु से ज्ञान ग्रहण करना चाहिए क्योंकि विनयपूर्वक ग्रहण किया हुआ ज्ञान ही आत्मकल्याण में सहायक होता है।

जम्बू स्वामी के प्रश्न के उत्तर में श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि छठे अंग श्री ज्ञाताधर्मकथा के दो श्रुतस्कन्ध कहे गए हैं- ज्ञाता और धर्म कथा। ज्ञाता नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध के उन्नीस अध्ययन हैं। प्रत्येक अध्ययन में एक दृष्टान्त (उदाहरण) दिया गया है और अन्त में दार्ष्टान्तिक के साथ सुन्दर समन्वय करके धर्म के किसी एक तत्त्व को दृढ़ किया गया है। यह सम्पूर्ण सूत्र गद्यमय है। कहीं कहीं पर कुछ गाथाएं दी गई हैं। इस शास्त्र में नगर, उद्यान, महल, शय्या, समुद्र, स्वप्न, स्वप्नों के फल आदि का तथा हाथी, घोड़े, राजा, रानी, सेठ, सेनापति आदि जंगम पदार्थों का वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक दिया गया है। कथा भाग की अपेक्षा वर्णन का भाग अधिक है। जहाँ पर पूर्व पाठ का वर्णन फिर से आया है वहाँ "जाव (यावत्)" शब्द देकर पूर्व पाठ की भलामण दी गई है।

सामान्य ग्रन्थ की अपेक्षा शास्त्र में गम्भीरता और गुरुगमता

विशेष होती है। इस लिए शास्त्र अध्ययन के अभिलाषी मुमुक्षु आत्माओं को शास्त्र का अध्ययन श्रद्धा पूर्वक गुरु के पास ही करना चाहिए। इस तरह से प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही आत्मकल्याण में विशेष सहायक होता है।

(१) मेघकुमार की कथा

पहला अध्ययन– विनय का स्वरूप बतलाने के लिए पहला अध्ययन कहा गया है। इसका नाम 'उत्क्षिप्त' है। यदि कोई शिष्य अविनीत हो जाय तो उसे मीठे वचनों से उपालम्भ देकर गुरु को चाहिए कि वह उसे विनय मार्ग में प्रवृत्ति करावे। इस प्रकार उपदेश देने के लिए पहले अध्ययन में मेघकुमार का दृष्टान्त दिया गया है।

राजगृह नगर में श्रेणिक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम नन्दा देवी था। उसकी कुक्षि से उत्पन्न हुआ अभयकुमार नाम का पुत्र था। वह राजनीति में बहुत चतुर था। औत्पातिकी, वैनयिकी आदि चारों बुद्धियों का निधान था। वह राजा का मंत्री था।

श्रेणिक राजा की छोटी रानी का नाम धारिणी था। एक समय रात्रि के पिछले पहर में उसने हाथी का शुभ स्वप्न देखा। राजा के पास जाकर उसने अपना स्वप्न सुनाया। राजा ने कहा– देवि! इस शुभस्वप्न के प्रभाव से तुम्हारी कुक्षि से किसी पुण्यशाली प्रतापी बालक का जन्म होगा। यह सुन कर रानी बहुत प्रसन्न हुई।

दूसरे दिन प्रातःकाल स्वप्नपाठकों को बुला कर राजा ने स्वप्न का अर्थ पूछा। उन्होंने बतलाया कि यह स्वप्न बहुत शुभ है। रानी की कुक्षि से किसी पुण्यशाली प्रतापी बालक का जन्म होगा।

यतनापूर्वक अपने गर्भ का पालन करती हुई धारिणी रानी समय बिताने लगी। तीसरे महीने में रानी को अकाल मेघ का दोहद (दोहला) उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगी– बिजली सहित

गर्जता हुआ मेघ हो, छोटी छोटी बूंदें पड़ रही हों, सर्वत्र हरियाली हो, मोर नाच रहे हों आदि सारी बातें वर्षाऋतु की हों। ऐसे समय में वनक्रीड़ा करने वाली माताएं धन्य हैं। यदि मुझे भी ऐसा योग मिले तो वैभार पर्वत के समीप क्रीड़ा करती हुई मैं अपना दोहद पूर्ण करूँ।

धारिणी रानी की इच्छा पूरी न होने से वह प्रतिदिन दुर्बल होने लगी। दासियों ने जाकर राजा को इस बात की सूचना दी। राजा ने रानी से पूछा-- प्रिये! तुम्हारे दुर्बल होने का क्या कारण है और तुम इस प्रकार आर्तध्यान क्यों कर रही हो? तब रानी ने अपने दोहद की बात कही। राजा ने कहा-- मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे तुम्हारी इच्छा शीघ्र ही पूर्ण होगी। इस प्रकार रानी को आश्वासन देकर राजा वापिस अपने महल में चला आया। रानी के दोहद को पूर्ण करने का वह उपाय सोचने लगा किन्तु उसे कोई उपाय न मिला। इससे राजा आर्तध्यान करने लगा। इसी समय अभयकुमार अपने पिता के पादवन्दन करने के लिए वहाँ आया। अभयकुमार के पूछने पर राजा ने उसे अपनी चिन्ता का कारण बता दिया। अभयकुमार ने कहा-- पिताजी! आप चिन्ता मत कीजिये। मैं शीघ्र ही ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे मेरी लघु माता का दोहद शीघ्र ही पूरा होगा।

अपने स्थान पर आकर अभयकुमार ने विचार किया कि अकाल मेघ का दोहला देवता की सहायता के बिना पूरा नहीं हो सकता। ऐसा विचार कर अभयकुमार पौषधशाला में आया। अट्ठम तप (तीन उपवास) स्वीकार करके अपने पूर्वभव के मित्र देव का स्मरण करता हुआ वह समय बिताने लगा। तीसरे दिन अभयकुमार का पूर्व मित्र सौधर्म कल्पवासी एक देव उसके सामने प्रकट हुआ। अभयकुमार ने उसके सामने अपनी इच्छा प्रकट की।

देव ने कहा– हे आर्य! मैं अकाल में वर्षाऋतु की विक्रिया (रचना) करूँगा जिससे तुम्हारी लघुमाता का दोहद पूर्ण होगा। ऐसा कह कर वह देव वापिस अपने स्थान पर चला गया।

दूसरे दिन देव ने वर्षाऋतु की विक्रिया की। आकाश में सर्वत्र मेघ छा गये और छोटी छोटी बूंदें गिरने लगीं। हाथी पर बैठ कर रानी धारिणी राजा के साथ वन में गई। वैभार पर्वत के पास वनक्रीड़ा करती हुई रानी अपने दोहले को पूर्ण करने लगी। दोहला पूर्ण होने पर रानी को बड़ी प्रसन्नता हुई।

नौ मास पूर्ण होने पर रानी की कुक्षि से एक पुत्र का जन्म हुआ। दासियों द्वारा पुत्रजन्म की सूचना पाकर राजा को बहुत हर्ष हुआ। गर्भावस्था में रानी को मेघ का दोहला उत्पन्न हुआ था इसलिए पुत्र का नाम मेघकुमार रखा गया।

योग्य वय होने पर मेघकुमार को पुरुष की ७२ कलाओं की शिक्षा दी गई। युवावस्था को प्राप्त होने पर मेघकुमार का विवाह सुन्दर, सुशील और स्त्री की ६४ कलाओं में प्रवीण आठ राजकन्याओं के साथ किया गया।

एक समय भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर के बाहर गुणशील नामक उद्यान में पधारे। भगवान् का आगमन सुनकर प्रजाजन, राजा और मेघकुमार भगवान् को वन्दना करने के लिए गये। भगवान् ने धर्मोपदेश फरमाया। उपदेश सुन कर मेघकुमार को संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया।

घर आकर माता पिता से दीक्षा लेने की आज्ञा मांगी। बड़ी कठिनाई के साथ माता पिता से दीक्षा की आज्ञा प्राप्त की। राजा श्रेणिक ने बड़े समारोह और धूमधाम के साथ दीक्षा महोत्सव किया। मेघकुमार दीक्षा लेकर ज्ञानाभ्यास करने लगे। रात्रि के समय जब सोने का वक्त आया तब मेघकुमार का बिछौना सब साधुओं

के अन्त में किया गया क्योंकि दीक्षा में वे सब से छोटे थे। रात्रि में इधर उधर आने जाने वाले साधुओं के पादसंघट्टन से मेघकुमार को नींद नहीं आई। नींद न आने से मेघकुमार अतिखेदित हुए और विचार करने लगे कि प्रातःकाल ही भगवान् की आज्ञा लेकर ली हुई इस प्रव्रज्या को छोड़ कर वापिस अपने घर चला जाऊँगा। ऐसा विचार कर प्रातःकाल होते ही मेघकुमार भगवान् के पास आज्ञा लेने को आये। मेघकुमार के विचारों एवं उसके मनोगत भावों को केवलज्ञान से जान कर भगवान् फरमाने लगे कि हे मेघ! तुम इस जरा से कष्ट से घबरा गये। तुम अपने पूर्वभव को तो याद करो। पहले हाथी के भव में वन में लगी हुई दावानल को देख कर तुम भयभ्रान्त होकर वहाँ से भागने लगे किन्तु आगे जाकर तालाब के कीचड़ में बहुत बुरी तरह से फंस गये और बहुत कोशिश करने पर भी निकल न सके। इतने में एक दूसरा हाथी आगया और उसके दंत प्रहार से मर कर फिर दूसरे जन्म में भी हाथी हुए। एक वक्त जंगल में लगी हुई दावानल को देख कर तुम्हें जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। ऐसे दावानल से बचने के लिए गंगा नदी के दक्षिण किनारे पर एक योजन का लम्बा चौड़ा एक मण्डल बनाया। एक वक्त जंगल में फिर आग लगी उससे बचने के लिए फिर तुम अपने मण्डल (घेरा) में आये। वहाँ पहले से ही बहुत से पशु, पक्षी आकर ठहरे हुए थे। मण्डल जीवों से खचाखच भरा हुआ था। बड़ी मुश्किल से तुम को थोड़ी सी जगह मिली। कुछ समय बाद अपने शरीर को खुजलाने के लिए तुमने अपना पैर उठाया। इतने में दूसरे बलवान् प्राणियों द्वारा धकेला हुआ एक शशक (खरगोश) उस जगह आ पहुँचा। शरीर को खुजला कर जब तुम वापिस अपना पैर नीचे रखने लगे तो एक शशक को बैठा हुआ देखा। तब—

पाणाणुकंपाए,भूयाणुकंपाए,जीवाणुकंपाए,सत्ताणुकंपाए

अर्थात्– प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों की अनुकम्पा से तुमने अपना पैर ऊपर अधर ही रखा किन्तु नीचे नहीं रखा। इन प्राण (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,चतुरिन्द्रिय),भूत (वनस्पतिकाय),जीव (पञ्चेन्द्रिय जीव) और सत्त्वों (पृथ्वीकाय,अप्काय,तेउकाय,वायुकाय) की अनुकम्पा करके तुमने संसार परित्त किया और मनुष्य आयु का बंध किया। अढाई दिन में वह दावानल शान्त हुआ। सब पशु वहाँ से निकल कर चले गये। तुमने चलने के लिए अपना पैर लम्बा किया किन्तु तुम्हारा पैर अकड़ गया जिससे तुम एकदम पृथ्वी पर गिर पड़े और शरीर में अत्यन्त वेदना उत्पन्न हुई। तीन दिन तक वेदना को सहन कर सौ वर्ष की आयुष्य पूर्ण करके तुम धारिणी रानी के गर्भ में आये।

हे मेघ! तिर्यञ्च के भव में प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों पर अनुकम्पा कर तुमने पहले कभी नहीं प्राप्त हुए सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति की। हे मेघ! अब तुम विशाल कुल में उत्पन्न होकर गृहस्थावास को छोड़ साधु बने हो तो क्या साधुओं के पादस्पर्श से होने वाले जरा से कष्ट से घबरा गये।

भगवान् के उपरोक्त वचनों को सुन कर मेघकुमार को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होगया। फिर मेघकुमार ने संयम में दृढ़ होकर भगवान् की आज्ञा से भिक्खु की बारह पडिमा अङ्गीकार की और गुणरत्नसंवत्सर वगैरह तप किये। अन्त में संलेखना संथारा कर के विजय नामक अनुत्तर विमान में ३३ सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में पैदा होकर संयम लेगा और मोक्ष जायगा।

जिस प्रकार संयम से विचलित होते हुए मेघकुमार को भगवान् ने मधुर शब्दों से उपालम्भ देकर संयम में स्थिर कर दिया

उसी प्रकार गुरु को चाहिए कि संयम से विचलित होते हुए शिष्य को मधुर शब्दों से समझा कर पुनः संयम में स्थिर कर दे।

(२) धन्ना सार्थवाह और विजय चोर की कथा

दूसरा संघट ज्ञात अध्ययन– अनुचित प्रवृत्ति करने वाले को अनर्थ की प्राप्ति होती है और सम्यग अर्थ की प्राप्ति नहीं होती तथा उचित प्रवृत्ति करने वाले को सम्यग् अर्थ की प्राप्ति है। यह बतलाने के लिए धन्ना सार्थवाह और विजय नामक चोर का दृष्टान्त दूसरे अध्ययन में दिया गया है।

राजगृह नगर में धन्ना नामक एक सार्थवाह रहता था। उसी नगर में विजय नाम का एक चोर रहता था। वह बहुत ही पाप कर्म करने वाला और क्रूर था। एक समय धन्ना सार्थवाह की स्त्री भद्रा ने अपने पुत्र देवदत्त को स्नान मज्जन करा कर तथा आभूषणों से अलंकृत कर अपने दास पंथक के हाथ में देकर बाहर खिलाने के लिए भेजा। पंथक दास देवदत्त को एक जगह बिठा कर दूसरे बालकों के साथ खेलने लग गया। इतने में विजय नामक चोर वहाँ आ पहुँचा और देवदत्त बालक को उठा ले गया। एकान्त में ले जा कर उसे मार डाला और उसके सारे आभूषण उतार लिए। उसके मृतक शरीर को एक कुए में डाल कर मालुकाकच्छ में छिप गया। धन्ना सार्थवाह ने पुलिस को खबर दी। पुलिस ने विजय चोर को ढूंढ कर उसे कैदखाने में डाल दिया।

एक बार राज्य के कर (महसूल) की चोरी करने के कारण धन्ना सार्थवाह राज्य का अपराधी साबित हुआ। इसलिए उसे भी कैदखाने में डाल दिया और संयोगवश उसी खोड़े में डाला जिसमें आगे विजय चोर था। खोड़ा एक होने के कारण दोनों का आना जाना, उठना बैठना एक ही साथ होता था। जब धन्ना सार्थ-

वाह टट्टी, पेशाब आदि करने के लिए जाने की इच्छा करता तो वह चोर साथ चलने से इन्कार हो जाता। तब दूसरा कोई उपाय न होने के कारण धन्ना सार्थवाह अपने भोजन में से थोड़ा भोजन उस चोर को भी देता और उसे अपने अनुकूल रखता। जब धन्ना सार्थवाह कैद से छूट कर घर आया तो अपने पुत्र की हत्या करने वाले चोर को भोजन देने के कारण उसकी पत्नी ने उसका तिरस्कार किया और उपालम्भ दिया। तब धन्ना ने उस चोर को भोजन देने का कारण समझाया और अपनी पत्नी के क्रोध को शान्त किया।

उपरोक्त दृष्टान्त देकर शास्त्रकार ने इसका निगमन (उपनय) इस प्रकार घटाया है– राजगृह नगर के समान मनुष्य क्षेत्र है। धन्ना सार्थवाह के समान साधु है। विजय चोर के समान शरीर है। पुत्र के समान निरुपम आनन्द को देने वाला संयम है। अयोग्य आचरण करने से इसका विनाश हो जाता है। आभूषणों के समान शब्दादि विषय हैं। इनका सेवन करने से संयम का विनाश हो जाता है। हडिबन्धन (खोड़े) के समान जीव और शरीर का सम्बन्ध है। राजा के समान कर्म परिणाम और राजपुरुषों के समान कर्मों के भेद हैं। छोटे से अपराध के समान मनुष्यायु बन्ध के कारण हैं। मलमूत्रादि की निवृत्ति के समान प्रत्युपेक्षण (पड़िलेहना) आदि कार्य हैं अर्थात् जिस प्रकार अपने भोजन में से कुछ हिस्सा विजय चोर को न देने से वह मलमूत्रादि की निवृत्ति के लिए धन्ना सार्थवाह के साथ नहीं जाता था इसी प्रकार इस शरीर को भोजन आदि न देने से पडिलेहणा आदि संयम क्रियाओं में सम्यक् प्रवृत्ति नहीं हो सकती। पन्थक दास के समान मुग्ध (शब्दादि विषयों में आसक्त होने वाला) साधु है। सार्थवाही के समान आचार्य हैं। दूसरे साधुओं से सुन कर वे भोजनादि से पुष्ट शरीर वाले साधु को

उपालम्भ देने लगते हैं किन्तु उस साधु के द्वारा वेदना की शान्ति, वैयावच्च आदि कारण बतला देने पर वे आचार्य सन्तुष्ट हो जाते हैं।

जिस तरह धन्ना सार्थवाह ने दूसरा उपाय न होने के कारण अपने पुत्र को मारने वाले चोर को भोजन दिया इसी तरह साधु को चाहिए कि सिर्फ संयम के निर्वाह के लिए चोर समान इस शरीर को भोजन दे, शरीर की पुष्टि आदि किसी दूसरे उद्देश्य के लिए नहीं। जिस तरह सराय में ठहरने के लिए मकान का भाड़ा देना पड़ता है उसी तरह संयम निर्वाह के लिए शरीर को भोजन रूपी भाड़ा देना चाहिए।

(३) जिनदत्त और सागरदत्त की कथा

तीसरा अण्डक ज्ञात अध्ययन–समकित की शुद्धि के लिए शंका दोष का त्याग करना चाहिए। शंका दोष का त्याग करने वाले पुरुष को शुद्ध समकित रत्न की प्राप्ति होती है और शंका आदि करने वाले को समकित रत्न की प्राप्ति नहीं होती। इस बात को बताने के लिए तीसरे अध्ययन में अण्डे का दृष्टान्त दिया गया है।

चम्पा नगरी के अन्दर जिनदत्त और सागरदत्त नाम के दो सार्थवाह पुत्र रहते थे। वे दोनों बालमित्र थे। क्रीड़ा के लिए उद्यान में गए हुए दोनों मित्रों ने एक जगह मयूरी के अण्डे देखे। उन अण्डों को उठा कर वे दोनों मित्र अपने अपने घर ले आये और कुकड़ी के अण्डों के साथ रख दिये।

सागरदत्त को यह शङ्का हुई कि इन अण्डों में से मयूरी के बच्चे पैदा होंगे या नहीं? इसलिए वह उनको बारबार हिला कर देखने लगा। हिलाने से वे अण्डे निर्जीव हो गये। जिससे उसको अति खेद और चिन्ता हुई।

जिनदत्त ने उन अण्डों के विषय में कोई शङ्का न की, इसलिए

उनको हिलाया डुलाया भी नहीं,जिससे समय पर उन अण्डों से मयूरी के बच्चे पैदा हुए। फिर वह उन बच्चों को मयूर पोषक से शिक्षित करा कर नृत्य और क्रीड़ाएं करवाता हुआ आनन्द का अनुभव करने लगा।

उपरोक्त दृष्टान्त देकर शास्त्रकार ने साधु साध्वी श्रावक श्राविका को यह उपदेश दिया है कि वीतराग जिनेश्वर देव के कहे हुए तत्त्वों में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए क्योंकि सन्देह ही अनर्थ का कारण है। जिन वचनों में निःशंक रहना चाहिए। यदि कदाचित् शास्त्र का कोई गहन तत्त्व बराबर समझ में न आवे तो अपनी बुद्धि की मन्दता और ज्ञानावरणीय का उदय समझ कर कभी विद्वान् आचार्य का संयोग मिलने पर उस तत्त्व का निर्णय करने की बुद्धि रखनी चाहिए किन्तु शंकित न होना चाहिए।

तहमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहि पवेइयम्।

अर्थात्–जो केवली भगवान् ने फरमाया है वही सत्य है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए क्योंकि तीर्थङ्कर देवों ने केवल संसार के प्राणियों के परोपकार के लिए ही इन तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। वे राग द्वेष और मोह से रहित होते हैं इसलिए उनको झूठ बोलने का कोई कारण ही नहीं है। अतः वीतराग जिनेश्वर के वचनों में निःशङ्कित और निष्कांक्षित होना चाहिए।

(४) कछुए और शृगाल की कथा

चौथा 'कूर्मज्ञात' अध्ययन–अपनी पाँच इन्द्रियों को वश में रखने से गुण की प्राप्ति होती है और वश में न रखने से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। इसके लिए दो कछुओं और शृगालों का दृष्टान्त इस अध्ययन में दिया गया है।

वाराणसी नगरी के बाहर गंगा नदी के किनारे एक द्रह था।

उसमें दो कछुए रहते थे। उस द्रह के पास ही एक मालुकाकच्छ था। वहाँ दो पापी शृगाल (सियालिए) रहते थे। एक दिन उन दोनों ने उन कछुओं को देखा। शृगालों को देखते ही दोनों कछुओं ने अपने शरीर के सब अङ्गों का संकोच लिया जिससे वे शृगाल उनका कुछ भी नुकसान नहीं कर सके किन्तु थोड़े समय बाद ही उनमें से एक कछुए ने उन शृगालों को दूर गए हुए समझ कर धीरे धीरे अपनी गर्दन और पैर बाहर निकाले। उसके पैरों को बाहर निकले हुए देख कर वे पापी शृगाल शीघ्रतापूर्वक वहाँ आए और उस कछुए के शरीर के अङ्गों को छेद डाला और उसे जीवन रहित कर डाला। दूसरा कछुआ, जिसने अपने अङ्ग गुप्त रखे और बाहर नहीं निकाले, पापी शृगाल उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके और वह कछुआ उस द्रह में आनन्दपूर्वक रहने लगा।

इस दृष्टान्त का उपनय घटाते हुए शास्त्रकार ने बतलाया कि दो कछुओं के समान दो साधु समझने चाहिएं। चार पैर और ग्रीवा के समान पाँच इन्द्रियाँ हैं। बाहर निकालने के समान शब्दादि विषय हैं। उनमें प्रवृत्ति करना राग, द्वेष रूपी दो शृगाल हैं। इन दोनों के वश में होने से संयम का घात हो जाता है। जो साधु इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त नहीं होता वह दूसरे कछुए की तरह द्रह सुख के समान मोक्ष सुख को प्राप्त करता है और इन्द्रिय सुख में लोलुप साधु संसार सागर में परिभ्रमण करता हुआ अनन्त दुःखों को भोगता है। इसलिए साधु को इन्द्रियों के सुखों में तथा शब्दादि विषयों में लोलुप नहीं होना चाहिए।

(५) शैलक राजर्षि की कथा

पाँचवाँ शैलक ज्ञात अध्ययन—यदि किसी कारण से कोई साधु इन्द्रियों के वश में पड़ कर संयम में शिथिल पड़ जाय परन्तु फिर

अपनी भूल को समझ कर संयम मार्ग में दृढ़ हो जाय तो वह भी अपने अर्थ की सिद्धि कर सकता है इसके लिए शैलक राजर्षि का दृष्टान्त दिया गया है।

द्वारिका नगरी में कृष्ण वासुदेव राज्य करते थे। उनके राज्य में थावच्चापुत्र नामक एक सार्थवाहपुत्र रहता था। एक समय भगवान् नेमिनाथ स्वामी वहाँ पधारे। उनका धर्मोपदेश सुन कर थावच्चापुत्र को वैराग्य उत्पन्न हो गया और एक हजार पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। भगवान की आज्ञा लेकर थावच्चापुत्र अनगार एक हजार साधुओं के साथ अलग विहार करने लगे। एक बार विहार करते हुए सेलकपुर पधारे। वहाँ का राजा शैलक अपने पन्थक आदि पाँच सौ मन्त्रियों सहित उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए आया। प्रतिबोध प्राप्त कर उसने श्रावकधर्म अंगीकार किया।

उस समय शुक परिव्राजक एक हजार परिव्राजकों सहित अपने मत का उपदेश देता हुआ विचरता था। विचरता हुआ वह सौगन्धिका नगरी में आया। उसका उपदेश सुन कर सुदर्शन सेठ ने शौचधर्म अङ्गीकार किया।

एक समय ग्रामानुग्राम विहार करते हुए थावच्चापुत्र भी सौगंधिका नगरी में पधारे। उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए नगर जनों के साथ सुदर्शन सेठ भी गया। उनका उपदेश सुन कर सुदर्शन सेठ ने शौचधर्म का त्याग कर दिया और विनय धर्म स्वीकार कर श्रावक व्रत अङ्गीकार कर लिये। इस बात को जान कर शुक परिव्राजक वहाँ आया किन्तु सुदर्शन ने उसका आदर सत्कार नहीं किया। इसके पश्चात् वह सुदर्शन सेठ को साथ लेकर थावच्चापुत्र अनगार के पास गया और बहुत से प्रश्न किये। उनका युक्तियुक्त उत्तर सुन कर शुक परिव्राजक को सम्यग् तत्त्व का बोध होगया और अपने हजार शिष्यों सहित थावच्चापुत्र अनगार के

पास प्रव्रज्या अङ्गीकार कर ली। अपने धर्माचार्य्य श्रीथावच्चापुत्र अनगार की आज्ञा लेकर शुक निर्ग्रन्थ अपने एक हजार शिष्यों सहित अलग विहार करने लगे। कुछ समय पश्चात् थावच्चापुत्र अनगार को केवलज्ञान उत्पन्न होगया और वे मोक्ष में पधार गये।

एक समय विहार करते हुए शुक निर्ग्रन्थ सेलकपुर पधारे। शैलक राजा ने अपने पुत्र मण्डूक को राज सिंहासन पर बिठा कर शुक निर्ग्रन्थ के पास पंथक आदि ५०० मन्त्रियों सहित दीक्षा अङ्गीकार कर ली और विचरने लगे। शुक निर्ग्रन्थ की आज्ञा अनुसार शैलक राजर्षि पंथक आदि ५०० शिष्यों सहित अलग विहार करने लगे। कुछ काल बाद शुक निर्ग्रन्थ को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और वे मोक्ष पधार गये।

ग्रामानुग्राम विहार कर धर्म का उपदेश करते हुए शैलक राजर्षि के शरीर में पित्त ज्वर की बीमारी हो गई। सेलकपुर के राजा मण्डूक की आज्ञा लेकर वे उसकी दानशाला में ठहर गये। राजा ने चतुर वैद्यों द्वारा उनकी चिकित्सा करवाई जिससे थोड़े ही समय में स्वस्थ हो गये। स्वस्थ हो जाने के बाद भी मनोज्ञ अशन, पान खादिम स्वादिम आदि में मूर्च्छित हो जाने के कारण शैलक राजर्षि ने वहाँ से विहार नहीं किया। शैलक राजर्षि की यह दशा देख कर दूसरे सब साधुओं ने वहाँ से विहार कर दिया सिर्फ एक पंथक साधु उनकी सेवा में रहा। एक दिन कार्तिक चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करके पंथक निर्ग्रन्थ ने शैलक राजर्षि को खमाने के लिए उनके चरणों का स्पर्श किया। उस समय शैलक राजर्षि अशन पान आदि का खूब आहार करके सुख पूर्वक सोते हुए थे। पैरों का स्पर्श करने के कारण उनकी निद्रा भङ्ग हो गई जिससे वे कुपित हो गये। पंथक निर्ग्रन्थ ने विनय पूर्वक अर्ज की कि– पूज्य ! आज चौमासी पर्व है। चौमासी प्रतिक्रमण करके

मैं आपको खमाने के लिए आया हूँ। मेरी तरफ से आपको जो कष्ट हुआ है उसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। पंथक मुनि के उपरोक्त वचनों को सुन कर शैलक राजर्षि को प्रतिबोध हुआ और विचार करने लगे कि राज्य का त्याग करके मैंने दीक्षा ली है अब मुझे अशनादि में मूर्च्छाभाव रख कर संयम में शिथिल न बनना चाहिए। ऐसा विचार कर शैलक राजर्षि दूसरे दिन प्रातः काल ही मण्डूक राजा को उसके पीठ फलक आदि सम्भला कर संयम में दृढ़ हो कर विहार करने लगे। इस वृत्तान्त को सुन कर उनके दूसरे शिष्य भी उनकी सेवा में आगये और गुरु की सेवा शुश्रूषा करते हुए विचरने लगे। बहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन कर शैलक राजर्षि और पंथक आदि पाँच सौ ही निर्ग्रन्थों ने सिद्ध पद प्राप्त किया।

इस अध्ययन के अन्त में भगवान् ने मुनियों को उपदेश करते हुए फरमाया है कि जो साधु साध्वी प्रमाद रहित होकर संयम मार्ग में प्रवृत्ति करेंगे वे इस लोक में पूज्य होंगे और अन्त में मोक्ष पद को प्राप्त करेंगे।

(६) तुम्बे का दृष्टान्त

छठा 'तुम्बक ज्ञात' अध्ययन—प्रमादी को अनर्थ की प्राप्ति और अप्रमादी को अर्थ की प्राप्ति होती है अर्थात् प्रमाद से जीव भारीकर्मा और अप्रमाद से लघुकर्मा होता है। इस बात को बतलाने के लिए छठे अध्ययन में तुम्बे का दृष्टान्त दिया गया है।

जैसे किसी तुम्बे पर डाभ और कुश लपेट कर मिट्टी का लेप कर दिया जाय और फिर उसे धूप में सुखा दिया जाय। इसके बाद क्रमशः डाभ और कुश लपेटते हुए आठ बार उसके ऊपर मिट्टी का लेप कर दिया जाय। इसके पश्चात् उस तुम्बे को पानी

में छोड़ दिया जाय तो वह मिट्टी के लेप से भारी होने के कारण पानी के तल भाग में नीचे चला जायगा। पानी में पड़ा रहने के कारण ज्यों ज्यों उसका लेप गल कर उतरता जायगा त्यों त्यों वह ऊपर की तरफ उठता जायगा। जब उस पर से आठों लेप उतर जायेंगे तब वह तुम्बा पानी के ऊपर आजायगा।

तुम्बे का दृष्टान्त देकर शास्त्रकार ने यह बताया है कि इसी प्रकार जीव प्राणातिपात आदि अठारह पापस्थानों का सेवन कर आठ कर्मों का उपार्जन करते हैं जिससे भारी होकर वे नरकादि नीच गतियों में जाते हैं। आठ कर्मों से मुक्त हो जाने के पश्चात् जीव लोकाग्र में स्थित सिद्धस्थान (मुक्ति) में पहुँच जाते हैं। अतः जीवों को प्राणातिपात आदि पापों से निवृत्ति करनी चाहिए।

(७) चार पुत्रवधुओं की कथा

सातवां 'रोहिणी ज्ञात' अध्ययन–पाँच महाव्रतों का सम्यग् पालन करने वाले आराधक साधु को शुभ फल की प्राप्ति होती है और विराधक को अशुभ फल की प्राप्ति। इस बात को बताने के लिए सातवें अध्ययन में रोहिणी आदि का दृष्टान्त दिया गया है।

राजगृह नगर के अन्दर धन्ना नाम का एक सार्थवाह रहता था। उसके भद्रा नाम की भार्या थी। उसके धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित नाम के चार पुत्र थे। इनकी भार्याओं के नाम क्रमशः उज्झिका, भोगवती, रक्षिका और रोहिणी था। धन्ना सार्थवाह ने अपनी पुत्रवधुओं की बुद्धि की परीक्षा करने के लिए सब कुटुम्बी पुरुषों के सामने प्रत्येक को पाँच पाँच शालि-कण (छिलके सहित चावल) दिये। उनको लेकर ज्येष्ठ पुत्रवधू ने तो फेंक दिया, दूसरी ने आदरपूर्वक खा लिया, तीसरी ने बड़ी हिफाजत के साथ अपने जेवरों की पेटी में रख दिया, चौथी ने

उन शालिकणों को लेकर अपने बन्धु वर्ग को दे दिया और कहा कि वर्षा होते ही इन शालिकणों को साफ किये हुए खेत में बो देना और बड़े होने पर फिर दूसरी जगह बोना इस तरह क्रमशः बोते रहना। बन्धुवर्ग ने उसके कथनानुसार कार्य किया। इस प्रकार पाँच वर्ष बीत गये।

एक समय श्वसुर ने पुत्रवधुओं से वे पाँच शालिकण वापिस माँगे तब उन्होंने अपना अपना वृत्तान्त कह सुनाया। छोटी पुत्र-वधू ने उन शालिकणों से पैदा हुए शालि धान्य के कई गाड़े भरवा कर मंगवाये और श्वसुर के सामने सारी हकीकत कही। श्वसुर ने उन चारों का वृत्तान्त सुन कर उनकी बुद्धि के अनुसार उन को काम सौंप दिया अर्थात् बड़ी बहू को घर का कचरा कूड़ा निकालने का, दूसरी को रसोई बनाने का, तीसरी को भांडागारिणी का यानि घर के माल की रक्षा करने का काम सौंपा और चौथी बहू को अति बुद्धिमती समझ कर उसे घर की मालकिन बनाया।

उपरोक्त दृष्टान्त देकर भगवान् ने अपने शिष्यवर्ग को संबोधित करके फरमाया कि जो साधु साध्वी पाँच महाव्रतों को लेकर पहली और दूसरी बहू की तरह उनका त्याग कर देते हैं या रसनेन्द्रिय के वशीभूत हो खाने पीने में ही लग जाते हैं वे इस लोक में अयश अकीर्ति का उपार्जन कर निन्दा के पात्र होते हैं और चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। तीसरी और चौथी पुत्रवधू के समान जो साधु साध्वी पाँच महाव्रतों को लेकर सम्यक् प्रकार से उनका पालन करते हैं तथा अपने गुणों को अधिकाधिक बढ़ाते हैं वे इस लोक में विपुल यश कीर्ति का उपार्जन कर पूज्यपद को प्राप्त करते हैं और अन्त में सिद्धपद को प्राप्त करते हैं।

इस दृष्टान्त को जान कर भव्य प्राणियों को धर्म के विषय में अप्रमत्त रूप से प्रवृत्ति करनी चाहिए।

(८) भगवान् मल्लिनाथ की कथा

आठवाँ 'मल्लि ज्ञात' अध्ययन– पाँच महाव्रतों को लेकर यदि उन्हें किञ्चित् भी माया कपटाई से दूषित कर दिया जाय तो उनका यथार्थ फल नहीं होता है। इस बात को पुष्ट करने के लिए आठवें अध्ययन में भगवान् मल्लिनाथ का दृष्टान्त दिया गया है।

भगवान् मल्लिनाथ पूर्वभव में महाबल नाम के राजा थे। उनके अचल, धरण, पूरण, वसु, वैश्रमण और अभिचन्द्र नाम के छः बालमित्र थे। उन सातों मित्रों ने एक ही साथ दीक्षा ग्रहण की और यह निश्चय किया कि सब ही मित्र एक साथ एक सरीखी तपस्या करेंगे। इसके पश्चात् वे बेला तेला आदि तपस्या करते हुए विचरने लगे। आगामी भव में इन छः मित्रों से बड़ा पद पाने की इच्छा से महाबल मुनि कपट से अधिक तपस्या करने लगे। वे बेले के दिन तेला और तेले के दिन चोला कर लिया करते थे।

उन सातों मुनियों ने बारह भिक्खु पडिमा अङ्गीकार की। इसके बाद लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप किया जिसकी एक परिपाटी में छः महीने और सात दिन लगे अर्थात् १५४ तपस्या के दिन और ३३ पारणे के दिन होते हैं। इसके पश्चात् महासिंह निष्क्रीड़ित तप अङ्गीकार किया जिसकी एक परिपाटी में एक वर्ष छः महीने और अठारह दिन लगे अर्थात् ४९७ दिन उपवास के और ६१ पारणे के दिन होते हैं। कुल ५५८ दिन होते हैं। इस प्रकार उग्र तपस्या करके और बीस बोलों में से कई बोलों की उत्कृष्ट आराधना करके महाबल मुनि ने तीर्थङ्कर नामकर्म का उपार्जन किया।

तीर्थङ्कर नाम कर्म उपार्जन करने के बीस बोल ये हैं–

(१) अरिहन्त (२) सिद्ध (३) प्रवचन-श्रुतज्ञान (४) गुरु, धर्मोपदेशक (५) स्थविर (६) बहुश्रुत (७) तपस्वी। इन सात की वत्स-

लता यानि बहुमान पूर्वक भक्ति करने से। (८) ज्ञान (९) दर्शन (१०) विनय (११) आवश्यक (१२) शीलव्रत इन पाँचों का निरतिचार पालन करने से (१३) खणलव-संवेग, भावना और ध्यान से (१४) तप (१५) त्याग (१६) वैयावच्च (१७) समाधि (१८) अपूर्व ज्ञान ग्रहण (१९) श्रुत भक्ति (२०) प्रवचन प्रभावना।

इन बीस बोलों की उत्कृष्ट आराधना करने से जीव तीर्थङ्कर नाम कर्म उपार्जन करता है। इन बीस बोलों की विस्तृत व्याख्या छठे भाग के बीसवें बोल संग्रह में दी जायगी।

अनेक वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन करके वे देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से चव कर वे छहों मित्र भिन्न भिन्न देश के राजाओं के यहाँ राजकुमार रूप में उत्पन्न हुए। महाबल राजा का जीव देवलोक से चव कर मिथिला नगरी के राजा कुम्भ की रानी प्रभावती के गर्भ में आया। सुख शय्या पर सोती हुई प्रभावती रानी ने निम्न लिखित चौदह महास्वप्न देखे। यथा–गज, वृषभ, सिंह, अभिषेक, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कलश, पद्म सरोवर, सागर, विमान, रत्नराशि, निर्धूम अग्नि।

स्वप्न पाठकों से स्वप्नों के फल को सुन कर रानी अतिहर्षित हुई और गर्भ का पालन करने लगी। नौ मास पूर्ण होने पर रानी ने एक पुत्री को जन्म दिया। पुत्री के जन्म से माता पिता को बहुत प्रसन्नता हुई। तीर्थङ्कर का जन्म हुआ जान कर अनेक देवी और देवों के साथ इन्द्र वहाँ उपस्थित हुए। यथाविधि जन्म कल्याण मना कर वे वापिस अपने स्थान पर चले गये। माता पिता ने पुत्री का नाम मल्लिकुँवरी रखा। पाँच धायों द्वारा लालन पालन की जाती हुई मल्लिकुँवरी सुरक्षित बेल की तरह बढ़ने लगी।

जब मल्लिकुंवरी की अवस्था लगभग सौ वर्ष की हुई तब एक समय उन्होंने अवधिज्ञान द्वारा अपने पूर्वभव के छः मित्रों को देखा

और जाना कि वे इसी भरतक्षेत्र में अलग अलग राजाओं के यहाँ राजपुत्र रूप से उत्पन्न हुए हैं।

भविष्य में होने वाली घटना को ज्ञान द्वारा जान कर मल्लि-कुंवरी ने नौकरों को बुला कर अशोक वाटिका में अनेक स्तम्भों वाला एक मोहनघर बनाने की आज्ञा दी।

मोहन घर बन जाने के बाद उसके बीच मल्लिकुंवरी के आकार वाली एक सोने की प्रतिमा बनवाई। उसके मस्तक पर एक छिद्र रखा और उस पर एक कमलाकार ढक्कन लगा दिया। मल्लि-कुंवरी जो भोजन करती उसमें से एक ग्रास प्रतिदिन उस छिद्र में डाल कर वापिस ढक्कन लगा दिया जाता था। भोजन के सड़ने से उसमें से गाय और सर्प के मृत कलेवर से भी अत्यन्त अधिक दुर्गन्ध उठने लगी।

मल्लिकुंवरी अब पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त हो चुकी थी। उसके रूप लावण्य की प्रशंसा चारों तरफ फैल गई।

उस समय साकेतपुर नाम का नगर था। वहाँ प्रतिबुद्धि नाम का राजा राज्य करता था। रानी का नाम पद्मावती था। राजा के प्रधान मन्त्री का नाम सुबुद्धि था। वह राजनीति में बड़ा चतुर था।

एक समय नाग महोत्सव मनाने के लिये राजा, रानी और मन्त्री सभी उद्यान में गये। वहाँ राजा ने एक बड़ा सिरिदामगंड अर्थात् सुन्दर मालाओं का दण्डाकार समूह देखा। उसे देख कर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा ने मन्त्री से पूछा कि क्या तुमने कहीं पहले ऐसा सिरिदामगंड देखा है। मन्त्री ने उत्तर दिया-- राजन्! एक समय मैं मिथिला गया था। उस समय वहाँ के राजा कुम्भ की पुत्री मल्लिकुँवरी का जन्म महोत्सव मनाया जा रहा था। मैंने वहाँ एक सिरिदामगंड देखा था। पद्मावती रानी का यह सिरिदामगंड उसकी शोभा के लाखवें अंश को भी प्राप्त नहीं होता।

इसके बाद मन्त्री द्वारा की गई मल्लिकुंवरी के रूप लावण्य की प्रशंसा को सुन कर प्रतिबुद्धि राजा ने एक दूत राजा कुम्भ के पास भेजा और मल्लिकुंवरी की मांगणी (याचना) की। दूत शीघ्र ही मिथिला के लिये रवाना हो गया।

अङ्गदेश में चम्पा नाम की नगरी थी। वहाँ के राजा का नाम चन्द्रछाय था। उस नगरी में अरणक आदि बहुत से श्रावक रहते थे। वे नौका द्वारा अपना व्यापार परदेश में करते थे। एक समय अरणक श्रावक ने दूसरे बहुत से व्यापारियों के साथ लवण समुद्र में यात्रा की। जब जहाज समुद्र के बीच में पहुँच गया तो अकाल ही में मेघ की गर्जना होने लगी और भयंकर बिजलियाँ चमकने लगीं। इसके पश्चात् हाथ में तलवार लिए एक भयंकर रूप वाला पिशाच उनके सन्मुख आया और अरणक श्रावक से कहने लगा कि हे अरणक! तुझे अपने धर्म से विचलित होना इष्ट नहीं परन्तु मैं तुझे तेरे धर्म से विचलित करूँगा। तू अपने धर्म को छोड़ दे अन्यथा मैं तेरे जहाज को आकाश में उठा कर फिर समुद्र में पटक दूँगा जिससे तू मर कर आर्त और रौद्रध्यान करता हुआ दुर्गति को प्राप्त होगा।

पिशाच के उपरोक्त वचनों को सुन कर जहाज में बैठे हुए दूसरे लोग बहुत घबराये और इन्द्र, वैश्रमण, दुर्गा आदि देवों की अनेक प्रकार की मान्यताएं करने लगे किन्तु अरणक श्रावक किञ्चिन्मात्र भी घबराया नहीं और न विचलित ही हुआ। प्रत्युत अपने वस्त्र से भूमि का प्रमार्जन करके सागारी संथारा करके धर्म ध्यान करता हुआ शान्तचित्त से बैठ गया। इस प्रकार निश्चल बैठे हुए अरणक श्रावक को देख कर वह पिशाच अनेक प्रकार के भयोत्पादक वचन कहने लगा। अरणक को विचलित न होते देख पिशाच उस जहाज को दो अंगुलियों से उठा कर आकाश

में बहुत ऊंचा ले गया और अरणक श्रावक से फिर इसी प्रकार कहने लगा कि तू अपने धर्म को छोड़ दे। किन्तु वह अपने धर्म से किञ्चित् भी चलायमान नहीं हुआ। अरणक श्रावक को इस प्रकार अपने धर्म में दृढ़ देख कर वह पिशाच शान्त होगया। अपना असली देवस्वरूप धारण करके वह अरणक श्रावक के सामने हाथ जोड़ कर उपस्थित हुआ और कहने लगा कि– पूज्य! आप धन्य हैं। आपका जन्म सफल है। आज देवसभा के अन्दर शक्रेन्द्र ने आपकी धार्मिक दृढ़ता की प्रशंसा की कि जीवाजीवादिक नव तत्त्व का ज्ञाता अरणक श्रावक अपने धर्म के विषय में इतना दृढ़ है कि उसको देव दानव भी निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित करने में और समकित से भ्रष्ट करने में समर्थ नहीं हैं। मुझे शक्रेन्द्र के वचनों पर विश्वास नहीं आया। अतः मैं आपकी धार्मिक दृढ़ता की परीक्षा करने के लिए यहाँ आया था।

"देवानुप्रिय! जिस तरह शक्रेन्द्र ने आपकी प्रशंसा की थी वास्तव में आप वैसे ही हैं। मैंने जो आपको कष्ट दिया उसके लिए आपसे क्षमा चाहता हूँ। मेरे अपराध को आप क्षमा करें।" इस प्रकार वह अपने अपराध की क्षमा याचना करके अरणक श्रावक की सेवा में कुण्डलों की जोड़ी रख कर अपने स्थान को चला गया। अपने आप को उपसर्ग रहित समझ कर अरणक श्रावक ने काउसग्ग खोला और सागारी संथारे को पार लिया। इसके बाद वे अरणक आदि सभी नौवणिक् दक्षिण दिशा में स्थित मिथिला नगरी के अन्दर आये। अरणक ने राजा कुम्भ को बहुत सा द्रव्य और एक कुण्डल जोड़ी भेट की। राजा कुम्भ को वह कुण्डल जोड़ी बहुत पसन्द आई और उसी समय मल्लिकुँवरी को बुला कर उसे पहना दी। अरणक आदि व्यापारियों का बहुत आदर सत्कार किया और उनका राज्य महसूल माफ कर दिया।

व्यापारियों ने अपना माल बेचा और वहाँ से नया माल खरीद कर जहाज में भर लिया। समुद्र यात्रा करते हुए वे चम्पा नगरी पहुँचे। वहाँ के राजा चन्द्रछाय के पूछने पर उन व्यापारियों ने मल्लिकुँवरी के रूप लावण्य का वर्णन किया। उसे सुन कर चन्द्रछाय राजा ने अपना दूत कुम्भ राजा के पास भेजा कि मल्लिकुँवरी का विवाह उसके साथ कर दे।

कुणाल देश में श्रावस्ती नगरी थी। वहाँ रूपी नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम धारिणी और पुत्री का नाम सुबाहुकुमारी था। एक समय राजा ने बड़ी धूमधाम से सुबाहु कुमारी का स्नान महोत्सव मनाया। राजा ने अपने मंत्री वर्षधर से पूछा कि इससे पहिले तुमने कहीं ऐसा स्नान महोत्सव देखा है? मन्त्री ने उत्तर दिया- मिथिला के राजा कुम्भ की पुत्री मल्लिकुंवरी का स्नान महोत्सव देखा था। यह उसके लाखवें अंश को भी प्राप्त नहीं होता है।

मन्त्री द्वारा की गई मल्लिकुंवरी के रूप लावण्य की प्रशंसा को सुन कर राजा उसे प्राप्त करने के लिये आतुर होगया। तत्काल एक दूत को बुला कर राजा ने उसे मिथिला भेजा और मल्लिकुंवरी की मांगणी (याचना) की। दूत मिथिला के लिए रवाना होगया।

एक समय मल्लिकुंवरी के कानों के दिव्य कुण्डलों की सन्धि खुल गई। राजा कुम्भ ने शहर के सारे सुनारों को बुलाया और उन टूटे हुए कुण्डलों की सन्धि जोड़ने के लिये कहा। सुनारों ने बहुत प्रयत्न किया किन्तु वे कुण्डलों की सन्धि नहीं जोड़ सके। राजा के पास आकर वे कहने लगे- राजन्! यदि आप आज्ञा दें तो हम नये कुण्डल बना सकते हैं किन्तु इन टूटे हुए कुण्डलों की सन्धि जोड़ने में असमर्थ हैं। सुनारों की बात सुन कर राजा कुपित हो गया। उसने सुनारों को अपने राज्य से निकल जाने की आज्ञा

दे दी। वे सब सुनार मिथिला से निकल कर वाराणसी नगरी में आये। वहाँ के राजा शंख के पास जाकर वाराणसी में रहने की आज्ञा मांगी। राजा ने उनसे देशनिकाला देने का कारण पूछा। सुनारों ने सारा वृत्तान्त कहा और मल्लिकुंवरी के रूप लावण्य की प्रशंसा की। उसे सुन कर मल्लिकुंवरी के साथ विवाह करने की इच्छा से राजा शंख ने एक दूत मिथिला भेजा।

मिथिला के राजा कुम्भ के पुत्र का नाम मल्लदिन्न था। वह युवराज था। एक समय शहर के सब चित्रकारों को बुला कर मल्लदिन्न कुमार ने अपने सभाभवन को चित्रित करने की आज्ञा दी। चित्रकारों ने राजकुमार की आज्ञा स्वीकार कर अपना काम शुरु कर दिया।

उन सब चित्रकारों में एक चित्रकार को ऐसी लब्धि थी कि किसी भी पदार्थ का एक अवयव देख कर सारे का हूबहू चित्र बना सकता था। एक समय महल में बैठी हुई मल्लिकुंवरी के पैर का अंगूठा चित्रकार की नजरों में पड़ गया। उसने लब्धि के प्रभाव से मल्लिकुँवरी का हूबहू चित्र सभाभवन में चित्रित कर दिया। जब सभाभवन पूरा चित्रित होगया तो राजकुमार उसे देखने के लिये आया। विविध प्रकार के चित्रों को देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। आगे बढ़ने पर उसने अपनी बड़ी बहिन मल्लिकुंवरी का चित्र देखा। उसे देख कर वह उस चित्रकार पर कुपित होगया। उसने उस चित्रकार को अपने राज्य से निकल जाने की आज्ञा दी। वह चित्रकार मिथिला से निकल कर हस्तिनापुर में आया। वहाँ के राजा अदीनशत्रु के पास जाकर उसने वहाँ रहने की आज्ञा माँगी। राजा के पूछने पर चित्रकार ने अपना सारा वृत्तान्त कहा और मल्लिकुंवरी का चित्र उसे बताया। चित्र को देख कर राजा उस पर मोहित होगया। मल्लिकुँवरी के साथ विवाह करने की इच्छा से राजा ने अपना एक दूत मिथिला को भेजा।

एक समय चोक्षा नाम की परिव्राजिका मिथिला नगरी में आई। मल्लिकुंवरी के पास आकर शुचि धर्म का उपदेश देने लगी। उसने बतलाया कि हमारे धर्मानुसार अपवित्र वस्तु की शुद्धि जल और मिट्टी द्वारा होती है। मल्लिकुंवरी ने कहा– परिव्राजिके! रुधिर से लिप्त वस्त्र को रुधिर से धोने पर क्या उसकी शुद्धि हो सकती है? परिव्राजिका ने कहा– नहीं। मल्लिकुंवरी ने कहा–इसी प्रकार हिंसा से हिंसा की (पाप स्थानों की) शुद्धि नहीं हो सकती। मल्लिकुंवरी का युक्ति पूर्ण वचन सुन कर चोक्षा परिव्राजिका निरुत्तर हो गई। मल्लिकुँवरी की दासियों ने उसका उपहास किया। इससे क्रोधित होकर चोक्षा परिव्राजिका वहाँ से निकल गई। वह कम्पिलपुर के राजा जितशत्रु के अन्तःपुर में गई। राजा ने उसका आदर सत्कार किया। इसके पश्चात् राजा ने उससे पूछा परिव्राजिके! तुम बहुत जगह घूमती हो। मेरे जैसा अन्तःपुर तुम ने कहीं देखा है? परिव्राजिका ने कहा– राजन्! आप कूपमण्डूक प्रतीत होते हैं। मैंने मिथिला के राजा कुम्भ की पुत्री मल्लिकुंवरी को देखा है। वह देवकन्या के समान सुन्दर है। आपका सारा अन्तःपुर उसके पैर के अंगूठे की शोभा को भी प्राप्त नहीं हो सकता।

मल्लिकुँवरी के रूप लावण्य की प्रशंसा सुन कर राजा जितशत्रु ने अपना एक दूत राजा कुम्भ के पास मिथिला भेजा और मल्लिकुँवरी की मांगणी (याचना) की।

छहों राजाओं के दूत एक साथ मिथिला में पहुँचे और अपने अपने राजा का सन्देश कुम्भ राजा को कह सुनाया। एक कन्या के लिए छः राजाओं की मांगणी देख कर कुम्भ राजा को क्रोध आगया। दूतों का अपमान करके उन्हें अपने नगर से बाहर निकाल दिया। अपमानित होकर दूत वापिस चले गये। उन्होंने जाकर सारा वृत्तान्त अपने अपने राजा से कहा। इससे वे छहों राजा

कुपित हुए और अपनी अपनी सेना सजा कर राजा कुम्भ के ऊपर चढ़ाई कर दी। इस वृत्तान्त को सुन कर राजा कुम्भ घबराया। मल्लिकुँवरी ने अपने पिता को आश्वासन दिया और कहा कि आप घबराइये नहीं। मैं सब को समझा दूँगी। आप सब राजाओं के पास पृथक् पृथक् दूत भेज दीजिए कि शाम को तुम मोहन घरमें चले आओ। मैं तुम्हें मल्लिकुंवरी दूँगा। राजा कुम्भ ने ऐसा ही किया। पृथक् पृथक् द्वार से वे छहों राजा शाम को मोहन घर में आगये। मल्लिकुँवरी ने पहले से मोहन घर में अपने आकार वाली सोने की पुतली बना रखी थी जिसमें ऊपर के छिद्र से प्रतिदिन भोजन का एक एक ग्रास डाला था। उस सुवर्ण की पुतली को देख कर वे छहों राजा उसे साक्षात् मल्लिकुंवरी समझ कर उस पर मोहित होगये। इसी समय मल्लिकुँवरी ने उस पुतली के ढकन को उघाड़ दिया जिससे उसमें डाले हुए अन्न की अत्यन्त दुर्गन्ध बाहर निकली। उस दुर्गन्ध को न सह सकने के कारण वे छहों राजा पराङ्मुख होकर बैठ गये। इस अवसर को उपयुक्त समझ कर मल्लिकुंवरी ने उनको शरीर की अशुचिता बतलाते हुए धर्मोपदेश दिया और अपने पूर्वभव का वृत्तान्त कहा जिसे सुन कर उन छहों राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होगया। छहों राजाओं ने अपने अपने ज्येष्ठ पुत्र का राज्याभिषेक कर भगवान् मल्लिनाथ के साथ प्रव्रज्या अङ्गीकार कर ली। वर्षीदान देने के पश्चात् भगवान् मल्लिनाथ ने पौष शुक्ला एकादशी को प्रातःकाल दीक्षा ली और दूसरे पहर में उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

भगवान् मल्लिनाथ के २८ गण थे और २८ ही गणधर थे। चालीस हजार साधु, पचपन हजार साध्वियाँ, एक लाख चौरासी हजार श्रावक, तीन लाख पैंसठ हजार श्राविकाएं थीं। ६०० चौदह पूर्वधारी साधु, दो हजार अवधिज्ञानी, ३२०० केवलज्ञानी, ३५००

वैक्रियक लब्धिधारी,८०० मनःपर्ययज्ञानी, १४००वादी,२००० अनुत्तर विमानवासी हुए।

भगवान् मल्लिनाथ को केवलज्ञान होने के दो वर्ष बाद उनके शासन में से जीव मोक्ष जाने लगे और उनके निर्वाण के पश्चात् बीस पाट तक जीव मोक्ष में जाते रहे। भगवान् मल्लिनाथ का शरीर उन्नीस धनुष ऊंचा था, शरीर का वर्ण प्रियंगु समान नीला था।

केवलज्ञान होने पर वे धर्मोपदेश करते हुए और अनेक भव्य-प्राणियों का उद्धार करते हुए विचरते रहे। भगवान् मल्लिनाथ सौ वर्ष तक गृहस्थावास (छद्मस्थावस्था) में रहे। सौ वर्ष कम पचपन हजार वर्ष श्रमण पर्याय और केवल पर्याय का पालन कर ग्रीष्म ऋतु में समेदशिखर पर्वत पर पधारे और पादपोपगमन संथारा किया। उनके साथ पाँच सौ साधुओं और पाँच सौ साध्वियों ने भी संथारा किया। चैत्र शुक्ला चौथ के दिन अर्धरात्रि के समय भरणी नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ योग होने पर वेदनीय, आयुष्य नाम,गोत्र इन चार अघाती कर्मों का नाशकर भगवान् मल्लिनाथ मोक्ष पधार गये।

(६) जिनपाल और जिनरक्ष की कथा

नवां 'माकंदी ज्ञात' अध्ययन– काम भोगों में लिप्त रहने वाले पुरुष को दुःख की प्राप्ति होती है और काम भोगों से विरक्त पुरुष को सुख की प्राप्ति होती है। इस विषय की पुष्टि के लिए इस अध्ययन में जिनपाल और जिनरक्ष का दृष्टान्त दिया गया है।

चम्पा नगरी में माकंदी नाम का सार्थवाह रहता था। उसके जिनपाल और जिनरक्ष नाम के दो पुत्र थे। उन दोनों भाइयों ने ग्यारह वक्त लवण समुद्र में यात्रा कर व्यापार द्वारा बहुत सा द्रव्य उपार्जन किया था। माता पिता के मना करने पर भी वे दोनों

लवण समुद्र में बारहवीं वक्त यात्रा करने के लिए रवाना हुए। जब जहाज समुद्र के बीच में पहुँचा तो तूफान से नष्ट हो गया। जहाज का टूटा हुआ एक पाटिया उन दोनों भाइयों के हाथ लग गया। जिस पर बैठ कर तैरते हुए वे दोनों रत्नद्वीप में जा पहुँचे। उस द्वीप की स्वामिनी रयणा देवी ने उन्हें देखा। वह उनसे कहने लगी कि तुम दोनों मेरे साथ कामभोग भोगते हुए यहीं रहो अन्यथा मैं तुम्हें मार दूँगी। इस प्रकार उस देवी के भयप्रद वचनों को सुन कर उन्होंने उसकी बात स्वीकार कर ली और उसके साथ कामभोग भोगते हुए रहने लगे।

एक समय लवण समुद्र के अधिष्ठायक सुस्थित देव ने रयणा देवी को लवण समुद्र की इक्कीस बार परिक्रमा करके तृण, पर्ण, काष्ठ,कचरा,अशुचि आदि को साफ करने की आज्ञा दी। तब उस देवी ने उन दोनों भाइयों को कहा– देवानुप्रियो! मैं वापिस लौट कर आऊँ तब तक तुम यहीं पर आनन्द पूर्वक रहो। यदि इच्छा हो तो पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा के वनखण्ड में जाना किन्तु दक्षिण दिशा के वन खण्ड (बगीचे) में मत जाना। वहाँ पर एक भयंकर विषधारी सर्प रहता है वह तुम्हारा विनाश कर डालेगा। ऐसा कह कर देवी चली गई। वे दोनों भाई पूर्व,पश्चिम और उत्तर दिशा के वनखण्ड में जाने के बाद दक्षिण दिशा के वनखण्ड में भी गये। उसमें अत्यन्त दुर्गन्ध आ रही थी। उसके अन्दर जाकर देखा कि सैकड़ों मनुष्यों की हड्डियों का ढेर लगा हुआ है और एक पुरुष शूली पर लटक रहा है। यह हाल देख कर वे दोनों भाई बहुत घबराये और शूली पर लटकते हुए उस पुरुष से उसका वृत्तान्त पूछा। उसने कहा कि मैं भी तुम्हारी तरह जहाज के टूट जाने से यहाँ आ पहुँचा था। मैं काकन्दी नगरी का रहने वाला घोड़ों का व्यापारी हूँ। पहले यह देवी मेरे साथ काम भोग भोगती रही

एक समय एक छोटे से अपराध के हो जाने पर कुपित होकर इस ने मुझे यह दंड दिया है। न मालूम यह देवी तुम्हें किस समय और किस ढंग से मार देगी। पहले भी कई मनुष्यों को मार कर यह हड्डियों का ढेर कर रखा है।

शूली पर लटकते हुए पुरुष के उपरोक्त वचनों को सुन कर दोनों भाई बहुत भयभीत हुए और वहाँ से भाग निकलने का उपाय पूछने लगे। तब वह पुरुष कहने लगा कि पूर्व दिशा के वन-खण्ड में शैलक नाम का एक यक्ष रहता है। उसकी पूजा करने से प्रसन्न होकर वह तुम्हें इस देवी के फन्दे से छुड़ा देगा। यह सुन कर वे दोनों भाई यक्ष के पास जाकर उसकी स्तुति करने लगे और उस देवी के फन्दे से छुड़ाने की प्रार्थना करने लगे। उन पर प्रसन्न होकर यक्ष कहने लगा कि मैं तुम्हें तुम्हारे इच्छित स्थान पर पहुँचा दूँगा। किन्तु मार्ग में वह देवी आकर अनेक प्रकार के हावभाव करके अनुकूल प्रतिकूल वचन कहती हुई परिषह उपसर्ग देगी। यदि तुम उसके कहने में आकर उसमें आसक्त हो जाओगे तो मैं तुम्हें मार्ग में ही अपनी पीठ पर से फेंक दूँगा। यक्ष की इस शर्त को उन दोनों भाइयों ने स्वीकार किया। यक्ष ने अश्व का रूप बनाया और दोनों भाइयों को अपनी पीठ पर बैठा कर आकाश मार्ग से चला। इतने में वह देवी आ पहुँची। उनको वहाँ न देख कर अवधिज्ञान से शैलक यक्ष की पीठ पर जाते हुए देखा। वह शीघ्र वहाँ आई और अनेक प्रकार से हावभाव पूर्वक अनुकूल प्रतिकूल वचन कहती हुई करुण विलाप करने लगी। जिनपाल ने उसके वचनों पर कोई ध्यान नहीं दिया किन्तु जिनरक्ष उसके वचनों में फंस गया। वह उस पर मोहित होकर प्रेम के साथ रयणा देवी को देखने लगा। जिससे उस यक्ष ने अपनी पीठ पर से फेंक दिया। नीचे गिरते हुए जिनरक्ष को उस देवी ने शूली में पिरो दिया

और बहुत कष्ट देकर उसे प्राण रहित करके समुद्र में डाल दिया। जिनपाल देवी के वचनों में नहीं फंसा इसलिए यक्ष ने उसको आनन्द पूर्वक चम्पा नगरी में पहुँचा दिया। वहाँ पहुँच कर जिनपाल अपने माता पिता से मिला। कई वर्षों तक सांसारिक सुख भोग कर प्रव्रज्या अङ्गीकार की। कई वर्षों तक संयम का पालन कर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ का आयुष्य पूरा कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्ध, बुद्ध यावत् मुक्त होगा।

अन्त में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने मुनियों को सम्बोधित कर फरमाया कि– श्रमणो! जो प्राणी छोड़े हुए काम भोगों की फिर से इच्छा नहीं करते वे जिनपाल की तरह शीघ्र ही संसार रूपी समुद्र को पार कर सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं और जो प्राणी रयणा देवी सरीखी अविरति में फंस कर काम भोगों में आसक्त हो जाते हैं वे जिनरक्ष की तरह संसार रूपी समुद्र में पड़ कर अनन्त काल तक जन्म मरण के दुःखों का अनुभव करते हुए परिभ्रमण करते हैं। ऐसा समझ कर मुमुक्षु आत्माओं को काम भोगों से निवृत्ति करनी चाहिए।

(१०) चन्द्रमा का दृष्टान्त

दसवां 'चन्द्र ज्ञात' अध्ययन– प्रमादी जीवों के गुणों की हानि और अप्रमादी जीवों के गुणों की वृद्धि होती है। यह बताने के लिए गौतम स्वामी द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने चन्द्रमा का दृष्टान्त दिया। यथा–

पूर्णिमा के चन्द्रमा की अपेक्षा कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा का चन्द्रमा हीन होता है। उसकी अपेक्षा द्वितीया का चन्द्रमा और हीन होता है। इस प्रकार क्रमशः हीनता को प्राप्त होता हुआ चन्द्रमा अमावस्या को सब प्रकार से हीन होजाता है अर्थात् अमावस्या का चन्द्रमा

सर्वथा प्रकाश शून्य हो जाता है।

इसी प्रकार जो साधु क्षमा मार्दव आदि तथा ब्रह्मचर्य्य के गुणों में शिथिलता को प्राप्त होता जाता है वह अन्त में ब्रह्मचर्य्य आदि के गुणों से सर्वथा भ्रष्ट होजाता है।

जिस प्रकार अमावस्या के चन्द्रमा की अपेक्षा शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा का चन्द्रमा प्रकाश में कुछ अधिक होता है। प्रतिपदा की अपेक्षा द्वितीया का चन्द्रमा और विशेष प्रकाशमान होता है। इस तरह क्रमशः बढ़ते बढ़ते पूर्णिमा को अखण्ड और पूर्ण प्रकाशमान बन जाता है।

इसी प्रकार जो साधु अप्रमादी बन कर अपने क्षमा आदिक यावत् ब्रह्मचर्य्य के गुणों को बढ़ाता है वह अन्त में जाकर सम्पूर्ण आत्मिक गुणों से युक्त हो जाता है और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

(११) दावद्रव वृक्ष का दृष्टान्त

ग्यारहवां 'दावद्रव ज्ञात' अध्ययन– धर्म सम्बन्धी मार्ग की आराधना करने वाले को सुख की प्राप्ति और विराधना करने वाले को दुःख की प्राप्ति होती है। इसलिए इस अध्ययन में दावद्रव वृक्ष का दृष्टान्त दिया गया है।

समुद्र के किनारे 'दावद्रव' नाम के एक तरह के वृक्ष होते हैं। उनमें से कुछ ऐसे होते हैं जो समुद्र की हवा लगने से मुरझा जाते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो द्वीप की हवा लगने से मुरझा कर सूख जाते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो द्वीप और समुद्र दोनों की हवा से नहीं सूखते और कुछ ऐसे होते हैं जो दोनों की हवा न सह सकने के कारण सूख जाते हैं। इस दृष्टान्त के अनुसार साधुओं की चतुर्भङ्गी बतलाई गई है। यथा–

कुछ साधु ऐसे होते हैं जो साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका

रूप स्वतीर्थिकों के कठोर वचनों को सहन कर लेते हैं परन्तु अन्य तीर्थिकों के वचनों को सहन नहीं करते। ऐसे साधु देशविराधक कहलाते हैं। जो साधु अन्य तीर्थिकों के तथा गृहस्थों के कहे हुए कठोर वचनों को सहन करते हैं किन्तु स्वतीर्थिकों के कठोर वचनों को सहन नहीं करते वे देश आराधक कहलाते हैं। जो साधु स्व-तीर्थिक और अन्य तीर्थिक किसी के भी कठोर वचनों को सहन नहीं करते वे सर्वविराधक कहे जाते हैं। जो साधु स्वतीर्थिक और अन्य तीर्थिक दोनों के कठोर वचनों को समभाव से सहन करते हैं वे सर्व आराधक कहे जाते हैं।

उपरोक्त दृष्टान्त देकर यह बतलाया गया है कि जीवों को आराधक बनना चाहिए, विराधक नहीं। आराधक बनने से ही जीव का कल्याण होता है।

(१२) पुद्गलों के शुभाशुभ परिणाम

बारहवाँ 'उदक ज्ञात' अध्ययन— स्वभाव से मलिन चित्त वाले भी भव्य प्राणी सद्गुरु की सेवा से चारित्र के आराधक बन जाते हैं। पुद्गल किस प्रकार शुभाशुभ रूप में परिवर्तित हो जाते हैं इस बात को बतलाने के लिए इस अध्ययन में जल का दृष्टान्त दिया गया है।

चम्पा नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसके सुबुद्धि नामक मन्त्री था। वह जीवाजीवादि नव तत्त्वों का जानकार श्रावक था। एक समय भोजन करने के पश्चात् राजा ने उस भोजन के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि की बहुत तारीफ की। राज परिवार ने भी राजा के कथन का अनुमोदन किया किन्तु सुबुद्धि मन्त्री उस समय मौन रहा। तब राजा ने उससे इसका कारण पूछा तो मन्त्री ने जवाब दिया कि इसमें तारीफ की क्या बात है? प्रयोग

विशेष से शुभ पुद्गल अशुभ और अशुभ पुद्गल शुभ रूप से परिणत हो सकते हैं। राजा ने मन्त्री के इन वचनों को सत्य नहीं माना।

एक समय सुबुद्धि मन्त्री के साथ राजा बाहर घूमने गया। नगर के बाहर एक खाई के अति दुर्गन्धित जल को देख कर राजा ने उस जल की निन्दा की। दूसरे लोगों ने भी राजा के कथन का समर्थन किया। मन्त्री को मौन देख कर राजा ने इसका कारण पूछा। मन्त्री ने वही पूर्वोक्त जवाब दिया। राजा ने मन्त्री के कथन को सत्य नहीं माना। अपने वचन को सत्य सिद्ध करने के लिए और राजा को तत्त्व का ज्ञान कराने के लिए मन्त्री ने उसी खाई से जल मंगाया और एक अच्छे बर्तन में डाला। फिर अनेक प्रयोग करके उस जल को शुद्ध और अति सुगन्धित बनाया। जलरक्षक के साथ उस जल को राजा के पास भेजा। उस जल को पीकर राजा बहुत खुश हुआ और जलरक्षक से पूछा कि यह जल कहाँ से आया? उसने उत्तर दिया कि सुबुद्धि मन्त्री ने मुझे यह जल दिया है। तब राजा ने मन्त्री से पूछा। मन्त्री ने जवाब दिया कि यह जल उसी खाई का है। प्रयोग करके मैंने इसको इतना श्रेष्ठ और सुगन्धित बनाया है। राजा को मन्त्री के वचनों पर विश्वास आगया। उसने मन्त्री से धर्म का तत्त्व पूछा। मन्त्री ने राजा को धर्म का तत्त्व बड़ी खूबी से समझाया। कुछ समय पश्चात् राजा और मन्त्री दोनों को संसार से विरक्ति हो गई और दोनों ने प्रव्रज्या अङ्गीकार कर ली। ग्यारह अङ्ग का ज्ञान पढ़ा और बहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन कर सिद्ध, बुद्ध यावत मुक्त हुए।

जल के दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि खाई के पानी की तरह पापी जीव भी सद्गुरु की संगति करने से अपना आत्म कल्याण करने में समर्थ हो सकते हैं।

(१३) नन्द मणियार की कथा

तेरहवाँ दर्दुर ज्ञात अध्ययन—सद्गुरु के अभाव से तप, नियम, व्रत, पच्चक्खाण आदि गुणों की हानि होती है। इस बात को बतलाने के लिए दर्दुर (मेंढक) का दृष्टान्त दिया गया है।

एक समय ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर राजगृह नगर में पधारे। उस समय दर्दुर नाम का देव सूर्याभ देव के समान नाट्यविधि दिखला कर और भगवान् को वन्दना नमस्कार करके वापिस अपने स्थान को चला गया। उसकी ऋद्धि के बारे में गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछा। तब भगवान् ने उसका पूर्वभव फरमाया—

राजगृह नगर में नन्द नाम का मणियार रहता था। उपदेश सुन कर वह श्रावक बन गया। श्रावक बनने के बाद बहुत समय तक साधुओं का समागम नहीं होने से तथा मिथ्यात्वियों का परिचय होते रहने से वह मिथ्यात्वी बन गया। एक समय ग्रीष्म ऋतु में तेला करके वह पौषधव्रत कर रहा था। उस समय तृषा का परिषह उत्पन्न हुआ जिससे उसकी यह भावना होगई कि जो लोग कुआ, बावड़ी आदि खुदवाते हैं और जहाँ अनेक प्यासे आदमी पानी पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं वे लोग धन्य हैं। अतः मुझे भी ऐसा ही करना श्रेष्ठ है। प्रातःकाल पारणा करने के बाद राजा की आज्ञा लेकर नगर के बाहर एक विशाल बावड़ी खुदवाई और बाग, बगीचे, चित्रशाला, भोजनशाला, वैद्यकशाला अलङ्कार सभा आदि बनवाई। उनका उपयोग नगर के सब लोग करने लगे और नन्द मणियार की प्रशंसा करने लगे। अपनी प्रशंसा सुन कर वह अत्यन्त प्रसन्न होने लगा। उसका मन दिन रात बावड़ी में रहने लगा। वह उसी में आसक्त होगया। एक समय नन्द मणियार के शरीर में श्वास, खांसी, कोढ़ आदि सोलह

रोग उत्पन्न हुए। चिकित्सा शास्त्र में प्रवीण वैद्यों ने अनेक तरह से चिकित्सा की किन्तु उनमें से एक भी रोग शान्त नहीं हुआ। अन्त में आर्त्तध्यान ध्याते हुए उसने तिर्यञ्च गति का आयुष्य बाँधा तथा मर कर मूर्च्छा के कारण उसी बावड़ी में मेंढक रूप से उत्पन्न हुआ। उस बावड़ी के जल का उपयोग करने वाले लोगों के मुख से नन्द मणियार की प्रशंसा सुन कर उस मेंढ़क को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसने अपने पूर्वभव के कार्य का स्मरण किया। मिथ्यात्व का पश्चात्ताप करके मेंढ़क के भव में भी उसने श्रावक व्रत अङ्गीकार किये और धर्म ध्यान की भावना भाते हुए रहने लगा। एक समय मेरा (भगवान् महावीर स्वामी का) आगमन राजगृह में हुआ, उस समय पानी भरने के लिए बावड़ी पर गई हुई स्त्रियों के मुख से इस बात को सुन कर वह मेंढक मुझे वन्दना करने के लिए बाहर निकला। रास्ते में मुझे वन्दना करने के लिए आते हुए श्रेणिक राजा के घोड़े के पैर नीचे दब कर वह मेंढ़क घायल हो गया। उसी समय रास्ते के एक तरफ जाकर उसने वहीं से मुझे वन्दना नमस्कार कर संलेखना संथारा किया। शुभ ध्यान धरता हुआ वहाँ से मर कर सौधर्म देवलोक में दर्दुरावतंसक विमान में दर्दुर नाम का देव हुआ है। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और प्रव्रज्या अङ्गीकार कर मोक्ष में जायगा।

इस दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि समकित आदि गुणों को प्राप्त कर लेने पर भी यदि प्राणियों को श्रेष्ठ साधुओं की संगति न मिले तो नन्द मणियार की तरह गुणों की हानि हो जाती है। अतः भव्य प्राणियों को साधु समागम का लाभ सदा लेते रहना चाहिए।

(१४) तेतली पुत्र की कथा

चौदहवां 'तेतली ज्ञात' अध्ययन– धर्म की अनुकूल सामग्री मिलने से ही धर्म की प्राप्ति होती है। इस बात को बतलाने के लिए इस अध्ययन में तेतली पुत्र नाम के मन्त्री का दृष्टान्त दिया गया है।

तेतलीपुर नगर में कनकरथ राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पद्मावती था। तेतली पुत्र नाम का मन्त्री था। वह राजनीति में अति निपुण था। उसकी स्त्री का नाम पोट्टिला था। कनकरथ राजा राज्य में अत्यन्त आसक्त एवं गृद्ध होने के कारण अपने उत्पन्न होने वाले सब पुत्रों के अङ्गों को विकृत करके उनको राज्य पद के अयोग्य बना देता था। इस बात से रानी अति दुःखित थी। एक समय उसने अपने मन्त्री से सलाह की और उत्पन्न हुए एक पुत्र को गुप्त रूप से तत्काल मन्त्री के घर पहुँचा दिया। मन्त्री के घर वह आनन्द पूर्वक बढ़ने लगा। उसका नाम कनकध्वज रखा गया। वह कलाओं में निपुण होकर यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ।

तेतली पुत्र मन्त्री अपनी पोट्टिला भार्या के साथ आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करता था किन्तु किसी कारण से कुछ समय के पश्चात् वह पोट्टिला तेतलीपुत्र को अप्रिय और अनिष्टकारी होगई। वह उसका नाम सुनने से भी घृणा करने लगा। यह देख पोट्टिला अति दुःखित होकर आर्त्तध्यान करने लगी। तब तेतलीपुत्र ने उस से कहा कि तू आर्त्तध्यान मत कर। मेरी दानशाला में चली जा। वहाँ श्रमण माहणों को विपुल अशन पान आदि देती हुई आनन्द पूर्वक रह। पोट्टिला वैसा ही करने लगी।

एक समय सुव्रता नाम की आर्या अपनी शिष्य मण्डली सहित वहाँ आई। भिक्षा के लिए आती हुई दो आर्याओं को देख पोट्टिला ने अपने आसन से उठ कर उन्हें वन्दना नमस्कार किया और

आदर पूर्वक आहार पानी बहराया। फिर पोट्टिला उनसे पूछने लगी कि कृपा कर मुझे कोई ऐसी दवा, चूर्णयोग या मन्त्र वगैरह बताओ जिससे मैं फिर तेतलीपुत्र को प्रिय एवं इष्ट बन जाऊँ ? पोट्टिला के इन वचनों को सुन कर उन आर्याओं ने दोनों हाथों से अपने दोनों कान बन्द कर लिए और कहने लगीं कि ऐसी दवा या मन्त्र तन्त्र बताना तो दूर रहा हमें ऐसे वचनों को सुनना भी योग्य नहीं क्योंकि हम तो पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालने वाली आर्याएं हैं। हम तुझे केवली प्ररूपित धर्म कह सकती हैं।

उन आर्याओं के पास से केवली प्ररूपित धर्म को सुन कर पोट्टिला ने श्राविका के व्रत अङ्गीकार किये और धर्मकार्य में प्रवृत्त हुई। कुछ समय पश्चात् पोट्टिला ने सुव्रता आर्या के पास दीक्षा लेने के लिए तेतलीपुत्र से आज्ञा मांगी। तेतलीपुत्र ने कहा– 'चारित्र पालन करके जब तुम स्वर्ग में जाओ तब वहाँ से आकर मुझे केवली प्ररूपित धर्म का उपदेश देकर धर्म मार्ग में प्रवृत्त करो तो मैं तुम्हें आज्ञा दे सकता हूँ।' पोट्टिला ने इस बात को स्वीकार किया और तेतलीपुत्र की आज्ञा लेकर सुव्रता आर्या के पास दीक्षा ले ली। बहुत वर्षों तक दीक्षा पाल कर काल करके देवलोक में उत्पन्न हुई।

इधर राजा कनकरथ की मृत्यु होगई तब गुप्त रखे हुए कनकध्वज कुमार को राजगद्दी पर बिठाया। राजा कनकध्वज अपनी माता पद्मावती रानी के कहने से तेतलीपुत्र मन्त्री का बहुत आदर सत्कार करने लगा तथा वेतन आदि में वृद्धि कर दी। इससे तेतलीपुत्र मन्त्री कामभोगों में अधिक गृद्ध एवं आसक्त होगया। पोट्टिल देव ने तेतलीपुत्र को धर्म का बोध दिया किन्तु उसे धर्म की ओर रुचि न हुई। तब पोट्टिल देव ने देवशक्ति से राजा कनकध्वज का मन फेर दिया जिससे वह तेतलीपुत्र का किसी प्रकार आदर सत्कार नहीं करने लगा और उससे विमुख होगया। तेतलीपुत्र बहुत भय-

भीत हुआ और आत्मघात करने की इच्छा करने लगा। तब पोट्टिल देव ने उसे प्रतिबोध दिया। शुभ अध्यवसाय से तेतलीपुत्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होगया और अपने पूर्वभव में ली हुई दीक्षा आदि के वृत्तान्त को जान कर उसने प्रव्रज्या ग्रहण की। कुछ समय पश्चात् उनको केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होगए। देवों ने दुन्दुभि बजा कर केवलज्ञान महोत्सव किया। कनकध्वज राजा भी वन्दना नमस्कार करने गया। तेतलीपुत्र केवली ने धर्म-कथा कही। धर्मकथा सुन कर राजा कनकध्वज ने श्रावक व्रत अङ्गीकार किये। बहुत वर्षों तक केवली पर्याय का पालन कर तेतलीपुत्र मोक्ष में पधार गये।

(१५) नन्दीफल का दृष्टान्त

पन्द्रहवां 'नंदीफल ज्ञात' अध्ययन–वीतराग देव के उपदेश से विषय का त्याग और सत्य अर्थ की प्राप्ति होती है। उसके बिना हो नहीं सकती। यह बतलाने के लिए इस अध्ययन में नन्दीफल का दृष्टान्त दिया गया है।

चम्पा नगरी में धन्ना सार्थवाह रहता था। एक समय वह अहि-च्छत्रा नाम की नगरी में व्यापार करने के लिए जाने लगा। उस ने शहर में घोषणा करवाई कि जो कोई व्यापार के लिए मेरे साथ चलना चाहें वे चलें जिनके पास वस्त्र, पात्र, भाड़ा आदि नहीं है उनको वे सब चीजें मैं दूंगा और अन्य सारी सुविधायें मैं दूँगा। इस घोषणा को सुन कर बहुत से लोग धन्ना सार्थ-वाह के साथ जाने को तय्यार हुए। कुछ दूर जाने पर एक अटवी पड़ी। धन्ना सार्थवाह सब लोगों को सम्बोधित कर कहने लगा कि इस अटवी में फल फूल और पत्रों से युक्त बहुत से नन्दीवृक्ष हैं। उनके फल देखने में बड़े सुन्दर और मनोहर हैं, खाने में तत्काल

स्वादिष्ट भी लगते हैं किन्तु उनका परिणाम दुःखदायी होता है और अकाल में जीवन से हाथ धोना पड़ता है। इसलिए तुम सब लोग नन्दी वृक्ष के फलों को न खाना और यहाँ तक कि उनकी छाया में भी मत बैठना। दूसरे वृक्षों के फल दीखने में तो सुन्दर नहीं हैं किन्तु उनका परिणाम सुन्दर है। उनका स्वेच्छानुसार उपभोग कर सकते हो। ऐसा कह कर उन सब लोगों के साथ धन्ना सार्थवाह ने उस अटवी में प्रवेश किया। कितनेक लोगों ने धन्ना सार्थवाह के कथनानुसार नन्दी वृक्षों के फलों को नहीं खाया और उनकी छाया से भी दूर रहे। इसलिए तत्काल तो वे सुखी नहीं हुए किन्तु अन्त में बहुत सुखी हुए। कितनेक लोगों ने धन्ना सार्थवाह के वचनों पर विश्वास न करके नन्दी वृक्षों के सुन्दर फलों को खाया और उनकी छाया में बैठ कर आनन्द उठाया। इससे तत्काल तो उन्हें सुख प्राप्त हुआ किन्तु पीछे उनका शरीर भयंकर विष से व्याप्त होगया और अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त हुए। इसी तरह जो पुरुष नन्दी फलों के समान पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग करेंगे उनको मोक्ष सुख की प्राप्ति होगी। जो लोग नन्दी वृक्षों के समान इन्द्रियों के विषयसुख में आसक्त होवेंगे वे अनेक प्रकार के दुःख भोगते हुए संसार में परिभ्रमण करेंगे।

इसके पश्चात् वह धन्ना सार्थवाह अहिच्छत्रा नगरी में गया। अपना माल बेच कर बहुत लाभ उठाया और वहाँ से वापिस माल भर कर चम्पा नगरी में आगया। बहुत वर्षों तक संसार सुख भोगने के पश्चात् धर्मघोष मुनि के पास दीक्षा ग्रहण की। प्रव्रज्या का पालन कर देवलोक में गया और वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष पद प्राप्त करेगा।

(१६) श्रीकृष्ण का अपरकंका गमन

सोलहवां 'अपरकङ्काज्ञात' अध्ययन—विषय सुख कितने दुःख-दायी होते हैं, इसका वर्णन इस अध्ययन में किया गया है। विषय सुख को न भोगते हुए केवल उनकी इच्छा रखने मात्र से अनर्थ की प्राप्ति होती है। इसके लिए अपरकंका के राजा पद्मोत्तर का दृष्टान्त दिया गया है। इसमें द्रौपदी की कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है।

द्रौपदी का जीव पूर्वभव में चम्पा नगरी में नागश्री ब्राह्मणी था। एक बार उसने धर्मरुचि मुनि को मासखमण के पारणे के दिन कड़वे तुम्बे का शाक बहराया। उस शाक को लेकर धर्मरुचि अनगार अपने गुरु धर्मघोष मुनि के पास आये और आहार दिखलाया। उस शाक को चख कर गुरु ने कहा कि यह तो कड़वे तुम्बे का शाक है। एकान्त में जाकर इसको परठ दो। गुरु की आज्ञा लेकर धर्मरुचि एकान्त स्थान में आये। वहाँ आकर जमीन पर एक बूंद डाली। शाक में घृतादि पदार्थ अच्छे डाले हुए थे इसलिए उस की सुगन्ध से बहुत सी कीड़ियाँ उस बूंद पर आईं और उसके जहर से मर गईं। मुनि ने सोचा एक बूँद से इतनी कीड़ियाँ मर गईं तो न जाने इस सारे शाक से कितने जीवों का नाश होगा? इस प्रकार कीड़ियों पर अनुकम्पा करके उस सारे शाक को धर्म-रुचि अनगार स्वयं पी गये। इससे शरीर में प्रबल पीड़ा उत्पन्न हुई। उसी समय मुनि ने संथारा कर लिया। समाधि पूर्वक मरण प्राप्त कर वे सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगे और प्रव्रज्या ग्रहण कर मोक्षपद प्राप्त करेंगे।

धर्मरुचि मुनि को कड़वा तुम्बा बहराने आदि का सारा वृत्तान्त

नागश्री के पति को मालूम हुआ। इससे वह अतिकुपित हुआ। तर्जना और ताड़ना पूर्वक उसने नागश्री को घर से बाहर निकाल दिया,जिससे लोगों में भी उसकी बहुत हीलना और निन्दा हुई। दर दर भटकती हुई नागश्री के शरीर में सोलह रोग उत्पन्न हुए। मर कर छठी नरक में उत्पन्न हुई। वहाँ से निकल कर मत्स्य(मच्छ), सातवीं नरक, मत्स्य, सातवीं नरक,मत्स्य,छठी नरक,उरगादिक के भव बीच में करती हुई पांचवीं नरक से पहली नरक तक,बादर पृथ्वीकाय आदि सब एकेन्द्रियों में लाखों भव करने के पश्चात् चम्पा नगरी में सागरदत्त सार्थवाह के सुकुमालिका नाम की पुत्री रूप से उत्पन्न हुई। यौवन वय को प्राप्त होने पर जिनदत्त सार्थवाह के पुत्र सागर के साथ विवाह किया गया किन्तु उसके शरीर का स्पर्श तलवार जैसा उग्र और अग्नि सरीखा उष्ण लगने के कारण सागर ने तत्काल उसका त्याग कर दिया और अपने घर चला गया। इससे सुकुमालिका अति चिन्तित हुई। तब पिता ने उसको आश्वासन दिया और अपनी दानशाला में उसे दान देने के लिए रख दिया।

एक समय गोपालिका आर्या से धर्मोपदेश सुन कर उसे संसार से विरक्ति हो गई। उसने गोपालिका आर्या के पास प्रव्रज्या अङ्गीकार करली। वह बेला तेला आदि तप करती हुई विचरने लगी। एक समय अपनी गुरुआनी की आज्ञा के बिना ही शहर के बाहर उद्यान में जाकर सूर्य्य की आतापना लेने लगी। वहाँ उसने देवदत्ता गणिका के साथ क्रीड़ा करते हुए पांच पुरुषों को देखा। यह देख कर सुकुमालिका आर्या ने नियाणा कर लिया कि यदि मेरी तपस्या का फल हो तो आगामी भव में मैं भी पांच पुरुषों की वल्लभा (प्रिया) बनूँ। इस प्रकार का नियाणा करके चारित्र (संयम) में भी वह शिथिल होगई। अन्त में अर्धमास की संलेखना संथारा करके ईशान देवलोक में देवी रूप से उत्पन्न हुई। वहाँ से चव

कर कांपिल्य नगर में द्रुपद राजा के यहाँ पुत्री रूप से उत्पन्न हुई। उसका नाम द्रौपदी रखा गया। यौवन वय को प्राप्त होने पर राजा द्रुपद ने द्रौपदी का स्वयंवर करवाया जिसमें द्रौपदी ने युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डवों को वर लिया अर्थात् पति रूप से स्वीकार कर लिया।

एक समय नारद ऋषि पाण्डवों के महल में आये। सब ने खड़े होकर ऋषि का आदर सत्कार किया किन्तु द्रौपदी ने उनका आदर सत्कार नहीं किया। इससे नारदजी को बुरा मालूम हुआ। उन्होंने धातकी खण्ड में अवरकङ्का नगरी के राजा पद्मोत्तर के पास जाकर उसके सामने द्रौपदी के रूप लावण्य की प्रशंसा की। पद्मोत्तर राजा ने देवता की सहायता से द्रौपदी का हरण करवा कर अपने अन्तःपुर में मंगवा लिया। महासती होने के कारण वह उसको वश में नहीं कर सका। कृष्ण वासुदेव के साथ पाँचों पाण्डव अपरकङ्का नगरी में गये और युद्ध में पद्मोत्तर को पराजित करके द्रौपदी को वापिस ले आये। कई वर्षों तक गृहस्थावास में रह कर पाँचों पाण्डवों ने दीक्षा ली और चारित्र पालन कर सिद्धपद को प्राप्त किया। द्रौपदी ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की, अनेक प्रकार की तपस्या करके वह ब्रह्मदेवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुई। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धिपद को प्राप्त करेगी।

इस अध्ययन से यह शिक्षा मिलती है कि नागश्री ने मुनि को कड़वे तुम्बे का शाक बहराया जो महा अनर्थ का कारण हुआ और नारकी, तिर्यञ्च आदि के भवों में उसे अनेक प्रकार के दुःख उठाने पड़े। सुकुमालिका के भव में नियाणा किया जिससे द्रौपदी के भव में उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई। इसलिए साधु साध्वी को किसी प्रकार का नियाणा नहीं करना चाहिये।

(१७) अश्वों का दृष्टान्त

सतरहवाँ 'अश्वज्ञात' अध्ययन– इन्द्रियों को वश में न करने से अनर्थ की प्राप्ति होती है। यह बतलाने के लिए इस अध्ययन में अश्वों का दृष्टान्त दिया गया है।

हस्तिशीर्ष नाम के नगर में कनककेतु नाम का राजा राज्य करता था। उस नगर में बहुत से व्यापारी रहते थे। एक समय जहाज में माल भर कर वे समुद्र में यात्रा कर रहे थे। दिशा की भूल हो जाने से वे कालिक नाम के द्वीप में पहुँच गए। वहाँ सुवर्ण और रत्नों की खानें थीं और उत्तम जाति के अनेक प्रकार के विचित्र घोड़े थे। वे मनुष्यों की गन्ध सहन नहीं कर सकते थे इसलिए उन व्यापारियों को देखते ही वे बहुत दूर भाग गए। सोने और रत्नों से जहाज को भर कर वे व्यापारी वापिस अपने नगर में आगए।

वहाँ के राजा कनककेतु के पूछने पर उन व्यापारियों ने आश्चर्यकारक उन घोड़ों की हकीकत कही। राजा ने उन घोड़ों को अपने यहाँ मंगाने की इच्छा से उन व्यापारियों के साथ अपने नौकरों को भेजा। वे नौकर अपने साथ बहुत से उत्तम उत्तम पदार्थ लेते गए और घोड़ों के रहने के स्थान पर उन सुगन्धित चीजों को बिखेर दिया और स्वयं छिप कर एकान्त में बैठ गए। इसके बाद घूमते फिरते वे घोड़े वहाँ आए। उनमें से कितनेक घोड़े उन सुगन्धित पदार्थों में आसक्त हो गए और कितनेक घोड़े उनमें आसक्त न होते हुए दूर चले गए। जो घोड़े उन सुगन्धित पदार्थों में आसक्त होगए उनको उन नौकरों ने पकड़ लिया और हस्तिशीर्ष नगर में राजा के पास ले आए। राजा ने अश्वशिक्षकों के पास रख कर उन घोड़ों को नाचना कूदना आदि सिखा कर विनीत बनाया।

यह दृष्टान्त देकर साधु साध्वियों को उपदेश दिया गया है कि

जो इन्द्रियों के विषय में आसक्त होकर रस लोलुप बन जायेंगे वे उन आसक्त घोड़ों की तरह दुखी होंगे और पराधीनपने से दुःख भोगेंगे। जो घोड़े उन पदार्थों में आसक्त नहीं हुए वे स्वतन्त्रता पूर्वक जंगल में आनन्द से रहे। इसी प्रकार जो साधु साध्वी इन्द्रियों के विषय में आसक्त नहीं होते वे इस लोक में सुखी होते हैं और अन्त में मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं। इसलिये इन्द्रियों के विषय में आसक्त नहीं होना चाहिए।

(१८) सुंसुमा और चिलातीपुत्र की कथा

अठारहवाँ सुंसुमा ज्ञात अध्ययन– लोभ से अनर्थ की प्राप्ति होती है। इसके लिए इस अध्ययन में सुंसुमा का दृष्टान्त दिया है।

राजगृह नगर में धन्ना नाम का एक सार्थवाह रहता था। उसके भद्रा नाम की भार्या थी जिससे पाँच पुत्र और सुंसुमा नामक एक पुत्री उत्पन्न हुई। चिलात नाम का दासपुत्र उस लड़की को खेलाया करता था। किन्तु साथ खेलने वाले दूसरे बच्चों को वह अनेक प्रकार से दुःख देता था। वे अपने माता पिता से इसकी शिकायत करते थे। इन बातों को जान कर धन्ना सार्थवाह ने उसे अपने घर से निकाल दिया। स्वच्छन्द बन कर वह चिलात सातों व्यसनों में आसक्त होगया। नगरजनों से तिरस्कृत होकर वह सिंह गुफा नाम की चोर पल्ली में चोर सेनापति विजय की शरण में चला गया। उसके पास से सारी चोर विद्याएं सीख लीं और पाप कार्य में अति निपुण होगया। कुछ समय पश्चात् विजय चोर की मृत्यु होगई। उसके स्थान में चिलात को चोर सेनापति नियुक्त किया।

एक समय उस चिलात चोर सेनापति ने अपने पाँच सौ चोरों से कहा कि चलो– राजगृह नगर में चल कर धन्ना सार्थवाह के घर को लूटें। लूट में जो धन आवे वह सब तुम रख लेना और सेठ

की पुत्री सुंसुमा बालिका को मैं रखूँगा। ऐसा विचार कर उन्होंने धन्ना सार्थवाह के घर डाका डाला। बहुत सा धन और सुंसुमा बालिका को लेकर वे चोर भाग गये। अपने पाँच पुत्रों को तथा कोटवाल और राजसेवकों को साथ लेकर धन्ना सार्थवाह ने चोरों का पीछा किया। चोरों से धन लेकर राजसेवक तो वापिस लौट गये किन्तु धन्ना और उसके पाँचों पुत्रों ने सुंसुमा को लेने के लिए चिलात का पीछा किया। उनको पीछे आता देख कर चिलात थक गया और सुंसुमा को लेकर भागने में असमर्थ होगया। इस लिए तलवार से सुंसुमा का सिर काट कर धड़ को वहीं छोड़ दिया और सिर हाथ में लेकर भाग गया। जंगल में दौड़ते दौड़ते उसे बड़े जोर से प्यास लगी। पानी न मिलने से उसकी मृत्यु होगई।

धन्ना सार्थवाह और उसके पाँचों पुत्र चिलात चोर के पीछे दौड़ते दौड़ते थक गए और भूख प्यास से व्याकुल होकर वापिस लौटे। रास्ते में पड़े हुए सुंसुमा के मृत शरीर को देख कर वे अत्यन्त शोक करने लगे। वे सब लोग भूख और प्यास से घबराने लगे तब धन्ना सार्थवाह ने अपने पाँचों पुत्रों से कहा कि मुझे मार डालो और मेरे मांस से भूख को और खून से तृषा को शान्त कर राजगृह नगर में पहुँच जाओ। यह बात उन पुत्रों ने स्वीकार नहीं की। वे कहने लगे– आप हमारे पिता हैं। हम आपको कैसे मार सकते हैं? तब कोई दूसरा उपाय न देख कर पिता ने कहा कि सुंसुमा तो मर चुकी है। अपने को इसके मांस और रुधिर से भूख और प्यास बुझा कर राजगृह नगर में पहुँच जाना चाहिए। इस बात को सब ने स्वीकार किया और वैसा ही करके वे राजगृह नगर में पहुँच गये।❀

❀ इस कथन से यह प्रकट होता है कि धन्ना सार्थवाह जैन नहीं था किन्तु अजैन था। भगवान् महावीर के धर्मोपदेश से जैन साधु बन कर सुगति को प्राप्त हुआ।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर के गुणशील उद्यान में पधारे। धर्मोपदेश सुन कर उसे वैराग्य उत्पन्न होगया। भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की। कई वर्षों तक संयम का पालन कर सौधर्मदेवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्धिपद को प्राप्त करेगा।

जिस प्रकार धन्ना सार्थवाह ने वर्ण गन्ध रस रूप आदि के लिए नहीं किन्तु केवल अपने शरीर निर्वाह के लिए और राजगृह नगरी में पहुँचने के लिए ही सुंसुमा बालिका के मांस और रुधिर का सेवन किया था। इसी प्रकार साधु साध्वियों को भी इस अशुचिरूप औदारिक शरीर की पुष्टि एवं रूप आदि के लिए नहीं किन्तु केवल सिद्धगति को प्राप्त करने के लिए ही आहार आदि करना चाहिए। ऐसे आत्मार्थी साधु साध्वी एवं श्रावक श्राविका इस लोक में भी पूज्य होते हैं और क्रमशः मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

(१९) पुण्डरीक और कुण्डरीक की कथा

उन्नीसवां 'पुण्डरीक ज्ञात' अध्ययन– जो बहुत समय तक संयम का पालन कर पीछे संयम को छोड़ दे और सांसारिक पदार्थों में विशेष आसक्त हो जाय तो उसे अनर्थ की प्राप्ति होती है। यदि उत्कृष्ट भाव से शुद्ध संयम का पालन थोड़े समय तक भी किया जाय तो आत्मा का कल्याण हो सकता है। इस बात को बताने के लिए इस अध्ययन में पुंडरीक और कुंडरीक का दृष्टान्त दिया गया है।

पूर्व महाविदेह के पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिणी नाम की नगरी थी। उसमें महापद्म नाम का राजा राज्य करता था। उसके पुण्डरीक और कुण्डरीक दो पुत्र थे। कुछ समय पश्चात् राजा महापद्म ने अपने ज्येष्ठपुत्र पुण्डरीक को राजगद्दी पर बिठा कर तथा

कुण्डरीक को युवराज बना कर धर्मघोष स्थविर के पास दीक्षा ले ली। बहुत वर्षों तक संयम का पालन कर सिद्धिपद को प्राप्त किया।

एक समय फिर वे ही स्थविर मुनि पुण्डरीकिणी नगरी के नलिनीवन उद्यान में पधारे। धर्मोपदेश सुन कर राजा पुण्डरीक ने तो श्रावक व्रत अङ्गीकार किये और कुण्डरीक ने दीक्षा ग्रहण की। इसके बाद वे जनपद में विहार करने लगे। अन्तप्रान्त आहार करने से उनके शरीर में दाहज्वर की बीमारी उत्पन्न होगई। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए एक समय वे पुण्डरीकिणी नगरी में पधारे। स्थविर मुनि को पूछ कर कुण्डरीक मुनि पुण्डरीक राजा की यानशाला में ठहरे। राजा ने मुनि के योग्य चिकित्सा करवाई जिससे वे थोड़े ही समय में स्वस्थ होगए। उनके साथ वाले मुनि विहार कर गये किन्तु कुण्डरीक मुनि ने विहार नहीं किया और साधु के आचार में भी शिथिलता करने लगे। तब पुण्डरीक राजा ने उन्हें समझाया। पुण्डरीक के समझाने पर कुण्डरीक मुनि विहार कर गये। कुछ समय तक स्थविर मुनि के साथ उग्र विहार करते रहे किन्तु फिर शिथिलाचारी बन कर वे अकेले ही पुण्डरीकिणी नगरी में आगये। कुण्डरीक मुनि को इस प्रकार शिथिलाचारी देख कर पुण्डरीक राजा ने उन्हें बहुत समझाया किन्तु वे समझे नहीं, प्रत्युत राजगद्दी लेकर भोग भोगने की इच्छा करने लगे।

पुण्डरीक राजा ने उनके भावों को जान कर उन्हें राजगद्दी पर स्थापित किया और स्वयमेव पंचमुष्टि लोच करके प्रव्रज्या अङ्गीकार की। 'स्थविर भगवान् को वन्दना करने के पश्चात् मुझे आहार करना योग्य है' ऐसा अभिग्रह करके उन्होंने पुण्डरीकिणी नगरी से विहार कर दिया। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे स्थविर भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए। गुरु के मुख से महाव्रत अंगीकार किये। तत्पश्चात् स्वाध्यादि करके गुरु की आज्ञा लेकर भिक्षा

के लिये गये। भिक्षा में आये हुए अन्तप्रान्त एवं रुक्ष अशनादि का आहार करने से उनके शरीर में दाहज्वर की बीमारी होगई। अर्ध रात्रि के समय शरीर में तीव्र वेदना उत्पन्न हुई। आलोचना एवं प्रतिक्रमण करके संलेखना संथारा किया। शुभ ध्यान पूर्वक मरण प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्धपद को प्राप्त करेंगे।

उधर राजगद्दी पर बैठ कर कुण्डरीक कामभोगों में आसक्त होकर बहुत पुष्टिकारक और कामोत्तेजक पदार्थों का अतिमात्रा में सेवन करने लगा। वह आहार उसे पचा नहीं, जिससे अर्ध रात्रि के समय उसके शरीर में अत्यन्त तीव्र वेदना उत्पन्न हुई। आर्त्त, रौद्र ध्यान ध्याता हुआ कुण्डरीक मर कर सातवीं नरक में गया।

इस दृष्टान्त से शास्त्रकारों ने यह उपदेश दिया कि जो साधु, साध्वी चारित्र ग्रहण करके शुद्ध आचरण करते हैं वे थोड़े समय में ही आत्मा का कल्याण कर जाते हैं जैसा कि पुण्डरीक मुनि स्वल्प काल में ही शुद्ध आचरण द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। जो साधु, साध्वी संयम लेकर पड़िवाई होजाते हैं अर्थात् संयम से पतित होजाते हैं और कामभोगों में आसक्त हो जाते हैं वे कुण्डरीक की तरह दुःख पाते हैं और मर कर दुर्गति में जाते हैं। अतः लिये हुए व्रत, प्रत्याख्यानों का भली प्रकार पालन करना चाहिए।

———:०:———

संख्याकेशवनारदेन्दु गणिते वर्षे शुभे वैक्रमे ॥
मासे श्रावणके शनैश्चरदिने शुक्ले तृतीया तिथौ।
आशीर्भिः व्रतिनां सतां च सुधियां मोक्षैकनिष्ठावताम्।
भागः पञ्चम एष बोलजलधेः यातः समाप्तिं मुदा ॥

॥ इति शुभम् ॥

परिशिष्ट

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह में दिये गए गाथाओं के भावार्थ का मूल पाठ

'श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' के कई बोलों में सूत्र की गाथाओं का भावार्थ दिया गया है। अस्वाध्याय काल में बाँचने से होने वाली सूत्रों की आशातना से बचने के लिए वहाँ मूल गाथाएं नहीं दी गई। यहाँ उन सब गाथाओं को दिया जाता है। पाठकों को चाहिए कि उन्हें अस्वाध्याय के समय को टाल कर पढ़ें। अस्वाध्यायों के ज्ञान के लिए नीचे सवैये दिए जाते हैं।

तारो टूटे, राति दिशा, अकाले मेह गाजे,
बीज कड़के अपार, भूमिकंप भारी है।
बाल चन्द्र, जख चेन, आकाशे अगन काय,
काली धोली धुँध और रजोघात न्यारी है ॥१॥
हाड़, मांस, लोही, राध, ठंडले मसाण बले,
चन्द्र सूर्य ग्रहण और राज मृत्यु टाली है।
थानक में मर्यो पड्यो, पंचेन्द्रिय कलेवर,
ए बीस बोल टाल कर ज्ञानी आज्ञा पाली है ॥२॥
आषाढ़, भादों, आसु, काती और चैती पूनम जाण,
इण थी लगती टालिए पड़वा पाँच बखाण।
पड़वा पाँच बखाण, सांझ सबेर मध्य न भणिये,
आधी रात दोष हर, सब मिल चौंतीस गिणिए।
चौंतीस असझाई टाल के, सूत्र भणसी सोय।
ऋषि लालचन्द इण परि कहे, ताके विघन न व्यापे कोय॥

दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ६ उद्देशा ३

(बोल नं० ८८३)

आयरिअं अग्गिमिवाहिअग्गी, सुस्सूसमाणो पडिजागरिज्जा ।
आलोइअं इंगिअमेव नच्चा, जो छंदमाराहयई स पुज्जो॥ १ ॥
आयारमट्ठा विणयं पउंजे, सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो, गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥ २ ॥
रायणिएसु विणयं पउंजे, डहरावि अ जे परिआयजिट्ठा ।
नीअत्तणे वट्टइ सच्चवाई, ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥ ३ ॥
अन्नायउंछं चरई विसुद्धं, जवणट्ठया समुआणं च निच्चं ।
अलद्धुअं नो परिदेवइज्जा, लद्धुं न विकत्थई स पुज्जो ॥ ४ ॥
संथारसिज्जासणभत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभेऽवि संते ।
जो एवमप्पाणमभितोसइज्जा, संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥ ५ ॥
सक्का सहेउं आसाइ कंटया, अओमया उच्छहया नरेणं ।
अणासए जो उ सहिज्ज कंटए, वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥ ६ ॥
मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया, अओमया तेऽवि तओ सुउद्धरा ।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ७ ॥
समावयंता वयणाभिघाया, कण्णं गया दुम्मणिअं जणंति ।
धम्मुत्ति किच्चा परमग्गसूरे, जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥ ८ ॥
अवण्णवायं च परम्मुहस्स, पच्चक्खओ पडिणीअं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पिअकारिणिं च, भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो ।९।
अलोलुए अक्कुहए अमाई, अपिसुणे आवि अदीणवित्ती ।
नो भावए नोऽवि अ भावियप्पा, अकोउहल्ले अ सया स पुज्जो ॥१०
गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहू गुणमुंचऽसाहू ।
विआणिआ अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥११॥
तहेव डहरं च महल्लगं वा, इत्थीं पुमं पव्वइअं गिहिं वा ।

नो हीलए नोऽवि अ खिंसइज्जा, थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥१२॥
जे माणिआ सययं माणयंति, जत्तेण कन्नं व निवेसयंति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥ १३ ॥
तेसिं गुरूणं गुणसायराणं, सुच्चाण मेहावि सुभासिआई ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो, चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥ १४ ॥
गुरुमिह सययं पडिअरिअ मुणी, जिणमयनिउणे अभिगम कुसले।
धुणिअ रयमलं पुरेकडं, भासुरमउलं गइं वइ ॥ १५ ॥

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २०

(बोल नम्बर ८५४)

इमा हु अन्नावि अणाहया निवा, तामेगचित्तो निहुओ सुणेहि मे ।
नियंठधम्मं लहियाणवी जहा, सीयंति एगे बहुकायरा नरा॥ १ ॥
जे पव्वइत्ताण महव्वयाइं, सम्मं च नो फासयई पमाया ।
अणिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिंदइ बंधणं से ॥ २॥
आउत्तया जस्स य नत्थि कावि, इरियाइ भासाइ तहेसणाए ।
आयाणनिक्खेवदुगुंछणाए, न वीरजायं अणुजाइ मग्गं ॥ ३ ॥
चिरंपि से मुंडरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहिं भट्ठे ।
चिरंपि अप्पाण किलेसइत्ता, न पारए होइ हु संपराए॥ ४ ॥
पुल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयंतिते कूडकहावणे य ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ हु जाणएसु ॥ ५ ॥
कुसीललिंगं इह धारइत्ता, इसिज्झयं जीविय बूहइत्ता ।
असंजए संजय लप्पमाणे, विणिघायमागच्छइ से चिरंपि॥ ६ ॥
विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीअं ।
एसेव धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥ ७॥
जो लक्खणं सुविणं पउंजमाणो, निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी, न गच्छई सरणं तंमि काले ॥ ८ ॥

तमंतमेणेव उ से असीले, सया दुही विप्परियासुवेइ ।
संधावई नरगतिरिक्खजोणी, मोणं विराहित्तु असाहुरूवे ॥६॥
उद्देसियं कीयगडं नियागं, न मुच्चई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गीविवा सव्वभक्खी भवित्ता, इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ॥१०॥
न तं अरी कंठ छित्ता करेई, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥ ११ ॥
निरत्थया नग्गरुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठे विवयासमेइ ।
इमेवि से नत्थि परेवि लोए, दुहओऽवि से झिज्झइ तत्थ लोए॥१२॥
एमेवऽहाछंदकुसीलरूवे, मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं ।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा, निरट्ठसोया परितावमेइ॥ १३ ॥
सुच्चाण मेहावि सुभासियं इमं, अणुसासणं नाणगुणोववेयं ।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं, महानियंठाण वए पहेणं ॥ १४ ॥
चरित्तमायारगुणन्निए तओ, अणुत्तरं संजम पालिया णं ।
निरासवे संखविया ण कम्मं, उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ॥ १५ ॥

दशवैकालिक सूत्र चूलिका २

(बोल नम्बर ८६१)

चूलिअं तु पवक्खामि, सुअं केवलिभासिअं ।
जं सुणित्तु सुपुण्णाणं, धम्मे उप्पज्जए मई ॥ १ ॥
अणुसोअपट्ठिअबहुजणंमि, पडिसोअलद्धलक्खेणं ।
पडिसोअमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेणं ॥ २ ॥
अणुसोअ सुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहिआणं ।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ ३ ॥
तम्हा आयारपरक्कमेणं, संवर समाहिबहुलेणं ।
चरिआ गुणा अ नियमा अ, हुंति साहूण दट्ठव्वा ॥ ४ ॥
अनिएअवासो समुआण चरिआ, अन्नायउंछं पइरिक्कया अ ।

अप्पोवही कलह विवज्जणा अ, विहारचरिआ इसिणं पसत्था॥५ ॥
आइन्नओ माणविवज्जणा अ, ओसन्नदिट्ठाहडभत्तपाणे ।
संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू, तज्जायसंसट्ठ जई जइज्जा ॥ ६ ॥
अमज्जमंसासि अमच्छरीआ, अभिक्खणं निव्विगई गया य ।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी, सज्झायजोगे पयओ हविज्जा ॥७॥
ण पडिन्नविज्जा सयणासणाइं, सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं।
गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं न कहिंपि कुज्जा ॥ ८ ॥
गिहिणो वेआवडियं न कुज्जा, अभिवायण वंदण पूअणं वा ।
असंकिलिट्ठेहिं समं वसिज्जा, मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी॥९॥
ण या लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहिअं वा गुणओ समं वा ।
इक्कोवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो॥ १०॥
संवच्छरं वावि परं पमाणं, बीअं च वासं न तहिं वसिज्जा ।
सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ॥ ११ ॥
जो पुव्वरत्तावरत्तकाले, संपेहए अप्पगमप्पएणं ।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥१२॥
किं मे परो पासइ किं च अप्पा, किं वाऽहं खलिअं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबंध कुज्जा॥१३ ॥
जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥१४॥
जस्सेरिसा जोग जिइंदिअस्स, धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी, सो जीअइ संजमजीविएणं ॥ १५ ॥
अप्पा खलु सययं रक्खिअव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥ १६ ॥

उत्तराध्ययन अध्ययन १५

(बोल नम्बर ८६२)

मोणं चरिस्सामि समिच धम्मं, सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने ।
संथवं जहिज्ज अकामकामे, अन्नायएसी परिव्वए स भिक्खू ॥ १ ॥
राओवरयं चरिज्ज लाढे, विरए वेदवियाऽऽयरक्खिए ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी, जे कम्हिवि न मुच्छिए स भिक्खू ॥ २ ॥
अक्कोसवहं विदित्तु धीरे, मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे, जो कसिणं अहिआसए स भिक्खू ॥ ३ ॥
पंतं सयणासणं भइत्ता, सीउण्हं विविहं च दंसमसगं ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे, जो कसिणं अहिआसए स भिक्खू ॥ ४ ॥
नो सक्कियमिच्छई न पूअं, नोवि य वंदणगं कुओ पसंसं ।
से संजए सुव्वए तवस्सी, सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥ ५ ॥
जेण पुणो जहाइ जीवियं, मोहं वा कसिणं नियच्छई ।
नरनारिं पयहे सया तवस्सी, न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥ ६ ॥
छिन्नं सरं भोमं अंतलिक्खं, सुविणं लक्खणं दंड वत्थुविज्जं ।
अङ्गवियारं सरस्सविजयं, जो विज्जाहिं न जीवई स भिक्खू ॥ ७ ॥
मंतं मूलं विविहं विज्जचिंतं, वमणविरेयणधूमनित्तसिणाणं ।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥ ८ ॥
खत्तियगणउग्गरायपुत्ता, माहणभोई य विविहा य सिप्पिणो ।
नो तेसिं वयइ सिलोगपूअं, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥ ९ ॥
गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा, अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा ।
तेसिं इहलोयफलट्ठयाए, जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥ १० ॥
सयणासणपाणभोयणं, विविहं खाइमसाइमं परेसिं ।
अदए पडिसेहिए नियंठे, जे तत्थ ण पओसई स भिक्खू ॥ ११ ॥

जं किं चाहारपाणगं विविहं, खाइमसाइमं परेसिं लद्धुं ।
जो तं तिविहेण नाणुकंपे, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥१२॥
आयामगं चेव जवोदणं च, सीयं सोवीरजवोदगं च ।
नो हीलए पिंडं नीरसं तु, पंतकुलाणि परिव्वए स भिक्खू ॥१३॥
सद्दा विविहा भवंति लोए, दिव्वा माणुसया तहा तिरिच्छा ।
भीमा भयभेरवा उराला, जो सुच्चा ण विहिज्जई स भिक्खू ॥१४॥
वायं विविहं समिच्च लोए, सहिए खेयाणुगए अ कोविअप्पा ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी, उवसंते अविहेडए स भिक्खू ॥१५॥
असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते, जिइंदिओ सव्वओ विप्पमुक्के ।
अणुकसाई लहु अप्पभक्खी, चिच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ॥१६॥

आचारांग श्रुतस्कंध १ अ० ६ उद्देशा २

(बोल नम्बर ८७४)

चरियासणाइं सिज्जाओ एगइयाओ जाओ बुइयाओ ।
आइक्ख ताइं सयणासणाइं जाइं सेविन्था से महावीरे ॥१॥
आवेसणसभापवासु पणियसालासु एगया वासो ।
अदुवा पलियठाणेसु पलालपुञ्जेसु एगया वासो ॥२॥
आगन्तारे आरामागारे तह य नगरे व एगया वासो ।
सुसाणे सुण्णगारे वा रुक्खमूले व एगया वासो ॥३॥
एएहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरसवासे ।
राइं दिवंपि जयमाणे अपमत्ते समाहिए झाइ ॥४॥
णिद्दंपि नो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए ।
जग्गावइ य अप्पाणं ईसिं साई य अपडिन्ने ॥५॥
संबुज्झमाणे पुणरवि आसिसु भगवं उट्ठाए
निक्खम्म एगया राओ बहिं चंकमिया मुहुत्तागं ॥६॥
सयणेहिं तत्थुवसग्गा भीमा आसी अणेगरूवा य ।

संसप्पगा य जे पाणा अदुवा पक्खिणो उवचरन्ति ॥ ७ ॥
अदु कुचरा उवचरन्ति गामरक्खा य सत्तिहत्था य ।
अदु गामिया उवसग्गा इत्थी एगइया पुरिसा य ॥ ८ ॥
इहलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं ।
अवि सुब्भिदुब्भिगन्धाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं ॥ ६ ॥
अहियासए सया समिए फासाइं विरूवरूवाइं ।
अरइं रइं अभिभूय रीयइ माहणे अबहुवाई ॥ १० ॥
स जणेहिं तत्थ पुच्छिसु एगचरावि एगया राओ ।
अव्वाहिए कसाइत्था पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ॥ ११ ॥
अयमंतरंसि को इत्थ ? अहमंसित्ति भिक्खु आहट्टु ।
अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए कसाइए झाइ ॥ १२ ॥
जंसिप्पेगे पवेयन्ति सिसिरे मारुए पवायन्ते ।
तंसिप्पेगे अणगारा हिमवाए निवायमेसन्ति ॥ १३ ॥
संघाडीओ पविसिस्सामो एहा य समादहमाणा ।
पिहिया व सक्खामो अइदुक्खं हिमगसंफासा ॥ १४ ॥
तंसि भगवं अपडिन्ने अहे विगडे अहियासए ।
दविए निक्खम्म एगया राओ चाएति भगवं समियाए ॥१५॥
एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया ।
बहुसो अपडिण्णेण भगवया एवं रीयन्ति ॥१६ ॥

दशवैकालिक अध्ययन ६ उद्देशा १

(बोल नम्बर ८७७)

थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीअस्स वहाय होइ ॥ १ ॥
जे आवि मंदित्ति गुरुं विइत्ता, डहरे इमे अप्पसुअत्ति नच्चा ।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, करंति आसायण ते गुरूणं ॥ २ ॥

पगईइ मंदावि भवंति एगे, डहरावि अ जे सुअबुद्धोववेआ ।
आयारमंता गुण सुट्ठिअप्पा,जे हीलिआ सिहिरिव भास कुज्जा ॥३॥
जे आवि नागं डहरंति नच्चा, आसायए से अहिआय होइ ।
एवायरियंपि हु हीलयंतो, निअच्छई जाइपहं खु मंदो ॥ ४ ॥
आसीविसो वावि परं सुरुट्ठो, किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा ।
आयरिअपाया पुण अप्पसन्ना,अबोहिआसायण नत्थि मुक्खो ॥५॥
जो पावगं जलिअमवक्कमिज्जा, आसीविसं वावि हु कोवइज्जा ।
जो वा विसं खायइ जीविअट्ठी, एसोवमासायणया गुरूणं ॥ ६ ॥
सिआ हु से पावय नो डहिज्जा, आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिआ विसं हालहलं न मारे, न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ ७॥
जो पव्वयं सिरसा भित्तु मिच्छे, सुत्तं व सीहं पडिबोहइज्जा ।
जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं,एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥ ८ ॥
सिआ हु सीसेण गिरिं पि भिंदे,सिआ हु सीहो कुविओ न भक्खे ।
सिआ न भिंदिज्ज व सत्तिअग्गं,न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥९॥
आयरिअपाया पुण अप्पसन्ना, अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो ।
तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी,गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ॥१०॥
जहाहिअग्गी जलणं नमंसे, नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं ।
एवायरिअं उवचिट्ठइज्जा, अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥ ११ ॥
जस्संतिए धम्मपयाई सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ,कायग्गिरा भो मणसा अ निच्चं ॥१२॥
लज्जा दया संजम बंभचेरं, कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति, तेऽहं गुरू सययं पूअयामि॥ १३॥
जहा निसंते तवणच्चिमाली, पभासइ केवल भारहं तु ।
एवायरिओ सुअसीलबुद्धिए, विरायई सुरमज्झेव इंदो ॥ १४ ॥
जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो, नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के, एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥१५॥

महागरा आयरिआ महेसी, समाहिजोगेसुअसीलबुद्धिए ।
संपाविउ कामे अणुत्तराइं, आराहए तोसइ धम्मकामी ॥ १६ ॥
सुच्चाण मेहावि सुभासिआइं, सुस्सूसए आयरिअप्पमत्तो ।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे, से पावई सिद्धिमणुत्तरं ॥ १७ ॥

आचारांग श्रुतस्कन्ध १ अ० ९ उ० ४

(बोल नम्बर ८७८)

ओमोयरियं चाएइ अपुट्ठेऽवि भगवं रोगेहिं ।
पुट्ठे वा अपुट्ठे वा, नो से साइज्जई तेइच्छं ॥ १ ॥
संसोहणं च वमणं च गायब्भंगणं च सिणाणं च ।
संबाहणं च न से कप्पे दन्तपक्खालणं च परिन्नाए ॥ २ ॥
विरए गामधम्मेहिं रीयइ माहणे अबहुवाई ।
सिसिरंमि एगया भगवं छायाए झाइ आसीय ॥ ३ ॥
आयावइ य गिम्हाणं अच्छइ उक्कुडुए अभितावे ।
अदु जावइत्थ लूहेणं ओयणमंथुकुम्मासेणं ॥ ४ ॥
एयाणि तिन्नि पडिसेवे अट्ठ मासे अ जावयं भगवं ।
अवि इत्थ एगया भगवं अद्धमासं अदुवा मासंपि ॥ ५ ॥
अवि साहिए दुवे मासे छप्पि मासे अदुवा विहरित्था ।
राओवरायं अपडिन्ने अन्नगिलायमेगया भुंजे ॥ ६ ॥
छट्ठेण एगया भुंजे अदुवा अट्ठमेण दसमेणं ।
दुवालसमेण एगया भुंजे पेहमाणो समाहिं अप्पडिन्ने ॥ ७ ॥
णच्चा णं से महावीरे नोऽवि य पावगं सयमकासी ।
अन्नेहिं वा ण कारित्था कीरंतंपि नाणुजाणित्था ॥ ८ ॥
गामं पविस्स णगरं वा घासमेसे कडं परट्ठाए ।
सुविसुद्धमेसिया भगवं आयतजोगयाए सेवित्था ॥ ९ ॥
अदु वायसा दिगिंछत्ता जे अन्ने रसेसिणो सत्ता ।

घासेसणाए चिट्ठन्ति सययं निवइए य पेहाए॥ १० ॥
अदुवा माहणं च समणं वा गामपिण्डोलगं च अतिहिं वा ।
सोवागमूसियारिं वा कुक्कुरं वावि विट्ठियं पुरओ ॥ ११ ॥
वित्तिच्छेयं वज्जन्तो तेसिमप्पत्तियं परिहरन्तो।
मन्दं परिक्कमे भगवं अहिंसमाणो घासमेसित्था ॥ १२ ॥
अवि सूइयं वा सुक्कं वा सीयं पिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु वुक्कसं पुलागं वा लद्धे पिंडे अलद्धे दविए ॥ १३ ॥
अवि झाई से महावीरे आसणत्थे अकुक्कुए झाणं ।
उड्ढं अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिन्ने ॥ १४ ॥
अकसाई विगयगेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई ।
छउमत्थोऽवि परक्कममाणो न पमायं सइंपि कुव्वित्था ॥१५॥
सयमेव अभिसमागम्म आयतजोगमायसोहीए।
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समियासी ॥ १६ ॥
एस विही अणुक्कंतो माहणेण मईमया।
बहुसो अपडिन्नेणं भगवया एवं रीयंति॥ १७ ॥

उत्तराध्ययन अध्ययन ६

(बोल नम्बर ८६७)

जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारंमि अणंतए ॥ १ ॥
समिक्ख पंडिए तम्हा, पास जाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मित्तिं भूएहि कप्पए ॥ २ ॥
माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥ ३ ॥

एयमट्ठं सपेहाए, पासे समिय दंसणे ।
छिंद गेहिं सिणेहं च, ण कंखे पुव्वसंथवं ॥ ४ ॥
गवासं मणिकुंडलं, पसवो दासपोरुसं ।
सव्वमेयं चइत्ता णं, कामरूवी भविस्ससि ॥ ५ ॥
थावरं जंगमं चेव, धणं धण्णं उवक्खरं ।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाउ मोयणे ॥ ६ ॥
अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥ ७ ॥
आयाणं नरयं दिस्स, नायइज्ज तणामवि ।
दोगुंछी अप्पणो पाए, दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं ॥ ८ ॥
इहमेगे उ मन्नंति, अप्पच्चक्खाय पावगं ।
आयरियं विदित्ता णं, सव्वदुक्खा विमुच्चइ ॥ ९ ॥
भणंता अकरिंता य, बंधमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेणं, समासासेंति अप्पगं ॥ १० ॥
न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ।
विसण्णा पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥ ११ ॥
जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥ १२ ॥
आवण्णा दीहमद्धाणं, संसारंमि अणंतए ।
तम्हा सव्वदिसं पस्सं, अप्पमत्तो परिव्वए ॥ १३ ॥
बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि ।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहमुदाहरे ॥ १४ ॥
विविच्च कम्मुणो हेउं, कालकंखी परिव्वए ।
मायं पिण्डस्स पाणस्स, कडं लद्धूण भक्खए ॥ १५ ॥

सन्निहिं च न कुब्विज्जा, लेवमायाय संजए ।
पक्खी पत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए ॥ १६ ॥
एसणासमिओ लज्जू, गामे अनियओ चरे ।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिंडवातं गवेसए ॥ १७ ॥
एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी, अणुत्तरनाणदंसणधरे ।
अरहा णायपुत्ते भयवं वेसालीए वियाहिए ॥ १८ ।

दशवैकालिक प्रथम चूलिका

(बोल नम्बर ८६८)

इह खलु भो ! पव्वइएणं उप्पन्नदुक्खेणं संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव हयरस्सिगयंकुसपोअपडागाभूआइं इमाइं अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहिअव्वाइं भवंति तंजहा– हंभो ! (१) दुस्समाए दुप्पजीवी (२) लहुसगा इत्तरिआ गिहीणं कामभोगा (३) भुज्जो अ साइबहुला मणुस्सा (४) इमे अ मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सई (५) ओमजणपुरक्कारे (६) वंतस्स य पडिआयणं (७) अहरगइवासोवसंपया (८) दुल्लहे खलु भो ! गिहीणं धम्मे गिहवासमज्झे वसंताणं (९) आयंके से वहाय होइ (१०) संकप्पे से वहाय होइ (११) सोवक्केसे गिहवासे निरुवक्केसे परिआए (१२) बंधे गिहवासे मुक्खे परिआए (१३) सावज्जे गिहवासे अणवज्जे परिआए (१४) बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा (१५) पत्तेअं पुण्णपावं (१६) अणिच्चे खलु भो मणुआण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले (१७) बहुं च खलु भो ! पावं कम्मं पगडं (१८) पावाणं च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडि-

कंताणं वेइत्ता मुक्खो, नत्थि अवेइत्ता तवसा वा झोसइत्ता । अट्ठारसमं पयं भवइ । भवइ य इत्थ सिलोगो-

जया य चयई धम्मं, अणज्जो भोगकारणा ।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झइ ॥ १ ॥
जया ओहाविओ होइ, इंदो वा पडिओ छमं ।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ २ ॥
जया अ वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो ।
देवया व चुआ ठाणा, स पच्छा परितप्पइ ॥ ३ ॥
जया अ पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ४ ॥
जया य माणिमो होइ, पच्छा होइ अमाणिमो ।
सिट्ठिव्व कब्बडे छूढो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ५ ॥
जया अ थेरओ होइ, समइक्कंत जुव्वणो ।
मच्छु व्व गलं गिलित्ता, स पच्छा परितप्पइ ॥ ६ ॥
जया अ कुकुडुंबस्स, कुतत्तीहिं विहम्मइ ।
हत्थी व बंधणे बद्धो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ७ ॥
पुत्तदारपरिकिण्णो, मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पइ ॥ ८ ॥
अज्ज अहं गणी हुंतो, भाविअप्पा बहुस्सुओ ।
जइऽहं रमंतो परिआए, सामण्णे जिणदेसिए ॥ ९ ॥
देवलोगसमाणो अ, परिआओ महेसिणं ।
रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो ॥ १० ॥

अमरोवमं जाणिअ सुक्खमुत्तमं, रयाण परिआइ तहाऽरयाणं ।
निरओवमं जाणिअ दुक्खमुत्तमं, रमिज्ज तम्हा परिआइ पंडिए ॥ ११ ॥

धम्मा उ भट्ठं सिरिओ अवेयं, जन्नग्गिविज्झाअमिवऽप्पतेअं ।
हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला, दाढुद्धिअं घोरविसं व नागं ।।१२।।
इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती, दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणम्मि ।
चुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो, संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गई ।१३।
भुंजित्तु भोगाइं पसज्झचेअसा, तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गई च गच्छे अणभिज्झिअं दुहं, बोही अ से नो सुलहा पुणो पुणो।१४
इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो, दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो ।
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं, किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं।१५
न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ, असासया भोगपिवास जंतुणो।
न चे सरीरेण इमेणऽविस्सइ, अविस्सई जीविअपज्जवेण मे।।१६।।
जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ, चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिआ, उविंतवाया व सुदंसणं गिरिं ।।१७।।
इच्चेव संपस्सिअ बुद्धिमं नरो,
आयं उवायं विविहं विआणिआ ।
काएण वाया अदु माणसेणं,
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिज्जासि ।। १८।।